ISSN No. 2277-680X

उशती

UŚATĪ

सप्तदशोऽष्टादशश्चाङ्कः (Vol. XVII-XVIII) 2017-18 वर्षम्

हीरकजयन्तीविशेषाङ्कः

उ॒त त्व॒: पश्य॒न्न द॑दर्श॒ वाच॑मु॒त त्व॑: शृ॒ण्वन्न शृ॑णोत्येनाम् ।
उ॒तो त्वस्मै त॒न्वं१॑ वि स॑स्रे जा॒येव॒ पत्य॑उश॒ती सु॒वासा॑: ॥-ऋ.१०/७१/४

राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्

गङ्गानाथझापरिसरः, प्रयागराजः

2020

ISSN No.: 2277–680X

उशती
UŚATĪ
(THE JOURNAL OF SANSKRIT STUDIES)

सप्तदशोऽष्टादशश्चाङ्कः (Vol. XVII-XVIII) **2017-18 वर्षम्**

हीरकजयन्तीविशेषाङ्कः

उ॒त त्व॒: पश्य॒न्न द॑दर्श॒ वाच॑मु॒त त्व॑: शृ॒ण्वन्न शृ॑णोत्ये॒नाम्।
उ॒तो त्व॑स्मै त॒न्वं॑१ वि स॑स्रे जा॒येव॒ पत्य॑ उश॒ती सु॒वासा॑: ॥

ऋ० १०।७१।४

सम्पादकाः

ललितकुमारत्रिपाठी
अपराजिता मिश्रा
मोनाली दास

राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्
गङ्गानाथझापरिसरः, प्रयागराजः
२०२०

UŚATĪ

Review Committee

Prof. Shail Kumari Mishra (Dept. of Sahitya)
Rashtriya Sanskrit Sansthan, Ganganatha Jha Campus, Prayagraj

Prof. Vishwambhar Nath Giri (Dept. of Sahitya)
Rashtriya Sanskrit Sansthan, Ganganatha Jha Campus, Prayagraj

Prof. Bharat Bhushan Tripathi (Dept. of Vyakarana)
Rashtriya Sanskrit Sansthan, Lucknow Campus, Lucknow

Published by

Principal,
Ganganatha Jha Campus,
Ganganatha Jha Campus,
Chandrasekhar Azad Park,
Prayagraj, U. P. — 211 002

Year 2020

Individual Copy

Indian ₹300
Foreign $70

© publisher

Printed at

Academy Press
Daraganj, Prayagraj - 211 002

सम्पादकीय

केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, गङ्गानाथ झा परिसर की शोधपत्रिका 'उशती' के हीरक जयन्ती विशेषाङ्क (17-18 संयुक्ताङ्क) में 19 शोधपत्र प्रकाशित किए जा रहे हैं। इन शोधपत्रों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है –

"संस्कृतविद्यां प्रति महामहोपाध्यायस्य डॉ. सर गङ्गानाथ झा महाशयस्यावदानम्" इस प्रथम शोधपत्र में गैर्वाणी समुपासक प्रख्यात मनीषी एवं विद्वान सर गंगानाथ झा द्वारा संस्कृत विद्या के क्षेत्र में किए गए अविस्मरणीय योगदान का विवरण दिया गया है। सर गंगानाथ झा द्वारा न्यायभाष्य की विद्योत टीका में प्रतिपादित मौलिक मतों को विस्तृत रूप से इस पत्र में प्रस्तुत किया गया है। गंगानाथ झा की पुस्तक 'पूर्वमीमांसा इन इट्स रिसोर्सेज' में नवीन वेदान्तियों द्वारा पूर्व तथा उत्तर मीमांसा के रूप में मीमांसा शास्त्र को पृथक मानने की अवधारणा को न मानते हुए मीमांसा शास्त्र के ऐक्य को प्रतिपादित किया गया है। भारतीय दर्शन का सांख्य-न्याय तथा मीमांसाकुलों में विभाजन सम्बन्धी मतों पर सर गंगानाथ झा के विचार भी इस पत्र में विस्तृत रूप से चर्चित हुए हैं। इस शोधपत्र में सर गंगानाथ झा के विभिन्न व्याख्यानों, मौलिक ग्रन्थों, आंग्लभाषानुवाद कार्यों तथा शास्त्र सम्बद्ध मौलिक चिन्तनों के द्वारा भारतीय विद्या के क्षेत्र में उनके बहुविध अवदान को रेखांकित किया गया है।

'सनातन कवि आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी - सनातनी काव्यात्मक अभिव्यक्ति' इस शोध पत्र में संस्कृत काव्य एवं काव्यशास्त्र इन दोनों ही क्षेत्रों में नवीन प्रतिमानों के संस्थापक आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी के विगत पाँच दशकों में दिए गए योगदान का विस्तार से उल्लेख किया गया है। आपके द्वारा अनेक विधाओं में विभिन्न उल्लेखनीय रचनाओं के साथ 'अलं ब्रह्म' के द्वारा काव्यशास्त्र के क्षेत्र में अलंकारशास्त्र को ब्रह्मविद्या की कोटि में स्थापित कर नवीन सिद्धान्त का प्रवर्तन किया गया।

'ब्रह्मर्षि आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी का साहित्यशास्त्रीय अवदान' इस शोधपत्र में सनातन कवि के साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में अविस्मरणीय अवदान तथा उनकी मौलिक अव-धारणाओं को स्पष्ट किया गया है। आचार्य द्विवेदी की नवीन स्थापनाएँ उनके काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र एवं साहित्यशास्त्र के प्रतिपादक लक्षणग्रन्थों में प्रकट हुई हैं। सर्वसमन्वयी तथा दार्शनिक पुष्ट पीठिका पर स्थापित नए प्रतिमानों पर इन्होंने ऐसे पक्ष भी प्रस्तुत किए हैं जो विस्मयकारी हैं और जिनसे काव्यशास्त्र दर्शन की समकक्षता को पा सका है।

'वैदेशिकविदुषां संस्कृतविषयकं कर्तृत्वम्' इस शोध में विभिन्न विदेशी विद्वानों द्वारा तथा विदेश स्थित विश्वविद्यालयों तथा शोधकेन्द्रों में 18वीं शती से अब तक प्रवर्तमान संस्कृत अनुसन्धान, अध्ययन-अध्यापन, प्रकाशन आदि कार्यों का विस्तृत एवं क्रमबद्ध विवरण प्रस्तुत किया गया है।

'आचार्य रेवाप्रसादद्विवेदिनोऽभिनवाः सिद्धान्ताः' इस शोध पत्र में काव्यप्रयोजन, काव्यात्मत्व, काव्य की ज्ञानरूपता, काव्य तथा रस का परस्पर आश्रय-आश्रयीभाव सम्-बन्ध, अलंकारों का अवाचकत्व आदि विषयों पर आचार्य द्विवेदी के मौलिक चिन्तन की गहन विवेचना प्रस्तुत की गई है।

'सनातनकविमहामहोपाध्याय आचार्यरेवाप्रसादद्विवेदिकृत सप्तर्षिकाङ्गेसम्' यह शोध लेख सनातन कवि रेवा प्रसाद द्विवेदी के दश अङ्क कलेवर युक्त महानाटक 'सप्तर्षिकांग्रेसम्' पर परिचयात्मक विमर्श प्रस्तुत करता है। भारत में राजनीतिक आपातकाल, सरकार की नीतियों, जनतादल गठन, 1977 का लोकसभा का निर्वाचन आदि घटनाक्रमों को रूपायित करता हुआ यह नाटक कवि की समाज और राष्ट्र में घटित होने वाली प्रत्येक घटना के प्रति संवेदनशीलता को उजागर करता है।

'शूलपाणिदिशा सापिण्ड्यस्वरूपविमर्शः' इस शोधपत्र में बङ्गीय धर्मशास्त्री आचार्य शूलपाणि द्वारा 'सम्बन्धविवेक' ग्रन्थ में मनु याज्ञवल्क्यादि स्मृतिकारों के मतों के आधार पर वर्णित 'सपिण्डस्वरूप' पर विमर्श प्रस्तुत किया है। शूलपाणि ने विवाह सम्बन्ध तथा श्राद्धसम्बन्ध में उपयोगी सगोत्रप्रवरसपिण्डसमानोदकादि के धर्मशास्त्रीय विवेचन विशद रूप से सोदाहरण प्रस्तुत किए हैं। सनातन धर्म में सपिण्ड तथा सगोत्र विवाह के निषेध के प्रमाण देते हुए शूलपाणि के सम्बन्ध विवेक में विशद रूप से वर्णित विषय को अत्यन्त संक्षेप में (सपिण्ड्य स्वरूप का विवेचन) इस शोध लेख में प्रस्तुत किया गया है।

'अभिनवं काव्यशास्त्रम्' इस शोध लेख में संस्कृतकाव्यशास्त्र के क्षेत्र में नव्यकाव्यशास्त्रीय चिन्तन की उपादेयता पर प्रकाश डाला गया है। संस्कृत काव्य में नवविधाओं, नवप्रयोगों तथा काव्य की दृष्टि से परिवर्तन को दृष्टिगत कर उनके मूल्याङ्कन तथा समीक्षण हेतु नूतन काव्यशास्त्र की आवश्यकता है। इस आवश्यकता की पूर्ति करने वाले आधुनिक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों काव्यालङ्कारकारिका, अभिराजयशोभूषम्, अभिनवरसमीमांसा, अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्र तथा अन्य नूतन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में स्थापित नवमान्यताओं तथा नूतन विधाओं के लक्षणों को उपस्थापित किया गया है।

'निपातार्थो द्योत्यः आहोस्वित् वाच्यः ?' इस शोध लेख में 'वैयाकरणभूषणसार' में कौण्डभट्ट द्वारा कृत निपातार्थनिर्णय प्रकरण के पर्यालोचन के आधार पर निपातार्थमीमांसा निरूपित है। भूषणकार द्वारा उपसर्ग तथा निपात के अर्थ का द्योतकत्व स्वीकार किया गया है इस मत को पूर्व तथा उत्तर पक्षों के माध्यम से साधकबाधक युक्तियों द्वारा सुस्पष्ट रूप से इस शोध पत्र में प्रतिपादित किया गया है।

'अपादानविमर्शः' इस शोध पत्र में षड्विध कारकों में अन्यतम आपादन कारक पर वैयाकरणों तथा नैयायिकों के मतों की समालोचना प्रस्तुत की गई है। इसमें काशिका तथा न्यास, के एतद् विषयक मतों के साथ भट्टोजी दीक्षित, कौण्डभट्ट, नागेशभट्ट, भवानन्द, सिद्धान्तवागीश, जगदीशतर्कालङ्कार गदाधर भट्टाचार्य, खण्डदेव आदि वैयाकरणों, मीमांसको तथा नैयायिकों के मत का सूक्ष्म परिशीलन करते हुए उनके अपादान विषयक मत को सुस्पष्ट किया गया है। नैयायिक मतानुसार परसमवेतत्व पञ्चमी से वाच्य है। नागेश तथा खण्डदेव ने अखण्ड अपादानत्व को पञ्चमी का अर्थ माना है। पञ्चमी की अवधि बोधकता, विभागाश्रयबोधकता तथा अपादानार्थकता में किसी का विरोध नहीं है।

'महाभाष्यवाक्यपदीययोर्गुणपदार्थानुशीलनम्' इस शोध पत्र में व्याकरण दर्शन के आधार ग्रन्थ महाभाष्य तथा वाक्यपदीय में निरूपित गुणपदार्थ के स्वरूप का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

'महामहोपाध्याय आचार्यरेवाप्रसादद्विवेदी का अलं ब्रह्मवाद सिद्धान्त' इस शोध पत्र में आचार्य रेवा प्रसाद द्विवेदी की मौलिक काव्यशास्त्रीय उद्भावना अलं ब्रह्मवाद पर विमर्श प्रस्तुत किया गया है। आचार्य द्विवेदी के अनुसार अलं शब्द तथा अलङ्कार शब्द दोनों ब्रह्म के वाचक हो सकते हैं। इसीलिए आचार्य द्विवेदी काव्यशास्त्र को भी ब्रह्मप्रतिपादक शास्त्रों की शृङ्खला में स्थापित करते हैं। अलं ब्रह्म ग्रन्थ में अनेक शास्त्रीय प्रमाणों द्वारा अलं शब्द को ब्रह्मार्थक मानते हुए संस्कृत काव्यशास्त्र को ब्रह्मविद्या माना गया है।

'आचार्यजगन्नाथपाठकस्य कृतीनां सामाजिकं सांस्कृतिकज्ञानुशीलनम्' इस शोध-लेख में 21वी. शती के महत्त्वपूर्ण संस्कृत कवि प. जगन्नाथपाठक की रचनाओं यथा - कापिशायनी, मृद्वीका, पिपासा, विच्छित्तिवातायनी, आर्यासहस्रराम आदि के उद्धरणों के माध्यम से यह सिद्ध किया गया है कि जगन्नाथ पाठक की कविता न केवल सामान्य जनजीवन के चित्रण में सफल हुई है अपितु छन्द की दृष्टि से तथा सांस्कृतिक समन्वय की दृष्टि से भी पिपासा तथा गालिवकाव्यम् जैसी रचनाएँ नूतन प्रतिमान स्थापित करती हैं।

'वाजसनेय प्रातिशाख्य में सन्धि प्रकरण - दीपिका टीका के आलोक में' इस शोधपत्र में वाजसनेयि प्रातिशाख्य की पाँच टीकाओं में एक वैदिक रामग्निहोत्री की दीपिका टीका की विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है। टीकाकार ने सन्धियों से सम्बन्धित मूल प्रातिशाख्य में विभिन्न स्थलों पर भिन्न अध्यायों में आए सूत्रों को क्रिया एवं उपयोग की दृष्टि से 6 अध्यायों में विभक्त कर प्रातिशाख्यगत इस विषय को सरलता से प्रस्तुत किया है।

'विभिन्नशास्त्रानुसारं स्फोटविमर्शः' इस शोधपत्र में स्फोटवाद को लेकर नैयायिकों, मीमांसकों, वेदान्तियों तथा वैयाकरणों के मतों की समीक्षा प्रस्तुत की गई है।

'वाक्यपदीय महाभाष्ययोः सन्दर्भे ध्वनिपदार्थविश्लेषणम्' इस शोधपत्र में ध्वनि के विषय में भाषावैज्ञानिक स्वरूप की विचारणा करते हुए वाक्यपदीय तथा महाभाष्य के आधार पर व्यवहारिक शब्दस्वरूप का निरूपण किया गया है। ध्वनि तथा स्फोट पृथक् हैं या इनमें अभेद है इस विषय में भी अपना मन्तव्य शास्त्रीय आधार पर प्रस्तुत किया गया है।

'अमरुकशतक की नन्दना एवं ज्ञानानन्दी टीकाओं का वैशिष्ट्य' इस शोधलेख में मुक्तक काव्य परम्परा के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अमरुकशतक की दो महत्त्वपूर्ण अप्रकाशित टीकाओं नन्दना तथा ज्ञानानन्दी की विशेषताओं का उल्लेख किया गया है।

'Inter-sentential Tagging : Comparison between Sanskrit Tagging Scheme and Penn Discourse Treebank' इस पेपर में पीडीटीबी और संस्कृत टैगिंग योजना की समीक्षा और तुलना की गई है। दोनों योजनाओं को उदाहरणों, संरचना और sense के साथ विस्तार से प्रस्तुत किया गया है। अंतर्वाक्य (Inter-sentential) स्तर पर संस्कृत ग्रंथों का चिह्नाङ्कन (Annotation) करने के लिए एक अलग टैगिंग योजना की आवश्यकता को दर्शाया गया है।

'भाषा संरचना एवं उसके तत्त्व - व्याकरण दर्शन के आलोक में' इस शोधपत्र में शिक्षा ग्रन्थों में प्राचीन और प्रामाणिक पाणिनीय शिक्षा के अनुसार संस्कृत की ध्वन्यात्मक संरचना का विवेचन करते हुए अन्य शिक्षा ग्रन्थों तथा प्रातिशाख्यों से मतभेदों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है, साथ ही निरुक्त तथा अष्टाध्यायी के आधार पर भाषा की शाब्दी संरचना तथा व्याकरण दर्शन के आधार पर आर्थी संरचना के तत्त्वों पर गंभीर-विमर्श प्रस्तुत किया गया है।

सम्पादक

2020

विषयानुक्रमणी

1. संस्कृतविद्यां प्रति महामहोपाध्यायस्य डॉ. सर गङ्गानाथ झा महाशयस्यावदानम्
किशोरनाथझा 1

2. सनातनकवि आचार्य रेवाप्रसादद्विवेदी सनातनी काव्यात्मक अभिव्यक्ति
सदाशिव द्विवेदी 13

3. ब्रह्मर्षि आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी का साहित्यशास्त्रीय अवदान (परम्परा में मौलिकता का अद्भुत समन्वय)
शोभा मिश्रा 85

4. वैदेशिकविदुषां संस्कृतविषयकं कर्तृत्वम्
हरिदत्तशर्मा 160

5. आचार्यरेवाप्रसादद्विवेदिनोऽभिनवाः सिद्धान्ताः
उमाकान्तचतुर्वेदी 171

6. सनातन कवि महामहोपाध्याय आचार्यरेवाप्रसादद्विवेदिकृत सप्तर्षिकाङ्क्षेसम् – एक विमर्श
प्रभुनाथ द्विवेदी 181

7. शूलपाणिदिशा सापिण्ड्यस्वरूपविमर्शः
रामकृष्णपाण्डेयः परमहंसः 191

8. अभिनवं काव्यशास्त्रम्
रहसबिहारी द्विवेदी 196

9. निपातार्थो द्योत्यः आहोस्वित् वाच्यः ?
प्रमोदकुमारशर्मा 214

10. अपादानविमर्शः
पशुपतिनाथमिश्रः 225

11. महाभाष्यवाक्यपदीययोर्गुणपदार्थानुशीलनम्
प्रमोदकुमारशर्मा 240

12. महामहोपाध्याय आचार्यरेवाप्रसाद का अलं ब्रह्मवाद सिद्धान्त
भगवत्शरण शुक्ल 252

13. आचार्यजगन्नाथपाठकस्य कृतीनां सामाजिकं सांस्कृतिकज्ञानुशीलनम्
शीतलाप्रसादतिवारी 260

14. वाजसनेय प्रातिशाख्य में सन्धि प्रकरण - दीपिका टीका के आलोक में
पङ्कज कुमार शर्मा एवं ललित कुमार त्रिपाठी 288

15. विभिन्नशास्त्रानुसारं स्फोटविमर्शः
पशुपतिनाथमिश्रः 297

16. वाक्यपदीयमहाभाष्ययोः सन्दर्भे ध्वनिपदार्थविश्लेषणम्
प्रमोदकुमारशर्मा 306

17. 'अमरुकशतक' की 'नन्दना' एवं ज्ञानानन्दी टीकाओं का वैशिष्ट्य
रवीन्द्र यादव, रश्मि यादव, ललित कुमार त्रिपाठी
एवं अपराजिता मिश्रा 320

18. Inter-sentential Tagging: Comparison between Sanskrit Tagging Scheme and Penn Discourse Treebank
Monali Das 327

19. भाषा संरचना एवं उसके तत्त्व – व्याकरण दर्शन के आलोक में
गोविन्द शुक्ल एवं ललित कुमार त्रिपाठी 349

20. Contributors 373

संस्कृतविद्यां प्रति महामहोपाध्यायस्य डॉ. सर गङ्गानाथ झा महाशयस्यावदानम्

किशोर नाथ झा

रूपं रूपविवर्जितस्य भवतो ध्यानेन यद्वर्णितम्
स्तुत्याऽनिर्वचनीयताखिलगुरो दूरीकृता यन्मया।
व्यापित्वं च विनाशितं तव विभो! यत्तीर्थयात्रादिना
क्षन्तव्यं जगदीश! मे तदखिलं दोषत्रयं यत्कृतम्॥
विद्यासन्ध्योदयोद्रेकादविद्यारजनीक्षये।
यदुदेति नमस्तस्मै कस्मैचिद् विश्वतस्त्विषे॥

सम्मान्याः अध्यक्षवर्याः! सारस्वताः बान्धवाः! प्रेयांसः शोधप्राज्ञाः! भगिन्यश्च!

महन्मम सौभाग्यं यदद्याहं राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानस्य मानितविश्वविद्यालयस्याङ्गीभूतेऽस्मिन् गङ्गानाथ झा परिसरे प्रयागे संस्कृतविद्यां प्रति महामहोपाध्यायस्य डॉ. सरगङ्गानाथ झा महाशयस्यावदानमधिकृत्य वक्तुमत्रत्याधिकारिभिराहूतोऽस्मि। अत एव कृतज्ञोऽस्म्यहं परिसरस्यास्य प्राचार्यस्य शैक्षिकविभागीयाचार्यवृन्दस्य प्रशासनरतानामधिकरारिणां कर्मचारिणाञ्च। एतैः मयि निर्हेतुकमनुग्रहं पुष्कलञ्च स्नेहं बिभ्रद्भिरयमुपक्रमः प्रकल्पितः। अतः वयोवृद्धोऽहं शुभाशीराशिभिः सर्वानेतान् निरतिशयप्रीतिमतः सभाजयामि। किमत्र कारणं भवितुमर्हति यदेते मामेवाहूतवन्तः पवित्रतममिदं कर्माचरितुमिति चिन्तायामहं कारणमेकं तर्कयामि यदहमपीहैव द्वात्रिंशद्वर्षाणि यावत् नियोगमसाद्य दिष्ट्या सारस्वतानुष्ठाने संलग्न आसम्। मम कल्याणमित्राण्येते शिक्षाविभागीयाचार्यास्तदानीमिह प्रायः शोधप्राज्ञाः आसन् अथवा कनीयसोऽधिकारिणः। सज्जना धीधना एते मम परमाणुस्वरूपमपि गुणं वीक्ष्य, मयि नितरामादरभाजः अभूवन्, सन्ति चेदानीमपि।

मनसि वचसि काये पुण्य पीयूषपूर्णाः
त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः।
परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यम्
निजहृदि विलसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः॥

अस्य पद्यार्थस्य साक्षान्निदर्शनमेते मम सुहृन्मणयो विराजन्ते इत्यहं मन्ये। अस्तु अलं प्ररोचनया। प्रकृतमनुसरामि। डॉ. सरगङ्गानाथ झा महाशयस्य भागिनेयः पौरस्त्यपाश्चात्यसाहित्य-विद्ययोर्निष्णातः मैथिलीभाषाया आचार्यः मातुलममुमधिकृत्य भूतार्थं व्यावहरति यदस्य लोकोत्तरं वैदुष्यं वीक्ष्य तात्कालिकः भारतप्रशासकः महमहोपाध्यायपदवीमस्मै प्रादात् अथ च विश्वस्मिन्नपि विश्वे तद्वैदुष्यख्यातिं

वीक्ष्य 'नाइटहुड' अर्थात् 'सर' विरुदेन (एतान्) व्यभूषयदिति । एकस्यां व्यक्तौ उभयोः पदव्योः समावेशः केवलं डॉ. सरगङ्गानाथ झा महाशय एव विद्यते। अन्यत्र, 'सर' पदवी यत्रास्ति न तत्र महमहोपाध्यायः यथा 'सर' पदव्या युक्तः आशुतोष मुखर्जी आसीत्। नासौ महामहोपाध्यायः । शिवकुमारशास्त्री महमहोपाध्यायः आसीत् नासौ 'सर' पदवीं बिभर्ति। डॉ. सरगङ्गानाथ झा महाशयस्तु महमहोपाध्यायोऽपि विद्यते 'नाइटहुड' पदवीभागपि।

यद्यपि संस्कृतविद्यामधिकृत्य डॉ. सरगङ्गानाथ झा महाशयस्यावदानम् सहस्रपत्रात्मके ग्रन्थेऽपि नावाप्स्यति पूर्णतां तथाप्यत्र दिक् प्रदर्शनप्रयासं यथामति मया विद्यास्यते। केनचिदभिहितम् -

'न कुतूहलिकस्य मनश्चरितं हि महात्मनां श्रोतुम्।' अहमत्र कानिचनाक्षराणि परिवर्त्य वच्मि -

'न कुतूहलिकस्य मनः पाण्डित्यं हि महाविदुषां श्रोतुम्।' यथाचार्यकृतनिवेशनेन वाचस्पतिमिश्रस्यावधूतं वचः रथ्योदकमिव गङ्गाप्रवाहपातेन पवित्रतां भजति तथैव ममात्र भाषणं डॉ. सरगङ्गानाथ झा महाशयस्यवैदुष्यकीर्तनेन पवित्रतां भजेदेवावश्यम्।

न्यायभाष्यस्य विद्योतनाम्नीव्याख्या डॉ. सरगङ्गानाथ झा महाशयेन प्रणीता, तस्य द्वितीयं संस्करणं ओरिएन्टलबुकएजेन्सी पूनातः प्रकाशितम्।अत्र भूमिकायां विषयत्रयमधिकृत्य स्वकीयं मौलिकं चिन्तनं डॉ. सरगङ्गानाथ झा महाशयेन प्रस्तुतमिति मया दृष्टम्। दर्शनं किं, तस्य कतिप्रकाराः इत्येकः विषयः। ईश्वरः उपास्यः न तु दार्शनिकः विषयः इति द्वितीयः। पूर्वोत्तरमीमांसयोः सम्भिन्नता विद्यते न तु पार्थक्यमिति।

अस्य डॉ. सर झामहाशयस्य दृष्ट्या विश्वमण्डलेऽस्मिन् किं तत्त्वं, तच्च तत्त्वं नित्यमनित्यं वा चेतनमचेतनं वा। अस्य तत्त्वस्य केनोत्पत्तिः कथमुत्पत्तिः सञ्जायते। जीवस्य किं कर्त्तव्यं, के पुरुषार्थाः (पुरुषस्य प्रयोजनीयाः) किमेषां स्वरूपं कथं चास्य सिद्धिरित्यादयो विषया यत्र विचार्यन्ते, एतेषां यज्-ज्ञानं तदेव दर्शनम्। एतेषां प्रतिपादकं भवति दर्शनशास्त्रम्। उपर्युक्तानां जिज्ञासानां समाधानं दर्शनशास्त्रेषु दृश्यते। समाधानप्रक्रियायां प्रथमं पदार्थानामुद्देशोऽर्थात् नाम निर्देशो भवति, पुनश्च तत्परिचयार्थं तल्लक्षणं क्रियते पुनश्च लक्षणमिदं निर्दिष्टपदार्थस्य सङ्गतमसङ्गतं वेति विचारः परीक्षणपदवीमारोहति। ततश्च निर्णयः पदार्थोऽयं सर्वथा लक्षणसम्पन्नः। लक्षणप्रमाणाभ्यां हि वस्तुसिद्धिरित्यस्य तात्पर्यमिदमेव। अस्य दर्शनस्यास्तिकनास्तिभेदेन प्रथमतः द्वैविध्यं पुनश्चास्य षड्प्रभेदाः आस्तिकस्य - न्यायः वैशेषिकं साङ्ख्यं योगः पूर्वमीमांसा उत्तरमीमांसाऽर्थात् वेदान्त इति एवं षट्प्रभेदाः नास्ति-

कदर्शनस्य बौद्धदर्शनस्य चत्वारः सम्प्रदायाः, जैनसम्प्रदायश्चार्वाकदर्शनञ्च।

अत्र डॉ. सरगङ्गानाथ झा विचारयति आस्तिकदर्शनस्य षट् प्रभेदा इति प्रवादा एव न तु यथार्थतां भजति। तथा हि विद्यापरिगणनावसरे छान्दोग्योपनिषदि नारदसनत्कुमारयोः संवादे दर्शनद्वयस्य नाम निर्दिष्टमस्ति - वाकोवाक्यं ब्रह्मविद्या चेति। याज्ञवल्क्यस्मृतौ चतुर्दशविद्यास्थानानां निर्देशावसरे केवलं न्यायमीमांसयोरुल्लेखो विद्यते। दशम्यां शताब्द्यां काव्यमीमांसायां राजशेखरः वाङ्मयनिरूपणावसरे पुराणस्य आन्वीक्षिक्याः मीमांसायाः स्मृतेस्तन्त्रस्य चोल्लेखमकरोत्। नवमशताब्दीभवः जयन्तभट्टः न्यायमञ्जर्यां षट्तर्कीपदं प्रयुज्य तत्र मीमांसा न्यायसाङ्ख्यार्हत बौद्धचार्वाकान्निर्दिशति। द्वादशशतकीयः हरिभद्रसूरिः सौगत (बौद्ध) नैयायिकसाङ्ख्यजैनवैशेषिक जैमिनीनां दर्शनानि समुल्लिखति। त्रयोदशशतकीयः जिनदत्तसूरिः जैनमीमांसाबौद्धसाङ्ख्यनास्तिकदर्शनं च निर्दिशति। चतुर्दशशतकीयः प्रसिद्धव्याख्यातुर्मल्लिनाथस्य सुतः पाणिनिजैमिनिव्यासकपिलाक्षपादकणादकृतानि दर्शनानि समुल्लिखति। चतुर्दशशतकीयेनैव राजशेखरसूरिणा जैन-साङ्ख्य-जैमिनि-योगवैशिषकसौगतदर्शनानि परिगणयति। सर्वसिद्धान्तसङ्ग्रहे लोकायतिकार्हत (जैन) बौद्धवैशेषिकनैयायिकप्रभाकरभट्टाचार्य (कुमारिलभट्ट) साङ्ख्यपातञ्जलवेदव्यासवेदान्तदर्शनानां नामानि निर्दिष्टानि सन्ति। केवलं विश्वसारतन्त्रे द्वादशशताब्द्यां षडास्तिकदर्शनानां स्फुटमुल्लेखो विद्यते। न्यायवैशेषिकसाङ्ख्ययोगपूर्वमीमांसावेदान्तदर्शनानि प्रवर्तकाः गौतमः कणादः कपिलः पतञ्जलिः जैमिनिः वादरायणश्च सन्त्युल्लिखिताः। सर्वदर्शनसङ्ग्रहे तु पञ्चदशदर्शनानि सन्त्युल्लिखितानि। यद्यपि समेषां दर्शनानां सूत्रजातस्य रचयितारः सिद्धपुरुषाः महर्षयः सत्यस्यैव वक्तारः धर्मस्य पदार्थजातस्य च प्रत्यक्षद्रष्टारः सन्मार्गस्योपदेशकास्तथाप्येतेषां दर्शनेषु परस्परं विरोधिनः सिद्धान्ता उपलभ्यन्ते। अतः स्वाभाविकी संशीतिरुदेति। यत्कस्य सिद्धान्तस्यानुसरणं विधेयमिति।

अत्रैव समादधाति डॉ. सरगङ्गानाथ झा महाशयः। तत्त्वजिज्ञासायाः पद्धतावेव सर्वेषां दर्शनानां समावेशो विद्यते। एकस्यैवात्मनः (तत्त्वस्य) ज्ञानं सर्वस्यैव दर्शनजातस्य विद्यते इत्यपेक्षितम्। प्रयोजनमप्येकमेव दुःखमयादस्मात् संसारात् मुक्तिरिति। तस्मादेकस्य तत्त्वस्य विचारः करणीयः। एतस्य प्रतिपादकं भारतीयं दर्शनमप्येकमेव भवितुमर्हम्। अनेकानि दर्शनानि त्वधिकारिभेदेन सम्पद्यन्ते मूलस्यैकस्यैव दर्शनस्य सोपानानि एतानि भवन्ति। पुनश्च डॉ. सरगङ्गानाथ झा महाशयः स्वकीयं स्वारस्यं तु न्यायमीमांसादर्शनयोः प्रदर्शयति। अस्याभिप्रायो यथा समस्तोऽपि ज्ञानराशिः वेद एव निहितोऽस्ति, अत एव वेदोऽयं 'विद् ज्ञाने' धातोः निष्पन्नः। वेदवाक्यानामर्थज्ञानं मीमांसाशास्त्रे निर्दिष्टपद्धत्यैव भवितुमर्हति

नान्यथा वेदवाक्यार्थज्ञानं भवितुमर्हतीति महन्महत्त्वं मीमांसाशास्त्रस्य। न केवलमुपदेशं श्रुत्वा कोऽपि कस्मिँश्चिदपि प्रवर्तते इति मानवस्वभावः। तर्केण (उहापोहेन) मानवमनः समुपदिष्टं विषयं परीक्ष्य सन्तुष्टः सन् तत्र प्रवर्तते। अतस्तर्कशास्त्रस्य (न्यायदर्शनस्य) महानुपयोगो भवति जीवने। तस्मात् न्यायः मीमांसा चाकामेनापि स्वीकरणीयतां गच्छति। मन्ये याज्ञवल्क्यः अस्मादेवाभिप्रयात् सत्स्वपि अनेकेषु दर्शनेषु न्यायमीमांसयोरूल्लेखमकरोत् चतुर्दशविद्यास्थान परिगणनावसरे यथा -

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥

अमुं विषयं मिथिलेश-महेशरमेशव्याख्यानमालायां पूर्वमीमांसा इन इट्स सोर्सेस इति ग्रन्थारम्भे चायं प्रत्यपादयदिति चिन्तनेऽस्मिन् विश्वासाधिक्यं लेखकस्य प्रतीयते। उपर्युक्तव्याख्यानमालायामयं स्फुटमभिलपति - 'तत्र याज्ञवल्क्योक्त्यनुसारेण द्विधैव विभागः समुचितः प्रतिभाति मीमांसान्यायश्च। अनयोरेवेतरेषां समावेशः' इति। किञ्च डॉ. सरगङ्गानाथ झा महाशयः पुनरपि कथयति एकमेव भारतीयदर्शनं कुलत्रये विभक्तं - साङ्ख्यकुलं, न्यायकुलं, मीमांसाकुलमिति। सांख्यकुले सांख्ययोगदर्शनयोः समावेशः। साङ्ख्यदर्शनस्य विषयतया मान्ये विद्यते प्रमाणं सृष्टिप्रक्रिया च। तत्त्वज्ञानस्य सम्पादनं तत् साधनस्य निरूपणे च प्रमुखतया योगदर्शनस्य विषयः। प्राचीनकाले साङ्ख्यनाम्नैव साङ्ख्ययोगदर्शनयोः परिग्रह आसीत् उभयोर्दर्शनयोः भाष्यं साङ्ख्यप्रवचनभाष्य नाम्नैव व्यवहृतं विद्यते। गीतायां भगवान् कृष्णोऽप्यभिलपति 'एकं साङ्ख्यञ्च योगं च यः पश्यति स पश्यति'। कश्चित्तु सेश्वरसाङ्ख्यतया योगे निरीश्वरसाङ्ख्यतया च साङ्ख्यं कथयति किञ्चात्र किमपि नोपलभ्यते प्रमाणम्। पदार्थानां स्वभावविचारावसरे प्रकारद्वयं तेषां (पदार्थानाम्) स्वीकृतमिह - आध्यात्मिकमर्थात् इन्द्रियाणामगोचरम् आधिभौतिकमिन्द्रियाणां गोचरम्। प्रधानमाध्यात्मिकं गौणं चाधिभौतिकं पदार्थजातम्। आध्यात्मिकपदार्थः पुरुषश्चेतनो भवति। आधिभौतिकपदार्थः प्रकृतिः जडा भवति। इयमेव सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिः (प्रकृतिपुरुषयोर्भेदज्ञानम्) मुक्तिसाधनं भवति। साक्षात् परम्परया वा सृष्टिकर्तृत्वं तन्नियामित्वं वा पुरुषस्यैव विद्यते। यो हि यत् कार्यं कारयत्यसौ तं करोत्यपि। पुरुषस्य केवलेन सान्निध्येन प्रकृतिः संसारस्य सृष्टौ प्रवर्तते। पुरुषस्य कृते प्रकृतेः प्रवृत्तिरेव पुरुषस्य बन्धनकारणम्। उभयोर्भेदज्ञानेन पुरुषः मोक्षं लभते संसारात्। आत्मानमुपरि वसति परमात्मा। साङ्ख्यदर्शनं कथमपि न भवति ईश्वरविरोधी। यत् ईश्वरसिद्धेरिति साङ्ख्यसूत्रमभिदधाति तदभिप्रायः प्रत्यक्षानुमानाविषयः ईश्वरः यतो हीश्वरः वाङ्मनसोः गोचरो न भवति। किञ्च सृष्टिप्रक्रियायामीश्वरः नापेक्ष्यते साङ्ख्यशास्त्रे। तस्मान्नैतत् साङ्ख्यकुलमीश्वरविरोधीत्यवगन्तव्यम्।

भारतीयदर्शनस्य द्वितीयं कुलं विद्यते न्यायदर्शनम्। अस्मिन् कुले न्यायवैशेषिकयोः समावेशः। आपाततः बौद्धजैनदर्शनानामपि समावेशो तत्रैव भवति। यतो हि न्यायदर्शनस्य चिन्तनप्रक्रिया पदार्थानामुद्देशलक्षणपरीक्षणैः प्रचलति। शास्त्रान्तरावबोधायाप्युपकरोति न्यायप्रक्रियेयम्। न्यायवैशेषिकयोः पदार्थाः परस्परं तथा सम्बद्धास्सन्ति यथा वैशेषिकपदार्थाः सिद्धवत् मान्याः सन्ति न्यायदर्शने। न्यायभाष्यकृता वात्स्यायनेन 1.1.4 सूत्रे स्फुटमभिलषितमप्रतिषिद्धं परमतमनुमतं भवतीति। न्यायकुलेऽस्मिन् तत्त्वज्ञानस्य परिवर्धनपरिरक्षणोपायः न्यायदर्शनस्य चतुर्थाध्याये द्वितीयाह्निके वैशद्येनोपपादितम्। समाधिविशेषस्याभ्यासेन तत्वज्ञानं परिवर्धते। वाचस्पतिमिश्रोऽत्र तात्पर्यटीकायामभिलपति समाधिनोत्पद्यते तत्त्वज्ञानं तच्च दीर्घकालं यावत् निरन्तरमादरेण परिपाल्यमानं सत् सन्तिष्ठते। एतदर्थञ्च यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारः कर्तव्यतां याति। तत्त्वज्ञानस्य नैरन्तर्येणाभ्यासोऽथ च तत्त्वज्ञानं सम्पन्नैस्सह सम्वादस्तस्यापेक्ष्यते। तस्मात्तत्त्वज्ञानं परिपाकमेति ज्ञानग्रहणाभ्यासस्तद्विद्यैश्च सह सम्वादः। 4.2.47 तं शिष्यगुरू सब्रह्मचारिविशिष्टश्रेयोर्थिभिरभ्युपेयात् 4.2.48 इति न्यायसूत्राभ्यामेतदेव सूत्रकृदभिप्रैति।

तृतीयं कुलं मीमांसा विद्यते भारतीयदर्शनस्य। महर्षिजैमिनिप्रणीतं सूत्रजातं पूर्वमीमांसानाम्नाऽथ च महर्षिवादरायणप्रणीतं सूत्रजातमुत्तरमीमांसानाम्ना प्रसिद्ध्यतः। प्राचीने काले मीमांसानामोभयोर्दर्शनयोर्व्यवहार आसीत्। यद्यपि पूर्वमीमांसायां दार्शनिकविषयाणामभावमेव प्रायेणावलोकयामः। केवलं प्रमाणनिरूपणं दर्शनदृष्ट्याऽत्र पश्यामः।तदपिवेदस्य धर्मे प्रामाण्यं दृढतया प्रदर्शनाय। आत्मापूर्वादिपदार्थानां वेदबोधितकर्मणां साधनाङ्गतयैवात्र समावेशः। पूर्वमीमांसायाः मुख्यं प्रयोजनमस्ति वेदवाक्यानामर्थावधारणं तात्पर्यावबोधनम्। अस्याः प्रक्रिया न केवलं वैदिकवाक्यानां वेदान्तवाक्यानामेवापितु शास्त्रान्तराणामपि तात्पर्यबोधे उपयुज्यते।वेदान्तपदमुपनिषद्बोधकम्।औपनिषदिकवाक्यानां तात्पर्यबोधः बादरायणसूत्रैरेव जायते। तथा पूर्वमीमांसायां निर्दिष्टायाः प्रक्रियायाः उपयोगेन विना सर्वथा अशक्या एव औपनिषदिकवाक्यानां तात्पर्यबोधः। शङ्करभगवत्पादस्तु पूर्वमीमांसायाः प्रक्रियायाः अधिकरणप्रणाल्याः बहुत्र विदधात्युपयोगम्। अस्या अधिकरणप्रणाल्याः परिचयेन विना वेदान्तविचारः दुरूह एवाविद्यत। तस्मादेकस्या एव मीमांसाया अङ्गतां भजतः पूर्वोत्तरमीमांसे। डॉ. सरगङ्गानाथ झा महाशयस्य समये नवीनाः वेदान्तिनः पूर्वोत्तरमीमांसयोः परस्परं पार्थक्यं मन्यमाना आसन्। अतः डॉ. सरगङ्गानाथ झा महाशयः उभयोरङ्गतां प्रतिपाद्य मीमांसाशास्त्रस्यैक्यं प्रतिपादयति। अत्र युक्तिप्रदर्शनाधिक्यं स्वकीये मिथिलेशमहेशरमेशव्याख्यानमालायाः स्वकीये दर्शननामानि प्रथमे व्याख्याने प्रदर्शितं द्रष्टव्यम्। तस्मात् नवीनवेदान्तिभिः कर्मकाण्डज्ञानकाण्डयोः प्रतिपादके पूर्वोत्तरमीमांसे भिन्ने इति यदुक्तं तन्नि-

र्मूलं निष्प्रमाणञ्चेत्यवधार्यम्।

उक्तव्याख्यानमालायाः द्वितीयोऽस्ति विषय ईश्वरः दार्शनिकचिन्तन-विषयतया केनापि दर्शनसूत्रकारैर्न स्वीकृतः उपास्योऽयं भवितुमर्हति। यद्यप्युदय-नाचार्येण न्यायकुसुमाञ्जलौ महताऽडम्बरेणेश्वरः प्रसाधितः। तस्मात् पूर्वमुद्योतकरः न्यायवार्तिककारः जगतः निमित्तकारणतया अदृष्टस्याधिष्ठातृतया वेदकर्तृतया चेश्वरं युक्तिप्रमाणाभ्यां प्रसाधयति। किन्तु सूत्रकृन्महर्षिगौतमः चतुर्थाध्यायप्रथमाह्निके प्रावादुकानां खण्डनीयमतानां सङ्कलनावसरे त्रिभिः सूत्रैः ईश्वरमुल्लिखति। तत्रापि भाष्यवार्तिकतात्पर्यटीकाकाराणां व्याख्याने परस्परं वैमत्यमवलोक्यते। (केनाऽपि दर्शनसूत्रकृता जगत्कर्तृतयाङ्गीकृत ईश्वरः।) न्यायभाष्यकारः ईश्वरं द्रष्टारं बोद्धारं सर्वज्ञं तु मनुते जगतः कर्तारं स्रष्टारं वा नाङ्गीकरोति। वैशेषिकदर्शनं साङ्ख्यं पूर्वोत्तरमीमांसे न विचारविषयतया परिगृह्णन्तीश्वरम्। न्यायस्य स्थितिः प्रागुक्तमेव। योगदर्शनम् प्रणिधानप्रसङ्गे विकल्पतयेश्वरमभिदधाति। ईश्वरप्रणिधानाद्वेति योगसूत्रम्। क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः इतीश्वरस्वरूपमुक्तं तत्र।

अहं तु मन्ये बौद्धदार्शनिका यदेश्वरस्य खण्डनाय प्रवृत्तास्तदा न्यायाचार्य-वृन्दम् उद्योतकरस्तत्समसामयिका अधुनालुप्तपरिचयाः अविवित्तविश्वरूपाध्य-यननरसिंहशङ्करत्रिलोचन भासर्वज्ञप्रभृतयः ईश्वरं प्रसाधयितुं बद्धपरिकरा अभूवन्। तस्मादिह भारतीयदर्शनमेकं तच्च साङ्ख्यन्यायमीमांसाकुलेषु विभक्तं तत्रापि पूर्व-मीमांसान्यायदर्शनयोर्महत्वमधिकम्। रुचिभेदादधिकारिभेदाद् भारतीयदर्शनस्यै-कस्य सोपानानीवान्यान्यनेकानि दर्शनानि। पूर्वमीमांसोत्तरमीमांसे न भिन्ने स्तः। नवीनवेदान्तविद्भिर्यदुक्तमुभयोःपरस्परं पार्थक्यं तत् सर्वथा असारं निर्मूलञ्च। ईश्वरः जगत्कर्तृतया दर्शनसूत्रकारैः कैरपि न स्वीकृतः। उपास्यत्वं तस्य सर्वथा प्रसि-द्ध्यति। विद्वद्वरेभ्यः डॉ. बाबूरामसक्सेनामहाभागाय डॉ. सरगङ्गानाथझामहाशयस्य साक्षात् शिष्यः महाशयमधिकृत्य भाषमाणोऽकथयत् कश्चिदपृच्छत् डॉ. सरझाम-हाशयं, किं भवतां प्रत्यक्षं कदाप्यभवत् ईश्वरः इति। तैरूक्तं नाहमपश्यामीश्वरं किन्तु यैराचरणैः पूर्वजा अस्माकं कल्याणमवाप्नुवन् तान्याचरणानि सविश्वासमहमपि समनुतिष्ठामि आत्मकल्याणायेति।

मिथिलेशमहेशरमेशव्याख्यानमालायाः द्वितीयं व्याख्यानं 'संस्कृतशिक्षावि-धानम'धिकृत्य विद्यते। अत्र संस्कृतपाठशालायां कया पद्धत्या संस्कृतविद्या पाठ-नीया, यया शास्त्रस्य गभीरं ज्ञानं भवेत्। तात्कालिकशासकैरत्र किमायोजितमस्य विवरणं विद्यते परीक्षा प्रणाल्या विद्यार्थिवृन्दस्य कीदृशी हानिर्भवति शास्त्रेषु तेषां पल्लवग्राहिता जायते इत्यस्य विशदं विस्तृतं विश्लेषणमत्र विद्यते। शास्त्रे यस्मिन्

यः अधीती तेन तत्राभिज्ञताऽर्जनीयेति निवेदनं विधीयते। यदैते वाराणस्यां क्वीन्स-कौलेजनाम्न्याः प्रसिद्धसंस्थायाः आचार्याः आसन् तदानीमेभिः त्रिंशद्रूप्यकाणि वृत्तिं वर्षद्वयं वर्षत्रयं वा प्रदाय सप्रतिभस्य गुरुभिरनुसंशितस्येच्छुकस्य छात्रस्य पोस्टा-चार्यकक्षायां नामाङ्कनं कृतवन्त आसन्। गुरुर्यदानुशंसति अर्जिताभिज्ञतानेन तदा विना लेखपरीक्षां पोस्टाचार्यपदवी तस्मै प्रादीयत। संस्कृतविद्याध्ययनेन जीविको-पार्जनं तदानीं नैव सम्भवदासीदिति विद्यासंरक्षणार्थमेवैते प्रोत्साहयन्ति छात्रान्। किन्तु स्वतन्त्रताप्राप्त्यनन्तरं भारते संस्कृतविदुषां जीविका सौलभ्येन लभ्यते। सुयोग्याः संस्कृतविद्वांसः महनीयं पदं प्राप्य साधु जीविकोपार्जनं विदधतीति सन्तोषस्य प्रमोदस्य च विषयः।

इदमत्रावधेयम् - शिक्षाविधानमधिकृत्य प्राचीनशिक्षाविषयकं यदि स्वाभि-मतमिह प्रदर्शितवन्तः डॉ. सर झामहाभागाः। तर्हि हरिनन्दनस्मारकट्रस्टराघोपुर, दरभंगातः आयोज्यमानायां भाषणमालायां अस्योत्तरसाधकौ पुत्रौ स्वनामधन्यः अमरनाथझामहानुभावः मध्यकालिकशिक्षापद्धतिमधिकृत्य अथ च कुशलप्रशासकः आदित्यनाथझामहाशयश्चाधुनिकशिक्षापद्धतिमधिकृत्य स्वविचारं प्रकटयामासतुः। निबन्धरत्नमालिकायां डॉ. आद्याझापद्मश्रीभिः सम्पादितायां राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थान-नवदेहलीतः प्रकाशितायां द्वौ डॉ. सर झामहाशयस्य एकैकः तस्योर्ध्वनिर्दिष्टयोश्च पुत्रयोर्लेखाः विद्यमानाः सन्ति। तत्र दण्डीबाणसुबन्धूनधिकृत्य डॉ. भोलानाथव्या-सस्यालेखाः दुराग्रहात् प्रमादादज्ञानाच्च डॉ. आदित्यनाथझानाम्ना प्रकाशिताः अभूवन्निति महतः खेदस्य विषयः।

प्राचीनशिक्षाविधाननाम्नि व्याख्याने एकं महत्त्वपूर्णं विषयं डॉ. सर झामहा-शयाः प्रतिपादयन्ति। असावत्र संलपति शतवर्षं प्राक् दायविषयकविवादमधिकृत्य विधिशिक्षायां संस्कृते लिखितस्य मूलग्रन्थस्यावबोधयोग्यता अवश्यमपेक्ष्यते इति आसीत् मान्यता। इदानीमस्या योग्यताया अपेक्षा नास्ति पाठ्ये संस्कृतग्रन्थबोधः नावश्यकोऽस्ति संस्कृतग्रन्थज्ञानविरहे सति कीदृशोऽसङ्गतो भवति निर्णयः इति दर्शनीयं विचारणीयं च। दत्तकधर्मपुत्रमधिकृत्य गौतमधर्मसूत्रं कथयति - "नैकं पुत्रं दद्यात् प्रतिगृह्णीयाद्वा स हि सन्तानाय पूर्वेषाम्। यतो हि एकः पुत्रः निजकुल-परम्परायाः संरक्षणाय भवति। अत एव कोऽपि दत्तकरूपेण तं परिगृहीतुं नार्हति न च पित्रादिभिर्देयोऽप्यसौ भवति।"। किन्तु बम्बईनगरे केनापि कस्याप्येकः पुत्रः दत्तकरूपेण परिगृहीतः तदा उच्चन्यायालये निर्णयाय विवाद उपस्थापितोऽभूत्। एकः सुप्रतिष्ठितोऽधिवक्ता एकमपि कस्यापि पुत्रं दत्तकरूपेण परिगृहीतुं शक्यमिति समर्थयत्। मीमांसायाः हेतुवन्निगदाधिकरणरूपमर्थवादमुपायोजयदत्र। गौतमधर्म-सूत्रवाक्यमर्थवादतया स्वीकृत्य तस्य विधित्वं निराकरोत्। अत्रार्थवादः कियान-

सङ्गतः इति मीमांसकेषु नाविदितः। परमनुचितमसत्यमेतत्। अस्य परिणतिरभूत् न केवलं भारतेऽपितु विदेशस्य प्रीवीकौन्सिलमध्येऽपि मीमांसान्यायममुं स्वीकृत्य निर्णीतं यदेकोऽपि कस्यापि पुत्रः दत्तकरूपेण परिग्रहीतुं शक्य इति।

डॉ. सर झा 'सादा जीवन उच्च विचार' इत्यस्य निदर्शनमासीत्। अत एव बहिर्गृहे एव उपविष्टः केनापि सुलभेन मिलित्वा वार्तां कर्तुं शक्नोति। मितभाषितया संक्षेपेण जिज्ञास्यविषयस्योत्तरं प्रदाय स्वकर्मणि व्यापृतो भवति।

केषाञ्चन विदुषां जिज्ञासा भवति कथमाङ्ग्लभाषायां शास्त्रानुवादः कृत इति स्वकीयसंक्षिप्तात्मकथायां स्पष्टं लिखत्यसौ समाधानमस्याः तदानीं अंग्रेजीभाषा विश्वव्यापिन्यासीत् तस्यां लेखने सति विश्वस्मिन्नपि विश्वे चिन्तनस्य कृतेर्वा प्रचार-प्रसारौ भवतः। (रवीन्द्रनाथठक्कुरस्य गीताञ्जलिः बङ्गभाषायां लिखिता सती अत एव नोबलपुरस्कारमवाप्नोत्।) समसामयिकः महामहोपाध्यायः रामावतारशर्मा संस्कृतभाषायां स्वलेखेन विद्यायाः क्षेत्रे अमूल्यं चिन्तनं प्रादात् न तस्य कृतिजात-स्य विदेशेषु प्रचारः अभवत् अपितु भारत एव अर्थादितस्तत्रापि औदीच्यप्रान्त एव विशेषप्रतिष्ठा तत्कृतीनाम् इति अस्माभिः श्रूयते 'या लोकद्वयसाधनी चतुरता सा चातुरी चातुरी'ति डॉ. सर झामहाशयोऽत्र नितरां जागरूक आसीत्। (स्वकीयग्रामे तीर्थरामेश्वरप्रतिष्ठा चातुश्चरणयागविधानेन विहितैरितीष्टं कर्म सम्पादितम्) यत्र पद्येषु स्वाग्रजयोः मातुः पितुश्च गुणवैशिष्ट्येन सह नामानि निर्दिशति तत्रत्यशिलापट्टके।

पालिश्रोत्रियवंशभूषामणिः सत्कर्मचूडामणिः
गायत्रीचरणाम्बुजप्रणयधृक् श्रीतीर्थनाथोऽभवत्।
श्रीमन्मैथिलभूमहेन्द्रतनयश्रीवासुदेवात्मजा
पत्नी तस्य कुलद्वये शुभकरी श्रीरामकाशी परा॥
ज्येष्ठस्तत्तनयः सदा शिवरतः श्रीविन्ध्यनाथः सुधीः
तत्पश्चात् गणनाथनायक इह श्रीतारिणीतत्परः।
गङ्गनाथ इह स्वतातजननीभक्तस्तदीयानुजः
तेनास्थाप्यत वेदवेदविधिना श्रीतीर्थरामेश्वरः॥

इदमत्रावधेयम्। यथास्य ज्येष्ठः भ्राता विन्ध्यनाथझा शिवभक्तः प्रदोषे पार्थि-वशिवलिङ्गं पूजयन् आसीत्। गणनाथझा मातुः तारायाः जगदम्बायाः आराधने तत्पर आसीत्। तथैवायं मातुः पितुश्चाधिकं भक्त आसीत् इत्यनेकत्रायमभिदधाति। प्रभाकरस्कूलऔफ पूर्वमीमांसा इति शोधप्रबन्धं पित्रोश्चरणयोरर्पयति।

पितुः श्रीतीर्थनाथस्य प्रभोर्लक्ष्मीश्वरस्य च।
मातुस्तीर्थलतादेव्या पादयोरिदमर्पितम्॥

इति तत्र समर्पणपद्यम्। मिथिलेशः मातुलेयः लक्ष्मीश्वरसिंहः एषां सर्वेषां भ्रातृणां शिक्षादीक्षाव्यवस्थापकतयाऽभिभावकः आसीत्। हिन्दू लौ इन इट्स

सोर्सेस् इत्यत्रापि द्वितीये भागे उपर्युक्तं पद्यं पश्यामो वयम्। न्यायप्रकाशस्य भूमिकाया उपसंहारपद्यमेवं दृश्यते।

पित्रोस्तीर्थलतातीर्थनाथयोरिदमर्पितम्।
भ्रातुः श्रीविन्ध्यनाथस्य प्रभोर्लक्ष्मीश्वरस्य च॥ इति

न्यायभाष्यस्य खद्योतव्याख्यायाः प्रथमसंस्करणे वाराणसीतः प्रकाशितव्याख्यायां मङ्गलमाचरन्नयमभिदधाति -

पित्रोस्तीर्थलतातीर्थनाथयोः पादपङ्कजम्।
निधाय हृदि विश्वेशं गङ्गानाथः करोत्ययम्॥

अत्रापि अभ्यर्हितं पूर्वमिति पाणिनिसूत्रमनुसृत्य पितरौ विश्वेशं च हृदि निधाय व्याख्यां विरचयति झामहाशयः। अत्र पद्यद्वयमस्य मातुः पितुश्च भक्तौ श्रद्धाविश्वासौ दृढतया समर्थयति द्रष्टव्यश्चैतत् पद्ययुगलम्।

महर्षिवाक्यव्याख्यानसाहसस्य प्रमार्जनम्।
पित्रोश्चरणयोरस्य खद्योतस्य समर्पणम्॥
यत्किञ्चिदखिलं ग्रन्थे बुद्धिदोषेण जायते।
पित्रोः पुण्यप्रभावेण सर्वं तद् विमलीभवेत्॥ इति

पूर्वमनेकानि कर्माणि विधायान्वयान्वतिष्ठदयम्। यथा शारदामन्दिरं निर्मापयदयं श्वसुरग्रामे। तत्रोत्कीर्णं शिलापट्टमेवंविधं विद्यते।

शारदापुरवास्तव्यः शकराढीकुलोद्भवः।
धर्मे शब्दे च योगे च निष्णातो ग्रन्थकृत्सुधीः॥
श्रीहर्षनाथशर्माभूत् बलभद्रसहोदरः।
तस्यात्मजा शुभ्रशीला कुलद्वययशस्करी॥
तीर्थनाथतनूजस्य पाहीटोलनिवासिनः।
पालीवंशावतंसस्य गङ्गानाथस्य धीमतः॥
पत्नी श्रीन्दुमती देवी दशभिर्तनयैर्युता।
सैव व्यरचयद्भक्त्या शारदायाश्च मन्दिरम्॥
वेदवसुचन्द्ररत्नमिते वैक्रमसंज्ञके।
संवत्सरे कार्यमेतत् पूर्णं देवीप्रसादतः॥

स्वग्रामगमनागमनाभ्यां कृते नेदीयसिरेलयानस्थानकस्य कृते धर्मशालायां पत्न्या इन्दुमतीदेव्या नाम्ना निर्मापयत्। दारागञ्जरेलस्थानकनिकटेऽपि इन्दुमतीधर्मशालाटिनशेडरूपेण निर्मापिता इत्यनेकानि पूर्तकर्माणि विहितानि डॉ. सरझामहाशयेन। एकत्रैकदा मित्रस्य जनेश्वरसिंहस्यायोजने यागकर्मणि भागं गृहीत्वा तद्वर्णनं चारुपद्येनैते विदधति। तद्यथा -

ज्वालाभयाच्च वपुषो निजभक्तलोकरक्षां विधातुमिह कुण्डगतः पृथिव्याम्।
धूमेन वह्निशिखया प्रभया च शम्भो त्रैगुण्यमेव परमं प्रकटीकरोषि॥
वह्निस्थ एव भजतां शमयस्यजस्रं संसारचक्रजनिताखिलतापजालम्।
स्थाणुस्त्वमेव सुतरां च चिदात्मकोऽसि को वेद देव भवतोऽत्र विचित्रवृत्तम्॥
अग्निर्यतो जगति देवतया समक्षं विद्योतते न खलु तत्र विवादलेशः।
भक्तानुकम्पनमतो हि विधातुकामस्तस्यैकरूपमुररीकुरुते हि शम्भुः॥
भक्तार्पितानि विपुलानि हवींषि देव पापघ्नतण्डुलधृतैर्विहितानि शम्भो।
गृह्णासि हृष्टमनसेति विभावयामि शान्तप्रशान्तिजनकैश्च प्रभावितानैः॥
मुख्ये जुहोति वदने परयात्र भक्त्या श्रीमान् जनेश्वर इहैव च मिश्रवर्यः।
दक्षे गणेशसदृशो गणनाथनामा गौरीधरः शिवपरः सुरनिम्नगेशः॥
गङ्गाधरः वीरवरो प्रतीच्यां रामाभिधो हर्षपतिश्च वामे
नारायणो लक्ष्मिपुरस्सरश्च ऊर्ध्वे च वक्त्रे मिलिताश्च सर्वे।
कृताकृतावेक्षणकर्मकर्ता शिवेश्वरो बुद्धिमतां वरिष्ठः
साहाय्यकर्ता किलनृत्यगीतैर्विनोदशाली ववुनन्दनोऽस्य॥

डॉ. सरझामहाशयश्चतुर्विधमप्युपयोगंविद्यायाः विहितवान्। काश्यां दिगन्त-विश्रुतगुरुणामन्तेवासी सन् विद्याः समर्जयत्। तासां स्वकीयान्तेवासमध्ये प्रवचनं ग्रन्थानां व्याख्यानं, मौलिकचिन्तनजातस्य ग्रन्थलेखनमाध्यमेन प्रकाशनं विश्व-स्मिन्विश्वे भारतीयविद्याप्रचाराय शास्त्राणामाकरग्रन्थजातस्यानुवादश्च अंग्रेजीभाषा-यां व्यधात्। अनुवादकस्य कौशलं वैदुष्यञ्च यत् अनुवाद्यानुवादभाषयोरधिकार-स्तथा भवेत् यथाऽनुरूपोऽनुकूलश्चाभिप्रायः भाषान्तरकरणेऽपि सुरक्षितः स्यात्। डॉ. थीबो डॉ. मेनिश महाशययोः गुरुवर्ययोः सान्निध्यम् म. म. शिवकुमारशास्त्रि-म. म. गङ्गाधरशास्त्रि-म. म. विन्ध्येश्वरीप्रसादद्विवेदि-म. म. चित्रधरमिश्र-म. म. जय-देवमिश्रादिगुरुचरणानामध्यापनमथ च श्रमक्रमाभ्यां विद्यानामभ्यासः प्रतिफलत्यत्र डॉ. सर झामहाशये। अत एव पाण्डित्यस्य साफल्यमनुगच्छत्यमुम्। गुरुजनाशी-र्वादः स्वकीयप्राक्तनपुण्यञ्चात्र सहकारितां व्रजतः। संस्थायाः सर्वोच्चपदासीनोऽपि वि.ए. एम.ए. कक्षयोः निरन्तरमध्यापयन्नासीदयं विद्यानुरागात् कर्तव्यबुद्धितश्च। डॉ. रानाडे महाभागः इलाहाबादविश्वविद्यालये तदानीन्तना दर्शनविभागाध्यक्षाः एषां श्लोकवार्तिकतन्त्रवार्तिकयोरंग्रेजीभाषायां प्रामाणिकमनुवादं वीक्ष्यैतान् भट्टकुमा-रिलस्यावतारं मन्वते। यद्यप्यस्य शोधप्रबन्धः प्रभाकरसिद्धान्तानां व्याख्यानमधि-कृत्य वर्तते - इति पूर्वमीमांसा इन इट्स सोर्सेस् इत्यस्य भूमिकायां लिखन्ति ते। यद्यप्यस्य पञ्चाशत्तोऽप्यधिकाः सन्ति प्रकाशिताः कृतयस्तथापि चतस्रः मम दृष्ट्या सन्त्युल्लेखयोग्याः यासु किमपि लोकोत्तरं विद्यते वैशिष्ट्यम्।

1. हिन्दू लौ इन इट्स सोर्सेज

2. पूर्वमीमांसा इन इट्स सोर्सेज
3. तृतीयाध्यायं यावत् मीमांसासूत्रस्यानुवादः
4. मनुस्मृतेर्मेधातिथिभाष्यस्य सम्पादनमंग्रेजीभाषायामनुवादश्च।

अत्र प्रथमा कृतिरद्यापि विद्यते प्रासङ्गिकी। भागद्वये विभक्तेयं कृतिः विधिज्ञानां कृते महदुपकारिणी। शास्त्रीयप्रमाणपुष्टं विषयजातमिह वैशद्येन विस्तरेण सोपपादनं प्रतिपादितम्।

शास्त्रस्येतिहासे विचारकाणां शास्त्रकाराणां तत्कृतीनां च परिचयो विचारो वा कलितोऽस्ति किन्तु शास्त्रीयसिद्धान्तजातस्य कालक्रमानुसारं विहितविकासस्य नोपलभ्यते परिचयः। अपेक्षितश्चायं सर्वस्यैव शास्त्रस्य परिचयः। द्वितीयस्यां कृतौ पूर्वमीमांसा इन इट्स सोर्सेज इत्यत्र डॉ. सरझामहाशयः मीमांसाशास्त्रपदार्थान् तथैव प्रतिपादयति अस्मादृशानुत्तरसाधकान् साधु प्रेरयति च। एवमेव न्यायप्रकाशे पाश्चात्यतर्कशास्त्रस्य तुलनात्मकं चिन्तनं विधाय दिक् प्रदर्शयति अस्मादृशान् तदुत्तरसाधकान्। प्राचीनन्यायं नव्यन्यायञ्चाधिकृत्य देशस्य स्वातन्त्र्यानन्तरं परिष्कारसम्पन्नानमितान् ग्रन्थान् प्राकाशयन् भारतीयविद्यानां शोधसंस्थानानि भारतीयविद्याग्रन्थानां प्रकाशने बद्धपरिकराः मोतीलालबनारसीदासचौखम्बासंस्कृतविद्याभवनप्रभृतयः संस्थाश्च किन्तु इदानीमावश्यकताऽस्ति नवीनचिन्तनस्य तत्प्रकाशनस्य च। युगद्रष्टारः पुण्यश्लोकाः डॉ. सरझामहाशयाः विंशतितम्याः शताब्द्याः पूर्वार्ध एव तादृक् विचारदिग्दर्शनं विधाय मन्येऽस्मान् न्यायविद्यार्थिनोऽत्र प्रैरयन्। अस्वास्थ्यवशात् तृतीयाध्यायं यावदेव मीमांसासूत्रव्याख्यां व्यधात्। डॉ. सरझामहाशयः पर-मस्याः कृतेरध्ययनेन बहुज्ञानमर्जितुं शक्यते मीमांसाशास्त्रमधिकृत्येत्यस्माकं धारणा। मनुस्मृतेः मेधातिथेर्भाष्यमेशियाटिकसोसाइटीकोलकातातः प्रकाशितमस्यामंग्रेजी अनुवादः कोलकाताविश्वविद्यालयतः प्रकाशितः। अस्य भागत्रयविभक्तेषु ग्रन्थेषु पाठभेदसम्बन्धिन्यः व्याख्यासम्बन्धिन्यः तुलनात्मकाध्ययनसम्बन्धिन्यः च टिप्पणयः सन्ति प्रकाशिताः। ताश्च नितरां वैदुष्यपूर्णाः। सामीक्षिकं सम्पादनं कीदृशं करणीयमित्यस्य पथप्रदर्शनं भवत्यत्र। चक्षुष्मान् सम्पादकः यद्यनुसरेत् कर्म कृत्वा यशोभाग् भवेदिति मे धारणा।

न्यायभाष्यस्य व्याख्यायाः खद्योतं नाम कथमयं प्रादादिति जिज्ञासायां तत्रैवायं ब्रवीति -

दैवस्य दुर्विपाकात् कालगतेरेव दुर्निवारात्।
अस्तंगमिते चन्द्रे खद्योतो द्योतते नितराम्॥

रघूत्तमनाम्नः कस्यचित्सुधियः चन्द्रनाम्नी नितरामुपादेयन्यायभाष्यव्याख्याऽनेन तत्कालं प्रसिद्धपाण्डित्येन ढुण्ढिराजशास्त्रिणा सह सम्पादितं परं सा

अपूर्णाऽसीत्। तृतीयाध्यायस्य कानिचन सूत्राणि यावदेव सोपलब्धा। अतस्तया सहैव खद्योतव्याख्यां स्वयं विरचय्य प्रथमतः प्राकाशयदयमिति। किमनेन व्याख्यायां विहितमिति स्वयमयं प्रतिजानीते -

सर्वं वार्तिकतात्पर्यपरिशुद्धिसमाश्रयम्।
अर्थतः शब्दतोऽपि प्रायशोऽत्र निरूपितम्॥

तदानीं वार्तिकतात्पर्यटीकापरिशुद्धीनां सम्पूर्णतया प्रामाणिकं संस्करणं नोपलब्धमासीदित्यवधेयम्। धीधनाः ! एतावदेवोक्त्वा मम वाणी विराममेतु। अन्ते भवद्भिरिह श्रुतानि वचांसि ममेत्यहमात्मानं धन्यं मन्ये। ममाभिप्रायः श्रुतः शान्त-चित्तैः प्रार्थये च गङ्गेशोपाध्यायस्य पद्येन तत्रभवतो भवतः -

धीराः कुशाग्रमतयः भवतः प्रणम्य
मौलौ निधाय करवारिरुहे समीहे।
वाणीयमर्थरहितापि विशृङ्खलापि
सानुग्रहेण हृदयेन विभावनीया॥ इति।

सनातनकवि आचार्य रेवाप्रसादद्विवेदी सनातनी काव्यात्मक अभिव्यक्ति

सदाशिवद्विवेदी

आधुनिक संस्कृत कविता तथा काव्यशास्त्र के क्षेत्र में आज भी विद्वानों द्वारा अनेक मौलिक कृतियों की रचना करते हुए तर्कपूर्वक अभिनव सिद्धान्तों का प्रवर्तन किया जा रहा है। इन विद्वानों द्वारा प्रवर्तित सिद्धान्तों तथा उनके तर्कपूर्ण उपस्थापन को परम्परा प्राप्त प्राचीन आचार्यों के द्वारा स्थापित सिद्धान्तों से किसी भी दृष्टि से कम करके नहीं आँका जा सकता। आधुनिक संस्कृत आचार्यों व कवियों द्वारा प्राचीन मानदण्डों पर खरी उतरने वाली काव्यकृतियों तथा साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों की आज भी रचना की जा रही है। यह तथ्य द्योतक है कि प्राचीन के प्रति सम्मान का भाव रखते हुए आज का कवि तथा समीक्षक अविरल रूप से अभिनव रचनाओं के प्रवर्तन हेतु समर्पित है। आज की संस्कृत कविता में अविश्रान्त रूप से प्राचीन मूल्यों और मान्यताओं का चित्रण प्राप्त होता है। इसमें प्रतिबिम्बित है आज के समाज का यथार्थ स्वरूप। प्रत्येक कवि वर्तमान को जीता है और प्रकाशित करता है उसको अपनी कविता में वैसे ही जैसे महर्षि वाल्मीकि ने किया था, क्रौंचद्वन्द्वियोगजनित शोक को परिणत कर श्लोकों में, अपने आदिकाव्य रामायण में। आज की संस्कृतकविता में राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर घटित होने वाली अनेक घटनाओं को कविता का विषय बनाया गया है। संस्कृत कविहृदय सम्पूर्ण सामाजिक चेतना का प्रतिनिधित्व करते हुए वर्तमान समाज पर दूरगामी प्रभाव डालने वाले प्रत्येक घटनाक्रम का सूक्ष्मातिसूक्ष्म पर्यालोचन करता हुआ दिखाई देता है। कहा जा सकता हैं कि आधुनिक संस्कृत कविता वर्तमान सामाजिक परिदृश्य का सच्चा इतिहास है।

विगत तीन सहस्राब्दियों में स्थापित काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का विशद अध्ययन कर नवीन साहित्यशास्त्रीय एवं नाट्यशास्त्रविषयक सिद्धान्तों की स्थापना संस्कृत विद्वानों द्वारा की गयी है जो तर्क की कसौटी पर सर्वथा खरे उतरते हैं। इनमें वैचारिक प्रौढ़ि तथा दुर्धर्ष पाण्डित्य स्पष्ट परिलक्षित होता है। इनका अध्ययन कर आलोचक प्राचीन पारम्परिक सिद्धान्तों की नयी दृष्टि से समीक्षा करने हेतु बाध्य होते प्रतीत होते हैं।

संस्कृत कविता एवं काव्यशास्त्र इन दोनों ही क्षेत्रों में नवीन प्रतिमानों के संस्थापक आचार्यों की परम्परा में अग्रणी हैं महामहोपाध्याय आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी जो संस्कृत कविजगत् में 'सनातनकवि' इस उपनाम से प्रसिद्ध हैं। आचार्य द्विवेदी ने संस्कृत जगत् को, विगत 5 दशकों में अनेक मौलिक ग्रन्थ प्रदान किए। इनमें उल्लेखनीय हैं -

1. **महाकाव्य** - आचार्य द्विवेदी ने संस्कृत जगत् को, विगत 5 दशकों में उत्तरसीताचरितम् (10 सर्ग), स्वातन्त्र्यसम्भवम् (75 सर्ग अब 110 सर्ग) तथा कुमारविजयमहाकाव्यम् (11 सर्ग) नामक तीन महाकाव्य प्रदान किए है।
2. **खण्डकाव्य** - सनातनकवि ने विभिन्न पारम्परिक एवं समसामयिक विषयों पर आधारित 20 से भी अधिक मौलिक खण्डकाव्य प्रदान किए हैं। उनके द्वारा रचित खण्डकाव्यों में प्रमुख है- प्रमथः, शतपत्रम्, संस्कृतहीरकम्, श्रीरेवाभद्रपीठम्, मतान्तरम्, शरभंगम्, शकटारम् (मानवप्रताडनाकाव्य), सुगतो ब्रवीति, वृद्धकुमारि!, शरशय्या (भीष्मपरिदेवना), अमेरिका, एतत् तु याचामहे, विधेर्होमो निषेधानले (वर्ल्ड ट्रेड सेन्टर विन्ध्वंसकाव्य), रामपरिसंख्या, अहमस्म्यहमेव, अयि शकुन्तिके, अयि नीलनदि!।
3. **अवदान काव्य** - आचार्य द्विवेदी ने 3 अवदान काव्यों की भी रचना की है- हरिहरावदानकाव्यम् (करपात्रस्वामिचरितम्), रत्नस्वरूपावदानकाव्यम् (जगद्गुरुस्वरूपानन्दसरस्वतीचरितम्), जयेन्द्रसरस्वती- पादावदानकाव्यम्।
4. **नाटक** - इसके अतिरिक्त आचार्य द्विवेदी की मौलिक कृतियों में प्रसिद्ध है 'सप्तर्षिकाङ्ग्रेसम्' (10अंक) नामक प्रकरण (रूपक) जिसमें 1977 के लोकसभा के आमचुनाव में हुई कांग्रेस की पराजय का जीवित और चित्रोपम इतिहास अङ्कित है। अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध नाटककार और कवि शेक्सपियर के नाटक रोमियो-जूलियट का आचार्य द्विवेदी ने संस्कृत रूपान्तर किया है अपनी चार अंकों की नाटिका 'यूथिका' में। इस नाटिका में भौतिक धरातल पर चित्रित प्रेम को सनातनकवि ने एक उदात्त भूमिका प्रदान की है।
5. **साहित्यशास्त्र तथा नाट्यशास्त्र** - इन मौलिक काव्यों के अतिरिक्त साहित्यशास्त्र तथा नाट्यशास्त्र दोनों ही क्षेत्रों में आचार्य द्विवेदी ने सर्वथा मौलिक सिद्धान्तों के प्रवर्तक ग्रन्थों की रचना की है। साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में उनकी अत्यन्त प्रसिद्ध कृति है - 'काव्यालङ्कारकारिका' तथा नाट्यशास्त्रीय कृति है पाँच खण्डों में विभक्त 413 कारिकाओं में उपनिबद्ध ग्रन्थ 'नाट्यानुशासनम्'। इसके पाँच खण्डों के नाम हैं - 'नाट्यानुशासनम्, भरतदर्शनम्, नाट्यशारीरकम्, कलासमाधिः तथा रसभोगः।' अलं ब्रह्म इस महावाक्य का प्रतिपादक आपका अलं ब्रह्म ग्रन्थ बहुत लोकप्रिय हुआ।
6. **इतिहास** - इनके अतिरिक्त 'संस्कृतकाव्यशास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास' नामक ग्रन्थ में आचार्य द्विवेदी ने चतुर्धामवाद की स्थापना करते हुए सम्पूर्ण साहित्यशास्त्रीय आलोचना की परम्परा को 'कांची (दक्षिण),

शारदा (कश्मीर), महाकालेश्वर (धारा) और विश्वेश्वर (काशी) - इन चार धामों तथा पाँच कल्पों - 'पूर्णताकल्प (दोषाभाव), गुणकल्प (माधुर्या-दिगुण), लक्षणकल्प (अस्फुट अलन्त्व या अलङ्कार), अलन्त्वकल्प (स्फुट अलन्त्व या अलङ्कार) तथा साहित्यकल्प (शब्दार्थसम्बन्ध)' में विभाजित किया है। अलंकारशास्त्र को ब्रह्मविद्या की कोटि में स्थापित करने वाला आचार्य द्विवेदी का ग्रन्थ 'अलं ब्रह्म' इस शताब्दी के सर्वोत्तम नवीन तथा क्रान्तिकारी सिद्धान्तों का प्रवर्तक है, जिसमें 'अलं' पद साक्षात् 'ब्रह्म' का वाचक माना गया है। इस आधार पर साहित्यशास्त्र या अलङ्काररशास्त्र भी ब्रह्मविद्या प्रमाणित होता है। आचार्य द्विवेदी ने सर्वप्रथम साहित्यशास्त्र को आगममूलक माना और 'अग्निपुराण' को साहित्यशास्त्र के आगम के रूप में स्थापित किया है। यही आगम आधार बनता है अलङ्कारशास्त्र को ब्रह्मविद्या के रूप में प्रतिष्ठित करने में।

7. **कोष** - कालिदासशब्दानुक्रमकोश - महाकवि कालिदास की सातों कृतियों में उपलब्ध शब्दों को अकारादिक्रम से व्यवस्थित कर कालिदास-शब्दानुक्रमकोश के रूप में 2017 में प्रकाशित किया। सन् 1950 से प्रारम्भ कर कालिदाससाहित्य के सम्पादन में संलग्न आचार्य द्विवेदी ने कालिदा-सग्रन्थावली के तृतीय संस्करण में प्रकाशित कालिदास के मूल पाठ को आधार बनाकर कोश का निर्माण किया। इसमें कालिदास की कृतियों का मूलपाठ भी परिशिष्ट में संलग्न है।

1. महाकाव्य

आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी 'सनातनकवि' ने संस्कृत कविता को अनेक नवीन काव्यों की रचना कर समृद्ध किया है। आपने शताब्दी के सबसे बड़े महा-काव्य 'स्वातन्त्र्यसम्भवम्' की रचना की जिसके 75 सर्ग प्रकाशित हैं और 35 सर्ग अप्रकाशित। यह महाकाव्य रामजन्मभूमि के न्यायालय में चल रहे वाद के सन् 2019 में हुए निर्णय तक के घटनाक्रम को अपने अन्दर समेटे हुए है। आचार्य द्विवेदी द्वारा रचित महाकाव्यत्रय में राष्ट्रीय तथा सामाजिक चेतना के तत्त्व पर्याप्त रूप से विद्यमान पाए जाते हैं। आचार्य द्विवेदी द्वारा रचित महाकाव्यों में से उत्तरसी-ताचरितम् तथा कुमारविजयमहाकाव्यम् ये दोनों महाकाव्य पौराणिक इतिवृत्त पर आश्रित हैं, परन्तु 'स्वातन्त्र्यसम्भवम्' अद्यावधि पर्यन्त भारतीय चेतना का सच्चा इतिहास ही है।

1.1 उत्तरसीताचरितम् - आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी ने इस महाकाव्य की रचना 1964 में 'सीताचरितम्' इस नाम से की थी। इस महाकाव्य को 1990 में 'उत्तरसी-

ताचरितम्' इस संज्ञा के साथ परिष्कृत कर आपने संस्कृत जगत् को प्रदान किया। इसमें कवि ने अनेक राष्ट्रीय तथा सामाजिक विषयों को प्रतिपद समाधानपूर्वक उकेरा है।

सनातनकवि की चेतना में छात्रावस्था से ही वाल्मीकि रामायण, कालिदास के रघुवंश और भवभूति के उत्तररामचरित में चित्रित सीता के दयनीय स्वरूप के अध्ययन से पारम्परिक कथानकों के प्रति विरोध का स्वर उठ रहा था। इसी विरोध के स्वर का परिणाम है इस महाकाव्य की रचना। इन महाकवियों की काव्यकृतियों में भगवती सीता को अपनी पवित्रता की परीक्षा देने के लिए बाध्य करते हुए निरन्तर एक अबला स्त्री के रूप में चित्रित किया गया है। महाकवि रेवाप्रसाद द्विवेदी की चेतना में इस दयनीय चित्रण के प्रति उठते क्रान्तिकारी स्वर को मुखरित करने के लिए उन्होंने 'उत्तरसीताचरितम्' महाकाव्य की रचना की। महाकवि ने परम्परा से हटकर भगवती सीता को अपनी अस्मिता की रक्षा करनें में समर्थ तथा समाज के सर्वविध कल्याण के लिए सचेष्ट क्रान्तिकारी स्त्री के रूप में चित्रित किया है, न कि निरन्तर समाज की दया की पात्र एक अबला नारी के रूप में -

राज्याभिषेक के अनन्तर राजसिंहासन पर रामचन्द्र जी के साथ विराजमान भगवती सीता के स्वरूप का वर्णन करते हुए महाकवि कहते हैं -

निमिकुलतपसां वा सत्फलं, पुण्यपाको
रविकुलजनुषां वा जानकीत्यार्यलक्ष्मीः।
व्यरुचदवनिपालस्यार्धभद्रासनस्था
श्रितवपुरिव लोकस्योदयायौषसी श्रीः॥[1]

निमिकुल की तपस्याओं का सुफल, सूर्यवंशी महात्माओं के पुण्यों का परिपाक जानकी नामक आर्यलक्ष्मी राजा राम के आधे सिंहासन पर विराजमान हुईं। उस समय वे ऐसी लग रहीं थीं जैसे संसार का मंगल करने के लिए साक्षात् उषःकालीन सूर्य की श्री देह धारण कर पृथ्वी पर उतर आई हो।

भगवती सीता का अद्भुत रूप महाकवि ने उत्तरसीताचरितम् महाकाव्य में चित्रित किया है। महाकवि रेवाप्रसाद द्विवेदी के अनुसार तपोमहिष्ठ योगियों के तेज से अर्जित तेज वाली, महायोगी विदेहराज से विनययोग को प्राप्त करने वाली, सर्वंसहा भगवती पृथ्वी से शरीर प्राप्त करने वाली, बुद्धिप्रधान सूर्यवंश में विवाहित, चौदह वर्षों तक वनवास में निवास के समय परीक्षित सामर्थ्य वाली भगवती सीता यहाँ राष्ट्रदेवी के रूप में चित्रित हैं। ऐसी सीता ने अयोध्या के समाज में उनके

[1] उ.सी., 1.68

सम्बन्ध में उत्पन्न कौलीन की अग्नि से रघुकुल की रक्षा करने के लिए स्वयं ही अयोध्या के परित्याग का निर्णय ले पुनः वनवासव्रत को धारण किया। कौसल्यादि माताओं तथा भरतादि राम के बन्धुवान्धवों के देखते देखते सीता काषाय वस्त्र धारण कर वनवास के लिए प्रस्थान कर जाती हैं। लक्ष्मण उनके रथ को चला रहे थे। वे पहले अपनी बहनों के महल को जाती हैं उनसे मिल कर अनुज्ञा ले वन की ओर प्रस्थान करती हैं।

आसन्नप्रसवा सीता भगवती गंगा के बालुकामय तट पर दो पुत्रों को जन्म देती हैं। वनदेवियां उनकी प्रसवकाल में रक्षा करती हैं। रामायण कवि वाल्मीकि के अनुरोध पर उनके आश्रम में निवास करना स्वीकार करती हैं। वहीं भगवती के दोनों पुत्रों का लालन पालन होता है। सीता ने शब्दार्थ प्रतिभा को जैसे समर्पित हो जाते हैं वैसे ही उन दोनों पुत्रों को महर्षि को समर्पित किया। विनीतपुत्रों से सुशोभित सीता अयोध्या की सभा में, जो राम और जनक जी से अलंकृत थी, उपस्थित होती हैं और जीवन में अब कुछ भी करना अवशिष्ट नहीं है ऐसा सोच कर सभास्थल पर ही युक्तयोगी के समान अभ्युत्थान समाधि से अपने शरीर का परित्याग कर देती हैं। वहाँ उपस्थित महामुनीन्द्र लोकाचार का अनुपालन करते हुए उनको प्रणामपूर्वक भूमि में समाधिस्थ कर देते हैं।

इस महाकाव्य में चित्रित है भारतीय समाज का सच्चा स्वरूप तथा आदर्श के विपरीत किए गए व्यवहार के विरुद्ध उठने वाले क्रान्तिकारी सामाजिक स्वर। उत्तरसीताचरितम् में महाकवि ने सीतापरित्याग की कथा से प्रारम्भ कर उनके अभ्युत्थान समाधि ग्रहण कर शरीरत्याग तक की कथा का चित्रण किया है। इस महाकाव्य में दस सर्ग हैं और श्लोकसंख्या है 694। इसके सर्गों के शीर्षकों से ही कथा के प्रवाह को जाना जा सकता है -

प्रथमसर्ग - राष्ट्रपतिनिर्वाचनम्, द्वितीयसर्ग - जानकीकौलीनम्, तृतीयसर्ग - साकेतपरित्यागः, चतुर्थसर्ग - साकेतपरित्यागः, पंचमसर्ग - कुमारप्रसवः, षष्ठसर्ग - जानकीमुनिवृत्ति, सप्तमसर्ग - विद्याधिगम, अष्टमसर्ग - कुमारायोधन, नवमसर्ग - मातृप्रत्यभिज्ञानम्, दशमसर्ग - समाधिमाङ्गल्यम्।

महाकाव्य का प्रारम्भ रावणवध के अनन्तर भगवान् राम के अयोध्याप्रत्यागमन के वृत्तान्त से होता है -

विभूष्य पौलस्त्यशिरोभिरीश्वरं महीतनुं तस्य सुतां समुद्वहन्।
वनव्रतान्ते भगवान् रघुद्वहः सहानुजाभ्यां गृहमीयिवान् निजम्॥[2]

राम वनवासव्रत समाप्त कर पृथ्वीपुत्री भगवती सीता को लेकर अपने दोनों

[2] उ.सी., 1.1

अनुजों भरत और लक्ष्मण के साथ अयोध्या पहुंचते हैं। इसके पूर्व उन्होंने पुलस्त्य ऋषि के वंश में उत्पन्न रावण का वध कर भगवान् शंकर की अन्यतम पृथ्वी मूर्ति को उसके सिरों से अलंकृत किया था।

महाकवि ने अनेक उपमाओं के माध्यम से भगवान् के प्रत्यागमन का वर्णन किया है। अयोध्या को लौटे राम और भरत ने उसी प्रकार एक अद्भुत आर्यभूमिका का निर्माण किया जिस प्रकार हिमालय और महोदधि मिलकर भारतवर्ष रूपी आर्यभूमि का निर्माण करते हैं[3]।

इस महाकाव्य में पाए जाने वाले सामाजिक चेतना के तत्त्वों में प्रमुख हैं - समाज का लक्षण[4], समाज एवं राजनीति में सत्य की प्रतिष्ठा[5], दाम्पत्य का सच्चा स्वरूप[6], नारीजागरण[7], समाजसेवाव्रत[8], भारतवर्ष की सामाजिक शिष्टता[9], भारतीयता[10], शिक्षानीति[11], छात्रानुशासनम्[12] आदि।

क. आदर्श शासक और शासन -

राजकुल में उत्पन्न भरत और लक्ष्मण ने समर्पणबुद्धि और स्वार्थ के परित्याग का अभूतपूर्व दृष्टान्त उपस्थित किया है। दोनों भाइयों ने सन्यासव्रत सदृश व्रत धारण कर रखा था बड़े भाई राम के साथ। महाकवि आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी माता कौसल्या के मुख से कहलाते हैं कि -

न रामभद्रो जनकात्मजापि वा तथाऽद्य मह्यं रुचिरौ यथा युवाम्।
ययोः परार्थे निजसौख्यवर्जनव्रतं समाजद्रुममूलमीक्ष्यते॥[13]

कौसल्या को रामभद्र और जनकात्मजा से भी अधिक प्रिय थे भरत और लक्ष्मण, जिन्होंने समर्पणबुद्धि और स्वार्थपरित्याग के व्रत के कारण अपने सुख का परित्याग किया। समाज रूपी वृक्ष की रक्षा इसी से सम्भव है। यह है बीज जो दोनों भाईयों में उपस्थित रहा 14 वर्ष पर्यन्त।

---

3 उ.सी., 1.2
4 उ.सी., 4.48
5 उ.सी., 4.41-42
6 उ.सी., 3.49
7 उ.सी., 4.57
8 उ.सी., 6.31
9 उ.सी., 6.32
10 उ.सी., 9.6
11 उ.सी., 7.7-40,10.10
12 उ.सी., 8.11,10.6
13 उ.सी., 1.23

समाज की रक्षा राजा के उत्तम चरित्र से होती है। इस विषय में महाकवि ने अद्भुत उपमान के माध्यम से अपने आशय को इस प्रकार प्रकट किया है -

चतुष्टयं तद् रघुवंशकल्पद्रुमालवाले शुशुभे कृतात्मनाम्।
चरित्र-पीयूष-पयोमुचां यथा त्रिलोकमांगल्यवपुः प्रवर्षणम्॥[14]

रघुवंश है कल्पवृक्ष जिसको सींचने के लिए बने थाले में सच्चरित्र रूपी अमृत की वर्षा करने वाले मेघों की तीनों लोकों का मंगल करने वाली वृष्टि प्रतीत हो रही थी चारों भाइयों की अयोध्या में उपस्थिति। राजवंशीय प्रणाली में सम्पूर्ण प्रजा राजा के सच्चरित से ही प्रेरणा प्राप्त कर सत्पथ पर चलने का संकल्प लेती है। महाकवि के अनुसार रघुकुल के राजकुमार इस परीक्षा में खरे उतरे थे। अयोध्या की प्रजा के लिए एक आदर्श उपस्थित किया उन्होंने अपने आचारण से।

रामचन्द्र के राज्याभिषेक के प्रसंग में महाकवि ने 'नय' के महत्त्व का वर्णन किया है। महाकवि के अनुसार नय ही है वह दीप जो अन्धकार में स्थित व्यक्तियों को प्रकाश के पथ की ओर अग्रसर करता है और वही है सदा जागरूक रहने वाला, तथ्यों का द्रष्टा, तृतीय आभ्यन्तर नेत्र -

नयः स दीपस्तमसि स्थितान् जनान् प्रकाशमार्गे परिचालयेत यः।
तृतीयमुद्भासिततथ्यमन्तरं स एव नेत्रं सततं प्रबोधभाक्॥[15]

परन्तु इस नय को नियन्त्रित करने वाले राजा की जरूरत होती है और वह राजा रामचन्द्र से अन्य कोई नहीं हो सकता -

ऋते नियन्तारमसौ न तत्त्वतोऽध्वरो विनाचार्यमिव प्रतिष्ठते।
समित् तु तस्यैव कृतेऽभिकाङ्क्ष्यते हविष्प्रदानामिव मन्त्रिणां बुधैः॥[16]

जैसे ऋत्विक्परिषदों से युक्त आचार्य के विना यज्ञ सम्पन्न नहीं किया जा सकता वैसे ही नय विना किसी नियन्ता के चल नहीं पाता, जिसकी सहायता के लिए होती हैं मन्त्रियों की परिषदें।

राजा रामचन्द्र के सत्तासीन होते ही धर्म की प्रतिष्ठा राज्य में हुई और किसी को भी भय नहीं रहा किसी प्रकार का -

स धर्मनीत्या विशदेन चेतसा प्रजास्तथाऽतोषयदीश्वरोत्तमः।
यथा यमोऽपि व्रजिता अभीततां यथा च कल्पेऽपि गता अयाचिताम्॥
तथा च सौराज्यसुखं भुवस्तले स भूमिपालः कृतवान् यथा दिवः।
अमर्त्यभावात् स्खलिता दिवौकसश्चकांक्षुरेतन्निजकर्मभूमिकाम्॥[17]

---

14 उ.सी., 1.39
15 उ.सी., 1.53
16 उ.सी., 1.57
17 उ.सी., 2.5-6

राजा रामचन्द्र ने शुद्ध चित्त से धर्मनीति द्वारा प्रजा को इस प्रकार से सन्तुष्ट किया कि उसे यमराज से भी भय नहीं रहा और उसे कल्पवृक्ष से भी याचना की कोई आवश्यकता नहीं रही। पृथ्वीतल पर राजा रामचन्द्र के शासक रहते प्रजाओं में ऐसा सौराज्यसुख उपस्थित हुआ कि देवयोनि से लौटते देवताओं ने पृथ्वीतल को ही अपनी कर्मभूमि बनाना चाहा।

राजा होता है समाज में वर्णाश्रम व्यवस्था का प्रतिष्ठापक। श्रीरामचन्द्र ने अयोध्या में वर्णाश्रम व्यवस्था को इस प्रकार जमाया कि चारों पुरुषार्थ उनके वशवर्ती हो गए।

ख. समाज का सच्चा स्वरूप -

सीता परित्याग के विषय में महाकवि का मानना है कि इसमें दोष राम का है। वे राम के मुख से कहलवाते हैं कि -

ममैव किन्त्वत्र परिच्युतात्मनस्त्रुटिर्यदेषा जनतास्त्यशिक्षिता।
पितुः स दोषः शिशुरत्ति यद् विषं भिषग् हि वाच्यो यदि वर्धते रुजा॥[18]

श्रीराम मानते हैं कि भगवती सीता के चरित्र पर लांछन लगाने वाली अयोध्या की जनता अशिक्षित है। उसके अशिक्षित होने में कारण वे ही हैं। यदि बालक विष खाता है तो इसमें उसके पालक पिता का दोष है कि उसको विष खाने से रोका नहीं और वैद्य भी निन्दा का पात्र होता है यदि वह विषभक्षण से होने वाले रोग को रोक नहीं पाता। राम के द्वारा स्वयं को दोषी माना जाना महाकवि की नयी कल्पना है। राम की दृष्टि में सीता पवित्र थीं, उन पर लगा लांछन निराधार था। राजकीय दायित्व से बंधे होने के कारण उनको व्यक्तिगत भावना की रक्षा की अपेक्षा लोक को महत्व देना पड़ता है।

सीतापरित्याग के प्रसंग में महाकवि आदर्श समाज के प्रति अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि परस्पर दृढ़ विश्वास की भूमिका पर ही समाज प्रतिष्ठित हो सकता है। इसमें अनिवार्य है भावनात्मक ऐक्य तथा स्वार्थ को सर्वथा विगलित कर सामाजिक हित को सर्वोपरि रखने की प्रवृत्ति। कवि के अनुसार जो ऐसा नहीं करता वह समाज में रहने की योग्यता नहीं रखता -

यदि विश्वसनस्य भूमिकामुपरिष्टाच्च मनुष्यभावनाम्।
अधिकृत्य च संप्रवर्त्यते न समाजः स, महद्धि तच्छलम्॥[19]

विश्वास की भूमिका पर प्रतिष्ठित, मनुष्य की भावना को अपनाकर उसका समादर करने वाला निःस्वार्थी जनसमूह ही समाज कहलाने योग्य है। जो ऐसा

[18] उ.सी., 2.26
[19] उ.सी., 4.48

नहीं होता वह समाज नहीं, एक महान् छल है। अयोध्या की जनता ने भगवती सीता के प्रति इस प्रकार का व्यवहार नहीं दिखाया। उनके चरित्र पर आरोप लगा कर सिद्ध कर दिया कि अयोध्यावासी समाज की सच्ची भावना से सर्वथा अपरिचित रहे आए।

सनातनकवि के अनुसार समाज की सत्ता स्थिरता प्राप्त करती है ऐसे महा-पुरुषों के संकल्पों से जो सत्य एवं असत्य का निर्भीक, निश्छल, निष्पक्ष भाव से निर्धारण करने में समर्थ हैं। कवि के अनुसार परमार्थ के विवेचन में महान् पुरुषों द्वारा अपनायी गयी सदसद्विवेचिका निश्छल बुद्धि ही मानवता को कृतकृत्य कर सकती है -

परमार्थविचारणेऽत्र चेत् सदसन्नीररजोविवेचनीम्।
अधिकृत्य न सम्प्रवर्त्यते न समाजः स, महद्धि तच्छलम्॥[20]

इसी का परिणाम था कि राम चाहते हुए भी सीता के अयोध्या से हटकर पुनः गर्भगुर्वी अवस्था में वन जाने के प्रस्ताव का विरोध नहीं कर सके। वे सद्सद्विवेकी जरूर थे, परन्तु उनका यह गुण सीता परित्याग को रोकने में काम नहीं आता। उनका लोक के प्रति दायित्व उनको रोक रहा था कि वे अपने व्यवहार से अयोध्या के जनवासियों को पुनः आक्षेप करने का अवसर न प्रदान करते। महाकाव्य में उपस्थित इस दृश्य से स्पष्ट होता है कि राजा को अपने आदर्श की रक्षा के लिए व्यक्तिगत सुख का भी सर्वथा परित्याग करना पड़ता है।

सामाजिक व्यक्ति के लिए सत्य व धर्म की उपासना सर्वोपरि है। सनात-नकवि के अनुसार सत्य की उपासना में तत्पर एक निर्भीक व्यक्ति के सम्मुख सौ असत्यभाषी भी यदि विपरीत प्रलाप करें तो वे वैसे ही ठहरते हैं जैसे सूर्य के समक्ष उलूक पक्षी -

ऋतमेकमुपासितुं जने यतमानेऽनृतभाषिणः शतम्।
उदिते रविमण्डलेऽन्यथा प्रलपन्तो न न कौशिकोपमाः॥[21]

सीतापरित्याग इस आदर्श के विपरीत घटता दिखाई देता है। लोक की बेड़ी राम को इस आदर्श को चरितार्थ करने से रोकती है। जो समाज सीता को लांछन युक्त घोषित कर सकता है उसको समय के वश में छोड़ देना ही उचित है। काल सर्वोपरि होता है इसका समाधान करने वाला।

समाज की प्रतिष्ठा धर्म के अनुपालन से है जिसका निर्णय लोकमत से नहीं किया जा सकता। धर्म नित्य व शाश्वत पदार्थ है, जिसकी सत्ता सापेक्ष न होकर

[20] उ.सी., 4.49
[21] उ.सी., 4.42

निरपेक्ष होती है सर्वथा। लोकमत से निर्णय किये जाने पर 'अधर्म' भी 'धर्म' सिद्ध हो सकता है और ऐसी स्थिति में कानों को तपा देने वाला 'अधर्म' शब्द कोष से निकाल देना पड़ेगा -

यदि लोकमतेन केवलं क्रियतां धर्मविनिर्णयो बुधैः।
तदधर्म इति श्रवस्तपा श्रुतिरेवास्तु निघण्टुनिःसृता॥[22]

सनातनकवि के इन वचनों में सीता परित्याग के दंश का प्रतिकार छिपा है। लोकमत से सीता को दोषयुक्त मानना राम का अपराध था। शाश्वत रूप से धर्म के समान सीता पवित्र रही आयीं। ऐसा जानते हुए भी अज्ञानी लोक द्वारा उनको दोषी सिद्ध किए जाने पर राम द्वारा उसका प्रतिकार न किया जाना अधर्म का साथ देना था, ऐसा महाकवि का मानना है।

सनातनकवि ने अपनी कविता में भारतीय सामाजिक शिष्टता का सटीक चित्र खींचा है। कवि के अनुसार सुरुचि में संयम का अनुपालन ही है भारतवर्ष की शिष्टता। महर्षि पतंजलि के योगशास्त्र में प्रसिद्ध यम-नियमों के संयम में सुरुचि इसके अनन्तर महत्व रखती है और सबके ऊपर स्वभाव की सहृदयता से पूर्ण सौम्य व्यवहार मनुष्य को समाज में रहने योग्य बनाता है -

सुभगरुचिषु संयमः क्रमेषु, यमनियमेषु च सौभगं रुचीनाम्।
इयमिह किल शिष्टताऽस्मदीया सहृदयता-सचिव-स्वभावसौम्या॥[23]

अयोध्या का समाज इस सहृदयता से अपरिचित था। अन्यथा वह भगवती के चरित्र पर दाग लगाने की सोच भी नहीं सकता था। सौम्य होना सामाजिक व्यक्ति के लिए अनिवार्य है, क्योंकि वही लोकोपकार का मूल है। भगवती सीता के चरित्र पर उंगली उठा कर अयोध्या की जनता ने प्रचारित कर दिया की उसमें सौम्य प्रकृति का अभाव है।

सनातनकवि के अनुसार भारतीय समाज वही है जिसमें ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों का योग प्रतिष्ठित हो। योग से तात्पर्य है तीनों का ही समभाव से सेवन। इसमें तर्क, भावना और क्रिया तीनों का ही महत्त्व है। वही समाज सफल हो सकता है जो ईश्वरैक्य की दार्शनिक भूमिका (तर्क) पर प्रतिष्ठित होकर भी सहृदयता से अनुप्राणित हो तथा निरन्तर अपनाता रहे उत्साहजनित क्रियाशीलता को। इन तीनों में से किसी एक का भी असन्तुलन सामाजिक उत्कर्ष में बाधक सिद्ध हो सकता है। राष्ट्र को सुचारु रूप से चलाने के लिए अपेक्षित है ऐसी ही परिषद्।

[22] उ.सी., 4.41
[23] उ.सी., 6.32

अयोध्या का परित्याग करने के लिए राजमहल से निकली सीताजी पहले अपनी बहनों के महल की तरफ जाती हैं उनसे विदा लेने के लिए। यहां सनातन-कवि ने उर्मिला इत्यादि सभी बहनों के मुख से सनातन दाम्पत्य के आदर्श स्वरूप को प्रस्तुत कराया है।

सनातनकवि ने यहां स्त्रीसम्मान को सर्वोपरि माना। उनके मत में प्रत्येक समाज के समानरूप से दो मजबूत स्तम्भ होते हैं स्त्री और पुरुष दोनों ही। पुरुष पुरुषार्थ के चौरस्ते पर बने चबूतरे पर आरूढ़ होकर जब मार्ग जानना चाहता है तो स्त्री ही मर्यादा, शास्त्र और युग(समाज) के अनुरूप उसका दिशानिर्देश करती है। इस प्रकार स्त्री और पुरुष दोनों के ही व्रत समाज के सुचारु रूप से संचालन में महान् सिद्ध होते हैं -

पुरुषः पुरुषार्थचत्वरे पदवीं ज्ञातुमितोऽभिलष्यति।
महिला समयं परीक्ष्य तां दिशतीत्येवमुभौ महाव्रती॥[24]

समाज में पुरुषार्थ की सिद्धि के यज्ञ में प्रधान आहुति देने का दायित्व होता है पुरुष का जो गृहस्थ हो। परन्तु ऐसा नहीं है कि इससे स्त्री का महत्त्व कम हो जाता है। दाम्पत्य में स्त्रीविवेक की रक्षा अनिवार्य है। पुरुष के भ्रमित होने पर धर्माचरण में तत्पर स्त्री ही उसको सन्मार्ग पर लाती है सही रास्ता दिखा कर। यह है भारतीय दाम्पत्य का आदर्श स्वरूप जो इस प्रकार के महाव्रत के पालन में स्पष्ट उपस्थित दिखाई देता है।

सनातनकवि के अनुसार स्त्री और पुरुष दोनों के परस्पर समन्वय से ही समाज का संचालन सम्भव हो सकता है। कवि ने दोनों को एक दूसरे का पूरक माना। स्त्री यदि वर्तिका है तो पुरुष उसमें प्रकाश का आधान करने वाला दीपक। स्त्री अपने प्रकाश से समाज के अन्धकार को दूर कर उसको सत्पथ पर चलने में समर्थ बनाती है। कवि के अनुसार -

प्रमदाप्यथ मानवं श्रिता सदशं दीपमिव प्रभा तमः।
परिवर्त्तयितुं प्रगल्भते जगतीमानसकल्मषं भृशम्॥[25]

वर्ती से युक्त दीपक पर देदीप्यमान प्रभा के समान है स्त्री जो समाज में प्रतिष्ठित पुरुष पर निर्भर होकर जगत् के कालुष्य की अन्धेरी रात को काटने में भलीभाँति समर्थ हुआ करती है।

---

[24] उ.सी., 4.54
[25] उ.सी., 4.56

सनातन कवि कहते हैं कि यदि लोक की इस मर्यादा को पुरुष अपनी ओर से नष्ट करता है तो अबला मानी जाने वाली स्त्री को प्रबला बन जाना चाहिए, विश्वकल्याण के लिए।

ग. दाम्पत्य की सर्वोपरि प्रतिष्ठा के सूत्र -

दाम्पत्य की सफलता के लिए अपेक्षित अभूतपूर्व सूत्रों से समन्वित है 'उत्तरसीताचरितम्'। महाकवि के अनुसार भारतवर्ष के दाम्पत्य जीवन में चेतना को महत्त्व दिया जाता है न कि भोग के साधनभूत दृश्यमान पांचभौतिक नश्वर शरीर को। कवि का मानना है कि मानवशरीर के प्रत्येक कण में चेतना वैसे ही स्फुरित रहती है जैसे मेघों में निरन्तर व्याप्त रहती है चमकती सौदामनी या विद्युत्। दाम्पत्य के स्थायित्व के लिए इस चेतना में निरन्तर प्रवहमान रहनी चाहिए कल्पवल्ली सी सौमनस्य रूपी आकाशगंगा। यह प्रवाहित होती है प्रत्येक क्षण परिस्थिति तथा औचित्य के तटों के मध्य होकर -

तत्र कल्पलतिकेव सौमनस्याभ्रसिन्धुरुपबृंहते न वा।
सा परिस्थितिसमौचितीतटद्वन्द्वतो निरवधीयते न वा॥[26]

यहां सनातनकवि ने समाज के स्थायित्व के लिए सार्वभौमिक सूत्र का उपदेश दिया है। इसको अपनाने से सौमनस्य की प्रतिष्ठा अपरिहार्य है और समाज का सर्वविध कल्याणपूर्वक सुख तथा शान्ति के मार्ग पर निरन्तर अग्रसर होना भी। परिस्थिति के अनुसार औचित्य का निर्धारण कर सत्पथ पर चलते रहना प्रत्येक दम्पती का सर्वोपरि दायित्व है। इसी में निहित है उसकी पारिवारिक सफलता।

सनातनकवि के मत में दाम्पत्य का सच्चा उपासक पुरुष अपनी चितिरूपी त्रिमार्गगा को गर्वरूपी पर्वत के शिखर से उतारकर सामरस्य की वसुन्धरा पर प्रवाहित करते हुए अनन्तता के समुद्र तक पहुँचाए। इसी प्रकार दाम्पत्य की सच्ची उपासक स्त्री पुरुषविषयक स्नेह के अद्वितीय व अन्तरंग सिन्धु को पहुँचाए प्रकर्ष के उच्चतम शिखर तक। ऐसा होने पर ही आर्यभूमि की मिट्टी में उत्पन्न दम्पती स्वयं को सफल समझ सकते हैं -

मानवी निजचितित्रिमार्गगां गर्वशैलशिखरान्निपातयेत्।
किं च तां समरसाद् वसुन्धरापृष्ठतोऽम्बुधिमनन्तमापयेत्॥[27]
स्नेहसिन्धुमपि पुरुषाश्रयं प्रोत्तरंगमसमं प्रकर्षयेत्।
आर्य-भूतल-रजोरुहं ततः प्राप्तजीवितफलं स्वमुद्विशेत्॥[28]

[26] उ.सी., 3.48
[27] उ.सी., 3.50
[28] उ.सी., 3.51

मनुष्य की चेतना से गर्व का विगलन समन्वय के बीज को पोषित करता है। स्त्री के चित्त का स्नेह की मधुर धार से सिंचन हो पुरुष के सामर्थ्य से एकाकार हो जाना दाम्पत्य की गंगा को आचमन योग्य बना देता है।

भारतीय सामाजिक चेतना में निरन्तर प्रवहमान दाम्पत्य के इन सूत्रों को सनातनकवि ने अपनी कविता में प्रतिपद अनुस्यूत किया है। इन सूत्रों का सच्चा अनुपालन प्रत्येक सामाजिक प्राणी की जीवनवल्लरी को रससिक्त कर पाने में अप्रतिम रूप से समर्थ होता है।

घ. शिक्षानीति का आदर्शस्वरूप -

उत्तरसीताचरित महाकाव्य में भारतीय शिक्षानीति के आदर्शस्वरूप तथा उसके उद्देश्यों पर सनातनकवि ने वाल्मीकि महर्षि के मुख से प्रकाश डाला है। कवि के अनुसार कुलपति या आचार्य अपने शिष्यों में संस्कृति की जो छाप छोड़ते है वह समय के साथ बढ़ती जाती है पुरुषार्थों की निरन्तर सफल परिणति के लिए -

कुलपतिरथवा महोपदेष्टा शिशुषु परं सृजतीह संस्कृतिं स्वाम्।
इयमुपचिनुते लतासधर्मा फलयितुमेव च जन्मनः फलानि ॥[29]

शिक्षानीति ऐसी होनी चाहिए जो विनीत व स्वाभिमानी नागरिक तैयार करे, जिनका साहस भगीरथ हो, जिनकी गति अप्रतिहत हो तथा अपने वंश व समाज को अपनी विद्या के अमृतरस से सिञ्चित करने में समर्थ हों -

प्रतिहतगतिरस्तु मा मनुष्यः पठतु भगीरथसाहसस्य विद्याम्।
अभिजन-जन ते सरस्वतीनाममृतसरांसि समर्प्य तोषयेच्च ॥[30]

सनातनकवि के अनुसार सन्तान को शिक्षित करने के लिए समर्पित प्रत्येक माता-पिता प्रजा के हित में निरत धर्म की दृढ़भित्ति के समान हैं -

भवति हि भवती प्रजार्थतन्तुस्थितिविषये दृढमूलधर्मभित्तिः ॥[31]

पृथ्वी की रक्षा में दक्ष सुवर्ण सी विशुद्ध आर्यशक्ति से स्फुरित बच्चों को उनकी रुचि या अन्तःप्रकाश के अनुरूप शिक्षा में प्रशिक्षित करना चाहिए। ऐसा करने पर ही शिक्षकों का प्रयास सफल हो सकता है। ऐसा न करने वाले शिक्षक जल को अग्नि के रास्ते खींचते प्रतीत होते हैं। इससे प्रतिभा का विनाश सुनिश्चित है जिससे नष्ट हो जाती है प्रत्येक राष्ट्र की कल्पवल्ली सामाजिक सर्जनात्मकता -

[29] उ.सी., 7.22
[30] उ.सी., 7.23
[31] उ.सी., 7.24

व्रजति विफलतां सतां प्रयासो रुचिपयसां शिखिवर्त्मकर्षणेन ॥[32]

सनातनकवि के मत में विद्यार्थी भी वही सफल है जो विषयरूपी तालाब के जल में कमलपत्र के समान निर्लेप रहकर अपने हृदयाकाश को मलिनता के बादलों से न घिरने दे -

अथ च कमलपत्रतां दधाना विषयसरोऽम्भसि नीरजस्कभावात् ।
हृदयगगन आविलाभ्रभावैरनिविडतां समुपार्जयन्तु सर्वे ॥[33]

पारम्परिक बोध के महत्व को स्वीकार करने के प्रति सनातनकवि ने प्रत्येक विद्यार्थी को सतर्क किया है। इन्द्रियों के सामर्थ्य के संरक्षण में ही सन्निहित है जीवन के आदर्शस्वरूप की प्रतिरक्षा। ब्रह्मचर्य का अनुपालन आत्मानुशासन से सम्भव है जो युवा चेतना में अपूर्व आध्यात्मिक सामर्थ्य का उत्पन्न करता है, जिससे वह समर्थ होता है विश्व के समस्त संघर्षों को सहन करने में। जितेन्द्रियता से उत्पन्न आत्मानुशासन से रहित सामाजिक प्राणी तथा विशेषकर युवाचेतना को विषय की आंधी अपने वश में कर विनाश के अनन्त अन्धकार में विलीन कर देती है। ऐसी चेतना निःश्रेयस से कोसों दूर आत्यन्तिक विनाश के विपरिणाम से ग्रसित हो जन्मजन्मान्तर के कालुष्य का वरण करती है।

महाकवि के अनुसार प्रजा की प्रतिष्ठा रूपी परमलाभ की सिद्धि भारतीय शिक्षानीति का उद्देश्य रहा है। ऐसा न होने पर ज्ञानप्राप्ति का उत्तम से उत्तम अध्यवसाय भी निष्फल सिद्ध होता है -

सुपठितमपि भूयसा वृथैव द्विजललने ! भवतीह पण्डितानाम् ।
यदि भवति न तत् प्रजाप्रतिष्ठा परमफलाय निवासिनां समाजे ॥[34]

शिक्षानीति की दृढतापूर्वक प्रतिष्ठा से बनते हैं आदर्श नागरिक जो समाज तथा राष्ट्र के आदर्श नियामक होते हैं। सामाजिक सौमनस्य तथा व्यक्ति के सात्विक उत्साह की रक्षा के लिए यह अनिवार्य है।

आचार्यवर्ग को उसके सामाजिक दायित्व के प्रति सतर्क करते हुए महाकवि कहते हैं - प्रत्येक सुशिक्षित व्यक्ति का सर्वोच्च दायित्व बनता है कि वह समाज के प्रत्येक व्यक्ति के हृदय को प्रकाशराशि की उज्ज्वलता से पर्याप्त रूप से देदीप्यमान करे। शास्त्रों का परिशीलन कर सामाजिक दायित्व से विरत हो जाने वाला तथा विपक्षगामी जनों को रोकने का स्वल्प प्रयत्न भी न करने वाला व्यक्ति परम स्वार्थी होता है -

---

[32] उ.सी., 7.25
[33] उ.सी., 7.40
[34] उ.सी., 7.29

स हि परमतपो निजार्थदर्शी भवति जनः परिशील्य यस्तु शास्त्रम्।
विपथगतिजुषां गतिर्निरोद्धु विरततया यतते न लेशतोऽपि ॥[35]

शिक्षानीति से जुड़े शासकीय सुविधा तथा अर्थलाभ के निरन्तर पात्र प्रत्येक सामाजिक व्यक्ति का अनिवार्य दायित्व है कि वह अनीति का उन्मूलन करने में अपनी सात्विक आहुति अवश्य प्रदान करे। इसी में उसकी शिक्षा की सार्थक परिणति निहित है। महाकवि के इस वक्तव्य में शिक्षाजगत् से जुड़े प्रत्येक व्यक्ति का समाज के प्रति दायित्व मुखर हुआ है कि वे सत्य से परे अनीति का निष्पक्ष व निर्भीक हो विरोध करें। ऐसा करने से भी समाज को सही दिशा मिल सकती है तथा राष्ट्र भी सुरक्षित रह सकता है।

शिक्षानीति के माध्यम से तैयार होने वाला निरस्ततम अन्तःकरण तथा निरोगी काया वाला युवा ही राष्ट्र की रक्षा करने में समर्थ हो सकता है। महाकवि के अनुसार महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में तैयार होने वाले बालक इन दोनों गुणों से समन्वित हो रत्न के समान देदीप्यमान हो रहे थे -

निरस्ततमसावन्तर्बहिस्तरुजौ च तौ।
अन्वहार्ष्टां समुल्लेखशुद्धौ रत्नमहापलौ ॥[36]

अनुशासित चित्तवाले युवा हि दायित्व की धुर को वहन कर सकते हैं सफलतापूर्वक। सनातनकवि के अनुसार अनुशासित चित्तवाले व्यक्ति को राष्ट्रोन्नति का दायित्व प्रदान किये जाने पर ही राष्ट्र में श्री की वृद्धि सम्भव है -

अनुशासितचेतःसु तेषु दायित्वधूरभूत्।
पर्याप्तप्रसरा लक्ष्मीर्यथा वक्षसि शार्ङ्गिणः ॥[37]

सदाचार तथा सद्विचार से विनीत छात्रों से युक्त कुलपति के कुल में ही राष्ट्र उच्छ्वसित होता है और संस्कृति प्राणवती -

राष्ट्रमुच्छ्वसिति स्मात्र प्राणिति स्म च संस्कृतिः।
सदाचार-विचारौ हि तयोः प्रभव आदिमः ॥[38]

भारतीय शिक्षानीति के आदर्श स्वरूप को अनेक पद्यों के माध्यम से सनातनकवि ने प्रस्तुत किया है। इसमें निहित है भारतीय पारम्परिक बोध के प्रति दृढ़ आस्था के स्वर। सदाचार, आत्मानुशासन, सद्विचार विद्योपार्जन के सूत्र हैं।

[35] उ.सी., 7.32
[36] उ.सी., 8.6
[37] उ.सी., 8.11
[38] उ.सी., 8.13

1.2 स्वातन्त्र्यसंभवम् -

'उत्तरसीताचरितम्' की रचना के 22 वर्षों बाद सनातनकवि ने संस्कृतजगत् को 'स्वातन्त्र्यसंभवम्' नामक महाकाव्य प्रदान किया जिसमें भारतवर्ष का वर्तमान चित्रित है। यह महाकाव्य सन् 1990 में सर्वप्रथम 28 सर्गों में प्रकाशित हुआ था। सन् 2000 में हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित इसके द्वितीय संस्करण में 33 सर्ग हो गए और आज की तारीख में प्रकाशित तृतीय संस्करण में सनातनकवि ने इसको 75 सर्गों तक पहुँचा दिया है जिनमें लगभग 6064 पद्य हैं। आज यह महाकाव्य 110 सर्गों में उपनिबद्ध हो चुका है। भारतीय तथा विश्वक्षितिज पर निरन्तर घटित होती घटनाएं इसका विषय बनती जा रही हैं। इस महाकाव्य को रामजन्मभूमि सम्बन्धी विवाद के 2019 के न्यायालय के निर्णय पर्यन्त पहुंचा दिया है।

इस महाकाव्य का भावलोक दार्शनिक रहस्यों व प्रतीकों से समन्वित है। अलंकृत वाक्यों में जहाँ एक ओर इस महाकाव्य में रसमयी उक्तियों का जमघट है वही दूसरी ओर मानवधर्म, देशभक्ति, तथा वर्तमान युग की परमावश्यकता साम्प्रदायिक सद्भाव को कवि ने सच्चे अर्थों में परिभाषित किया है। इन तत्त्वों का सच्चा अनुशीलन प्रत्येक समाज की स्थिरता के लिए अपरिहार्य है।

क. मानवधर्म -

मानवधर्म स्वातन्त्र्यसंभवम् में ठीक से परिभाषित है वह है नियमाश्रित यम - 'यमनियमौ धर्मः'। पातञ्जलयोगसूत्र में प्रतिपादित शौच (आन्तर व बाह्य), सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान इन नियमों के साथ अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन नियमों का पालन ही धर्म है। यह विश्वमानव का धर्म है न कि किसी राष्ट्र, समाज या वर्गविशेष का

सर्व्वात्मना या खलु सर्वदैव सर्व्वाणि सर्व्वेष्वपि देहभृत्सु।
करोति मातेव तनूद्भवेषु वैराण्यनुत्थानपराहतानि॥
यस्यां न वाणी मनसा कदापि धत्ते विसंवादमयं विरोधम्।
बिम्बेन साकं प्रतिबिम्बमूर्त्तिर्यथाऽतिशुद्धे मुकुरे स्वभावात्॥
परस्य यत् तत्र तु वस्तुजाते विनाऽभ्यनुज्ञामधिकारभाजः।
नयो न यस्यां मनुतेऽधिकारं प्राणात्ययेष्वप्युपपादितेषु॥
या ब्रह्मचर्यस्य परात्परस्य क्षोदीयसीमप्यधिकोशषट्कम्।
स्वप्नेऽपि वै ग्लानिरुजं न जातु प्रभुर्विसोढुं मनसाऽप्यलक्षि॥
गर्धाग्रयो यां करणेषु दग्धुं समुत्सहन्ते न कदापि दान्ताम्।
यामष्टमूर्तिर्भगवान् धिनोति स्वयं, ततो या न परिग्रहिष्णुः॥[39]

[39] स्वा.सं., 3.14-18

भारतीय जीवनपद्धति में शैशव में विद्याभ्यास, वय के मध्यभाग में सृष्टि का हित तथा अन्त में अधिकार पाया जाता है तम से पार शाश्वत ज्योति पर शान्ति प्राप्त करने हेतु -

या शैशवेऽभ्यस्तसमस्तविद्या मध्यं वयः सृष्टिहिते निधाय।
ज्योतिःषु नित्यं तमसः परेषु प्रलीय शान्तिं क्षमतेऽधिकर्त्तुम्॥[40]

ख. साम्प्रदायिक सौहार्द्र -

स्वातन्त्र्यसम्भवम् में समाज की स्थिरता तथा शान्ति के लिए अपेक्षित साम्प्रदायिक एकता के तत्त्व ओजस्वी स्वर में मुखरित हैं। यहाँ साम्प्रतिक समस्या हिन्दू-मुस्लिम वर्गभेद के पक्षधर राजनीतिक नेताओं पर करारी चोट की है कवि ने। हिन्दू-मुसलमानों के मध्य घातप्रतिघात की राजनीति करने वाली साम्प्रदायिक ताकतों का मूल उद्देश्य भोगेच्छा है और उसके लिए अर्थलिप्सा भी। कवि के अनुसार 'मन्दिर उठकर मस्जिद से कलह करने नहीं जाता और न ही मस्जिद मन्दिर से। तो फिर लड़ने वाला है कौन? वस्तुतः लड़ने वाला है इन दोनों सम्प्रदायों के दिखावटी प्रतिनिधियों का दर्प रूपी सर्प जिसका विष (गरल) है अभिमान (अतिमान)। अतः यह राजनीतिक दलों व इन सम्प्रदायों के विपर्यस्त प्रतिनिधियों का अभिमानरूपी विष से भरा दर्परूपी सर्प ही सम्प्रदायों के मध्य भेद उत्पन्न करता है।'

नो मस्जिदेन कलहायति मन्दिरं ते नो मस्जिदं च कलहायति मन्दिरेण।
यस्त्वत्र हन्त कलहायति सोऽतिमाननामाभिमानगरलः खलु दर्पसर्पः॥[41]

सम्प्रदायों के मध्य समन्वय भारतवर्ष में युगों युगों से स्पष्ट दिखाई देता है माउण्ट आबू के पर्वतों के मध्य जहाँ एक ही पर्वत पर एक और अचलेश्वर महादेव पूजे जाते हैं आज भी, तो दूसरी तरफ जैन तीर्थंकरों के अद्भुत देवालय प्रतिष्ठित हैं। यदि सम्प्रदाय लड़ते तो उनके उपासनास्थल की एक ही स्थान पर पूर्ण सम्मान के साथ शताब्दियों तक प्रतिष्ठा टिक नहीं पाती[42]।

आचार्य द्विवेदी के अनुसार मनुष्य का अन्धा उन्माद ही उसे उकसाता है दूसरों की पूजापद्धति व पूजास्थानों पर आक्षेप व आक्रमण करने के लिए, न कि सम्प्रदाय विशेष के मूलग्रन्थ या उनके संस्थापक। मुसलमान का यह कहना कि उसके सम्प्रदाय के अनुयायी का शव मृत्यु के बाद सुख से कब्र में सोता है तथा

40 स्वा.सं., 3.13
41 स्वा.सं., 18.50
42 स्वा.सं., 15.23-28

उसका पुनर्जन्म नहीं होता जबकि हिन्दुओं का शव जलकर राख हो जाता है और उसका पुनर्जन्म होता है, मनुष्य-मात्र की भर्त्सना है। यह सब झूठ है, पूर्वाग्रह ग्रसित है तथा इन्द्रियों की भयंकर क्षुधा की शान्ति का व्यर्थ प्रयास मात्र है -

ज्वलति मृतकस्त्वेषामस्माकमेष सुखं स्वपि-
त्यधिमहि, पुनर्जन्मश्राद्धा इमे न वयं तथा।
इति मतिरपि द्वैधीभावाय किं ननु कल्पतां
खनति न हि किं हिन्दूर्भिक्षुं पुनर्भव-रेचितम्॥
वयमिह नमस्कुर्म्मः प्राचीमिमे बत पश्चिमां
रविममुमिमे चन्द्रं चामी वयं खलु मन्महे।
अयमपि मृषावादः, सायन्तने सवने प्रति-
प्रतिपदमिहाप्यैक्यं नो कुत्र केन नु वीक्ष्यते॥
निजनिजमतिस्थेमा, पूर्वग्रहः, करणक्षुधा,
बहुविधपथाध्वन्यानेतान् विभाजयते यदि।
तदिह न मृषैवैष न्यक्कारपात्रतया महान्
कलुषितमते! जन्तो! स्वात्मा त्वया परिभर्त्स्यते?॥[43]

कवि के अनुसार हजरत मुहम्मद और युधिष्ठिर दोनों ही धर्मराज थे, क्योंकि दोनों ही किसी भी स्थिति में झूठ नहीं बोलते थे। मृत्यु सभी को अपना ग्रास बनाती है चाहे वह राम हो या रावण, युधिष्ठिर हो या दुर्योधन, कृष्ण हो या कंस व हिरण्यकशिपु। सभी का अस्तित्व स्थिरता को तभी प्राप्त करता है जब उनकी प्रवृत्ति आदर्श बने भावी पीढ़ी के लिए। परस्पर संघर्ष शरीर के साथ अहंकार के नष्ट हो जाने से स्वतः विलीन हो जाता है। यदि आज का समाज इस तथ्य को स्वीकार कर ले तो हम केवल भौगोलिक सीमाओं में ही बटे रह जायेंगे, सम्प्रदायों के आधार पर हृदय से नहीं। इसी में निहित है आज की आतङ्कवाद की विभीषिका का सर्वमान्य समाधान जो स्थायी हो सकता है।

हिन्दू और मुस्लिम में केवल शब्दमात्र का भेद है। कवि पूछता है कि शिखासूत्रधारी ब्रह्मराक्षस और पिता के हत्यारे मुसलमान को किस वर्ग में रखा जाय। रावण ब्राह्मण था, पर तपस्वियों का हत्यारा, कौरव क्षत्रिय थे परन्तु प्रवृत्ति से म्लेच्छ सिद्ध हुए। गजनी का सुलतान मुसलमान था उसने सोमनाथ के रत्नमन्दिर को तोड़ा। सभी कालकवलित हो गए। उनकी प्रवृत्ति उनके अहंकार की तुष्टिमात्र तक सीमित थी जो उसके साथ नष्ट हो गयी। मनुष्य की प्रवृत्ति प्रधान है। यदि वह दोषयुक्त है तो हिन्दू को भी मुसलमान बना सकती है और शुभ तो मुसलमान को

[43] स्वा.सं., 14.61-63

भी हिन्दू। भाषाओं और उपासनापद्धति मात्र ने सभी को अलग कर रखा है।[44]

धार्मिक स्वभाव का अभूतपूर्व उद्घोष मिलता है स्वातन्त्र्यसम्भवम् के निम्न पद्य में -

टेस्टामेण्ट-गुरुग्रन्थ-कुरान-श्रुतिरूपिणे।
स्वस्त्यस्तु वाङ्मयायान्तःप्रशमायाद्वयात्मने॥[45]

अर्थात् ईसाइयों का टेस्टामेण्ट, सिखों का गुरुग्रन्थ, इस्लाम का कुरान और हिन्दू का वेद ये सब अन्तरात्मा की शान्ति की शिक्षा में एक ओर अभिन्न है। अच्छा हो कि ये सब बचे रहें।

राष्ट्रभक्ति भारतीय सामाजिक चेतना का अभूतपूर्व अलंकरण है। राष्ट्रभक्ति की भावना का अभूतपूर्व पोषण किया है महाकवि ने 'स्वातन्त्र्यसंभवम्' के एकादश सर्ग में हंस व पद्म के मध्य संवाद के माध्यम से। कवि यहाँ प्रणाम करते हैं भारतवर्षरूपी विष्णु को जिसने सुमेरु से लेकर दक्षिणाब्धि पर्यन्त संपूर्ण पृथिवी को अवेष्टित कर रखा है तथा जिसके चरणयुगल पखर रही है रत्नाकर महोदधि तथा दक्षिणाब्धि की त्रिवेणी।

आ दक्षिणाब्धिप्रसरं सुमेरोर्मूर्ध्नो धरां व्याप्य समुल्लसन्तम्।
अब्धित्रिवेणी प्रणताङ्घ्रिमूलं वन्दामहे भारतवर्षविष्णुम्॥[46]

मनुष्यतारूपी गिरिराजकन्या के अस्तित्व की सार्थकता तभी है जब वह अपर्णा बन एक ही ओर दत्तदृष्टि से और अकुतोमुखी होकर अपने अन्दर विद्यमान तपस्विनी को संतृप्त करे (11.11)। तपश्चर्या ही सफलता व स्थायित्व का मूल है इससे रहित मनुष्य क्षणिक इन्द्रियसुख की प्राप्ति मात्र तक सीमित रह जाता है। जीवन की सफलता का मूलमन्त्र छिपा है कवि के इस पद्य में। न केवल मनुष्य अपितु देवताओं में भी प्रवृत्ति की शुद्धि कार्यसिद्धि का आधार होती है।

ग. राष्ट्रभक्ति -

महाकाव्य के एकादश सर्ग में हंस-पद्म संवाद उपनिबद्ध है। हंस है भगवती भारती के करसरोज तथा चरणयुगल के स्पर्श से सौभाग्य से सिंञ्चित महिमामण्डित मति वाला प्राणी जो विद्वन्मण्डली द्वारा भी वन्दनीय है जबकि पद्म अल्पज्ञ और जड़ है, जल में उत्पन्न होता है तथा तिरस्कार का पात्र है। परन्तु, ग्रीष्मऋतु में अपने आश्रय 'सरसी' के विपद्ग्रस्त हो सूख जाने पर चेतन व बुद्धिमान् होते हुए भी हंस

44 सर्ग 33
45 स्वा.सं., 33.103
46 स्वा.सं., 2.7

मानससरोवर की ओर प्रस्थान करने का संकल्प लेता है। इसके विपरीत जड़ होते हुए भी पद्म उस सरसी रूपी माता का विपत्ति में भी परित्याग नहीं करता जिसने उसको पाला, बड़ा किया और पहुँचाया उस सौन्दर्य तक जिसकी कीर्ति कवियों में प्रतिष्ठित हैं। कवि के अनुसार विनाशी या क्षणिक वे हैं जिनमें स्नेह की तरलता का अभाव है। विपत्ति के समय अपने मूल से जुड़े रहना ही निष्ठा की सही पहचान है। निदाघ में सरसी का परित्याग कर पुनः शरद् में उसको अपना लेना स्वार्थी हंस की पहचान है जबकि निदाघ से संतप्त सरसी के साथ संतप्त हो पुनः शरद् में उसकी पुष्कल जनराशि में खिल उठना पद्म की पहचान है। इसी एकनिष्ठता में निहित है राष्ट्र की वास्तविक सुरक्षा व उन्नति।

प्रत्यब्दमेव मम देहमिमं निदाघः
क्लिश्नात्यहं न चलतां क्वचिदाश्रयामि।
जानाम्यनश्वरमथो स्थिरमेकमेव
स्नेहस्रुतिस्नपितमानसभावमार्य॥
यूयं प्रयात सरलोऽहमपक्षयेऽपि
नो मूढवत् क्वचन गन्तुमितः समीहे।
भूयोऽपि मानसमणीनपहाय सद्यः
साक्षात्करोमि बिसतन्तुबुभुक्षितान् वः॥[47]

हंस जिन आकर्षणों से प्रेरित हो विपद्ग्रस्त अपने आश्रय सरसी का निदाघ में परित्याग कर, मानससर जाने का संकल्प करता है वे सभी पद्म के लिए अत्यन्त तुच्छ हैं, क्योंकि उसकी दृष्टि में सर्वोपरि है अपनी मातृभूमि के हित में जन्म और मृत्यु दोनों। वह हंस से कहता है - 'मुझे मानससरोवर के समीप स्थित प्रिय नहीं लगता सुरराज का सद्म, न प्यारा पद्मपति का घर या गिरीश देवाधिदेव भगवान् शिव का। मैं तो चाहता हूँ केवल इतना कि मेरी मातृभूमि के हित मे मेरा जन्म भी पुनः हो और मरण भी।'

नास्त्येव मे रुचिकरं सुरराजसद्म
पद्मापतेः प्रियगृहं गिरिशस्य यद्वा।
वाञ्छामि केवलमहो मम मातृभूमेर्
भूयाद्धिताय जननं मरणं च भूयः॥[48]

भारतवर्ष का राष्ट्रध्वज यहाँ निवास करने वाले प्रत्येक नागरिक को प्रेरणा देता है तितिक्षा (त्यागेच्छा) की, शुचिता की तथा प्रहर्ष की क्रमशः अपने तीनो रंगो से।

[47] स्वा.सं., 11.39-40
[48] स्वा.सं., 11.44

रंगत्रिके पाणिधृतस्य केतोराद्ये तितिक्षां स्म पठन्ति वीराः ।
शुचित्वमाभ्यन्तरिकेऽन्तिमे च प्रहर्षमुच्चैः प्रतिरोधकेभ्यः ॥[49]

भारतवर्ष के इस तिरंगे राष्ट्रध्वज में प्रकाशित इज्या, भूति और तितिक्षुता को गति सिसृक्षा और सृति के माध्यम से प्राप्त करने की प्रेरणा देता है इसमें अंकित चक्र -

इज्या च भूतिश्च तितिक्षुता च गतिं सिसृक्षां च सृतिं च यस्मिन् ।
तर्कुच्छलेनाभ्यवपद्य राष्ट्रियं त्रिरंगेऽभ्यपुषन् स्वकेतौ ॥[50]

भारतवर्ष का क्रान्तिवीर शान्ति का उपासक है। उसके लिए शान्ति बेटी हुआ करती है क्रान्ति की। शान्ति रूपी विदेहराज की पुत्री (जानकी) का दशास्य रूपी आङ्ग्लशासन से बलपूर्वक उद्धार कराने के लिए ही वीर क्रान्ति का आश्रय लेते है। हमारे वीरों का लक्ष्य अन्य को प्रताड़ित करना नहीं, व्यर्थ ही, अपितु शान्ति की प्रतिष्ठा व आत्मरक्षा है।

शान्तिं फलादूर्ध्वमशन्ति वीराः क्रान्तेस्तनूजा ननु साऽदसीया ॥[51]
शान्तिर्विदेहस्य सुता, दशास्यात् तां क्रान्तिरेवोद्धरति प्रसह्य ।
समुद्रमाभन्स्यत किं नु रामः प्रामापयिष्यत् यदि शान्तिमेकाम् ॥[52]

भगवान् राम यदि केवल शान्ति को लेकर चलते तो उन्होंने समुद्र पर पुल नहीं बॉधा होता। अतः क्रान्ति है गरुड की काकोदरों (सर्पों) के आचूर्णन में पण्डित बुद्धि -

क्रान्तिः प्रचण्डा विनतासुतस्य काकोदराचूर्णनपण्डिता धीः ॥[53]

घ. भ्रष्टाचार का उन्मूलन -

परवर्ती सर्गों में महाकवि ने वर्तमान राजनीतिक एवं सामाजिक परिदृश्य का सच्चा रूप उकेरते हुए उसकी समालोचना प्रस्तुत की है। महाकवि ने इस महाकाव्य के प्रकाशित अंश को अन्ना हजारे के 2011 में भ्रष्टाचारविरोधी आन्दोलन तक लाकर समाप्त कर दिया है। कवि ने अन्ना हजारे के आन्दोलन का आंखों देखा चित्र वर्णित किया है। यहां भारतीय राजनीति तथा उसके परिष्कार के लिए दृढव्रत अन्ना हजारे तथा बाबा रामदेव के प्रयासों को कवि ने जीवंत रूप से चित्रित

49 स्वा.सं., 9.64
50 स्वा.सं., 9.66
51 स्वा.सं., 9.54
52 स्वा.सं., 9.55
53 स्वा.सं., 9.56

किया है। इस महाकाव्य के 71वें सर्ग में महाकवि ने लोकसभा के चुनाव में भारतीय जनता पार्टी की पराजय का वर्णन किया है। सामाजिक स्थिति को कवि ने सत्यतया उकेरा है इस प्रकार अपनी कविता में। कवि के अनुसार वर्तमान समाज के पतन का कारण है अपने पारम्परिक सदाचार के मार्ग का मनुष्य के द्वारा निःसंकोच होकर परित्याग करना तथा उन्मुक्तता के मार्ग को अपनाना। प्रतिक्रिया से ग्रस्त सामाजिक प्राणी सामाजिक समरसता के सूत्र का परित्यागकर स्वार्थमात्र की यथाकथंचित् सिद्धि में संलग्न हो राष्ट्रीय हित की साधना से सर्वथा पराङ्मुख होता दिखाई दे रहा है। राजनीतिक दबाव में आकर शिक्षालयों में नियुक्त किए जा रहे हैं अयोग्य प्रियजन। इससे प्रतिभा का विनाश होता है। सम्पर्कसूत्र के अवलम्बन से सर्वथा रहित सामान्य प्रतिभावान् विद्यार्थी निराश्रित हो निराशा के घोरान्धकार में विलीन हो जाता है। इसको महाकवि ने राष्ट्रीय प्रातिभोन्मेष का क्षय माना है। इन पद्यों में महाकवि ने राष्ट्रीय हित की उपेक्षा में निरन्तर संलग्न समाज में व्याप्त पक्षपातपूर्ण व्यवहार का सच्चा चित्र उकेरा है -

यो ब्राह्मणः स खलु शूद्रति यश्च शूद्रः
स ब्राह्मणं नयनरेणुकणं विभाव्य।
न्यक्कार-गर्त्त-परिपातन-कर्म-भावं
वाढं निनीषति शृणोति न तस्य वादम्॥[54]
ये वै कुलाधिपतयः कुलपाश्च मूर्ध्नि
न्यस्तं करं विविधमन्त्रिण आत्मनस्ते।
निर्भीति योग्यजनमाशु विलङ्घ्य हेतोः
कस्मादपि प्रियजनं च निवेशयन्ते॥[55]

स्वातन्त्र्यसम्भव महाकाव्य के 72 वें सर्ग में महाकवि ने अयोध्यामन्दिर सम्बन्धी न्यायालय के निर्णय का वर्णन किया है। 73 वें सर्ग में महाकवि ने सामाजिक कार्यकर्ता अन्ना हजारे महोदय के आन्दोलन का वर्णन किया है। अन्ना ने 12 दिनों तक भ्रष्टाचार को नियन्त्रित करने के लिए लोकसभा द्वारा लोकपाल अध्यादेश को पारित कर राष्ट्रीय स्तर पर लागू करने के लिए भारतवर्ष की राजधानी नई दिल्ली में अनशन किया था और शासन के द्वारा उनकी मांगों पर विचार करने का आश्वासन मिलने पर उन्होंने अनशन तोड़ा। महाकवि ने अन्ना हजारे के इस अनशन का प्रत्यक्ष चित्रण किया है तथा इस जननायक की त्यागपूर्ण जीवनपद्धति तथा जिजीविषा को उकेरा है इस प्रकार -

अन्ना ब्रवीति क्वचनापि नाहं भवामि निर्वाचनलाभलिप्सुः।

[54] स्वा.सं., 71.73
[55] स्वा.सं., 71.74

राष्ट्रस्य सौस्थ्याय समृद्धये च श्रितव्रतोऽहं तु जनेषु वर्त्ते ॥
आवश्यकं मेऽस्ति दिनावसाने रोटीद्वयं तु द्विदलेन युक्तम् ।
निवासहेतोश्च मम प्रकोष्ठमेकं हि पर्याप्तमितोऽधिकं नो ॥
नास्ते तु किञ्चिद् व्यसनं मदीयं धूमं धयाम्येष कदापि नैव ।
पीतं न चायं, न तमालपत्रं स्पृष्टं मया गोपयसाऽस्मि पुष्टः ॥
न मच्छरीरेऽस्ति तु रक्तचापबाधा न वै काचन माधुमेही ।
चित्तेन चाप्यस्मि सदैव रागद्वेषापरागामृतसेकसिक्तः ॥[56]
आकाशाख्यं वितानं दधति मम समे भूमिलोके निवासः
सोऽयं सर्वोऽपि लोको भवति मम बृहत् सद्म तस्मिन् वसामि ।
नास्ते चिन्ता च काचिन्मयि सुतदयिताद्यस्य पाल्यस्य, वित्तं
षट्साहस्रीमितं मे प्रतिनियतमथो वेतनं मासपूर्त्तौ ॥[57]
स्वीकुर्वन्तुतरामिदं, यदि न तत् कुर्वन्तु रिक्तं पदं
घोषं त्वेतममी स्मरन्ति यदि चेत् सुस्थान्तराः सांसदाः ।
भ्रष्टाचारविरोधिनां स्वर इह ध्यानं प्रदद्युर्न चेत्
कुर्वीरन्नपरं हि षोडशममी निर्वाचनं सांसदाः ॥[58]

शासकीय सत्ता के सुख की प्राप्ति से प्रेरित होकर राजनेताओं को सार्वजनिक जीवन में सक्रिय नहीं होना चाहिए। उनका एकमात्र उद्देश्य होना चाहिए सामाजिक तथा राष्ट्रीय उन्नति के प्रति समर्पितभाव से संलग्नता। यही राजनेता का सही लक्षण है। इस भावना से प्रेरित होकर सार्वजनिक जीवन में प्रवर्तमान राजनेता राष्ट्र से भ्रष्टाचारपूर्ण आचरण के उन्मूलन में सहायक सिद्ध हो सकते हैं तथा राष्ट्रीय आचरण तथा सर्वविध वैभव की रक्षा तथा समृद्धि में सहायक भी। महाकाव्य के प्रकाशित अंश का अन्तिम पद्य ध्यातव्य है -

षट्साहस्रीतिहासोऽयं महाकाव्यतयोद्गतः ।
सनातनस्य मे भूयादामोदाय सचेतसाम् ॥[59]

2014 में केन्द्रीय सत्ता में भारतवर्ष की जनता द्वारा पूर्ण बहुमत से वर्तमान भाजपा सरकार के आरूढ होने पर सनातनकवि ने उपस्थित राजनीतिक परिदृश्य को पुनः शब्दों में उकेरना शुरू किया और यह महाकाव्य आज तक पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित 75 सर्गों के आगे 35 नवीन सर्गों से समृद्ध होकर 110 सर्ग तक पहुंच गया है। सनातनकवि ने इसमें रामजन्मभूमि के 5 अगस्त 2020 को

[56] स्वा.सं., 75.78
[57] स्वा.सं., 75.81
[58] स्वा.सं., 75.98
[59] स्वा.सं., 75.147 ॥

हुए शिलान्यास तक की भारतवर्ष की कथा को प्रस्तुत कर दिया है। इस प्रकार स्वातन्त्र्यसम्भवम् महाकाव्य शताब्दी का सबसे बड़ा संस्कृत महाकाव्य सिद्ध होता है। इसमें भारतवर्ष का जीवित इतिहास प्रत्यक्ष प्रतिबिम्बित है।

2014 तक के भारतीय तथा विश्व क्षितिज पर घटित हो रहे परिदृश्य को प्रस्तुत करने के उपरान्त महाकवि आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी ने इस महाकाव्य में भारतवर्ष के राजनीतिक परिदृश्य को प्रस्तुत करने का संकल्प लिया। महाकवि कहते हैं कि उन्होंने षट्साहस्री संहिता को पूरा कर दिया था जिसमें डा. मनमोहन सिंह तक के प्रधानमन्त्रित्व को प्रस्तुत किया गया -

षट्साहस्रीसंहिता पूरिता हठात्।
मनमोहनसिंहस्य प्राधान्यं त्वत्र पूर्यते॥[60]

2014 के आमचुनाव में श्री नरेन्द्र मोदी द्वारा सत्ता परिवर्तन किए जाने पर महाकवि कालिदास की अभिज्ञानशाकुन्तल की उस उक्ति का सनातकवि ने स्मरण किया है जिसमें प्रातःकाल एक तरफ अस्त होता हुआ पूर्णिमा का चन्द्र दिखता है पश्चिम दिशा में तो दूसरी तरफ पूर्व दिशा में उदित होता हुआ प्रकाशमान सूर्य का बिम्ब दिखाई देता है। यही दृश्य उस समय भारतीय राजनीति में भी उपस्थित हुआ -

अत्र स्मृतिमुपायाति शाकुन्तलमहाकवेः।
तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदसंकथा॥[61]

श्री मोदी तपस्वी हैं जिनको आज प्रधानमन्त्रिपद प्राप्त हुआ। यदि मनमोहन सिंह पुरुषोत्तम हैं तो मोदी है महात्मा। कभी भी कौन पुरुषोत्तम चाहेगा महात्मा का उल्लंघन कर स्वयं प्रभुत्व में बने रहना। मनमोहन सिंह जी ने चुनाव नहीं लड़ा पर मोदी जी ने दो दो जगह से चुनाव लड़ा। एक गुर्जर प्रदेश के बड़ोदरा से और दूसरे काशीनगरी से जिसके सामने राष्ट्र की राजधानी दिल्ली भी किंकरी प्रतीत होती है -

श्रीसिंहवर्यः पुरुषोत्तमोऽस्ति मोदी महात्मा च तपस्विवर्यः।
कं वा महात्मानमपास्य कुर्यान्निजाधिकारे पुरुषोत्तमो हि॥[62]

महाकवि ने मोदी शासन की सर्वविध उन्नति की कामना की है -

यावद् वर्षति वारि वारिदघटा भूमीतले, किंशुकाः

[60] स्वा.सं., 77.1
[61] स्वा.सं., 77.3
[62] स्वा.सं., 77.5

प्रोद्यन्नूतनकोरकाः कनकितं कुर्वन्ति यावन्नभः ।
यावत् संस्कृतभारती परतमां विद्यां निधत्तेऽपरां
यद्वत् तावदियं नरेन्द्रविजयश्रीर्जायतां सुस्थिरा ॥[63]

जब तक भूमितल पर मेघ जल बरसाते रहें, किंशुक अपने नवीन फूलों की सुवर्ण आभा से आकाश को स्वर्णिम बनाते रहें, संस्कृत भारती अपनी सर्वोच्च अवस्था में स्थित रहे, तबतक देश में श्री नरेन्द्र मोदी की विजयश्री स्थिरता को प्राप्त करती रहे।

2019 में हुए 15 वीं भारतीय संसद के आमचुनाव के परिदृश्य को महाकवि ने विशद रूप में प्रस्तुत किया है। वर्तमान शासन के राष्ट्रीय स्तर पर लिए गए लोककल्याण के निर्णयों के साथ महाकवि ने उसकी नीतियों की समीक्षा की है। आतंकवादियों द्वारा कश्मीर में अशान्ति फैलाने के लिए किए जा रहे प्रयासों को भारत सरकार ने वायुसेना के प्रहारों से ध्वस्त कर दिया। विश्वपरिदृश्य पर साथ ही घट रही घटनाओं को भी यथासम्भव स्थान प्रदान किया है जो भारतीय राजनीति को प्रभावित करने में महत्त्वपूर्ण रहीं। महाकवि विश्वमानव के कल्याण की कामना करते हैं और राजनीति को मानवकल्याण का सर्वोच्च साधन मानते हैं।

महाकवि ने केन्द्र सरकार द्वारा जम्मू-कश्मीर की मुक्ति के लिए वहां की विशेष धारा को समाप्त करने सम्बन्धी निर्णय की प्रशंसा की है। इसमें दृढता दिखाई वर्तमान गृहमन्त्री श्री अमित शाह ने[64]। महाकवि ने काशी विश्वनाथ मन्दिर परिसर के उद्धार को भी अपनी कविता का विषय बनाया है। काशी विश्वनाथ मन्दिर परिसर के चतुर्दिक व्याप्त अव्यवस्था को व्यवस्थित विधि से समाप्त कर परिसर को एक नवीन रूप प्रदान किया जाना वर्तमान सरकार की उपलब्धि है। श्रीमोदी और श्रीअमित शाह ने भारतावनि के यश को सभी समुद्रों से परे पहुंचाया और विश्व को आशाबन्ध, प्रणयपरता, साहस और विश्वास का पाठ पढ़ाया। फ्रान्स और अमेरिका जैसे राष्ट्र भी सौमनस्य पूर्वक विश्वस्तर पर राजनीति करने के पक्षधर होते दिखाई देते हैं[65]। महाकवि कामना करते हैं कि इसी प्रकार हमारे सभी तीर्थस्थलों का उद्धार हो जिनको कभी आक्रान्ताओं ने नष्ट-भ्रष्ट किया। इन स्थानों पर विधर्मियों के धार्मिक स्थलों का होना स्वतन्त्र राष्ट्र में शल्य के समान है। इस हृत्शूल को उखाड़ फेंकने में ही हमारी समझदारी है[66]।

---

63 स्वा.सं., 82.87
64 स्वा.सं., 108.1
65 स्वा.सं., 108.13
66 स्वा.सं., 108.24

प्रधानमन्त्री की अमेरिका यात्रा के दौरान ह्यूस्टन नगर में हुए उनके नागरिक अभिनन्दन को महाकवि ने विस्तार के साथ प्रस्तुत किया है। भारतवंशियों द्वारा किया गया श्रीमोदी का अभिनन्दन भारतीयता का अभिनन्दन था, पर कहाँ, अमेरिका की धरती पर, जिसमें वहाँ के राष्ट्रपति समान रूप से उपस्थित रहे[67]। 2019 में आए श्रीरामजन्मभूमिविवाद निर्णय को 110वें सर्ग में महाकवि ने प्रस्तुत किया है। महाकवि का मानना है कि अब तक हम सबेरे उठ कर जब अपना चेहरा दर्पण मे देखते थे तो नाक कटी ही दिखाई देती है। रामजन्म भूमि के निर्णय के उपरान्त यह नाक हमको जुड़ी दिखने लगी -

प्रत्यहं प्रबुद्धः सनातनः स्वं मुखं प्रेक्षे।
खण्डितनासं सम्प्रति वीक्षे किंचित् प्ररूढनासं धिक् ॥[68]

आक्रान्ताओं को दी गयी भूमि से महाकवि अप्रसन्न हैं - दस्युर्दस्युः सिद्धः तस्मै देयो महादण्डः - इस मान्यता के हैं महाकवि। दस्यु को भूमि देकर पुरस्कृत नहीं किया जाना चाहिए।

महाकाव्य के वर्तमान में लिखित अन्तिम 110वें सर्ग की समाप्ति पर महाकवि ने भरतवाक्य प्रस्तुत किया है -

अस्माकं हिमवान् प्रभातसमये पश्येत् सदा स्वं मुखं
कन्याब्धौ, परिपार्श्वयोश्च विदधीतादर्शयोः संस्क्रियाम्।
सौवर्णी च सुमेरुशृंगरुचिभिर्दीप्तिः सदा राजताम्
कल्पेषु प्रतिसंचरेषु च सदाऽऽत्मस्वच्छतायोगिनाम् ॥[69]

महाकवि ने इस भरतवाक्य में कामना की है राष्ट्र की सर्वविध उन्नति की। सनातनकवि रेवाप्रसाद द्विवेदी कामना करते हैं कि यह देश सदा सर्वविध समुन्नतियों से भरापूरा रहे। हिमाचल के शिखर अपने मुखमण्डल की छवि कन्याकुमारी में स्थित दक्षिणाब्धि की त्रिवेणी में युगों युगों तक देखते रहें। सुमेरू के शिखरों का स्वर्णिम प्रकाश पार्श्व में स्थित दोनों समुद्र रूपी दर्पणों में चमचमाता रहे। कल्प कल्पान्तर तक हृदय की स्वच्छता के पक्षधर भारतभूमि के नागरिकों का यश अक्षुण्ण रहे।

महाकाव्य शान्तिपाठ के साथ पूर्णता को प्राप्त होता है। यहां महाकवि ने प्रत्येक अंश में सर्वविध शान्ति और सुख की प्रतिष्ठा की कामना की है। यही है भारतीय मनीषा के प्रातिभ उत्कर्ष की सर्वोच्च परिणति -

[67] स्वा.सं., 109.19
[68] स्वा.सं., 110.9
[69] स्वा.सं., 110.70

शान्तिः स्याद् दिवि, शन्तिरस्तु मरुतां, मार्गेऽस्तु शान्तिर्भुवि,
स्याच्छान्तिः सलिलेषु, दिक्षु च भवेच्छान्तिर्निताान्तं स्थिरा।
शान्तिः कर्मसु, शश्वदस्तु, करणग्रामेषु शान्तिर् भवेच्-
छान्तिः स्यादमरेषु, शान्तिरसुरेष्वास्ता च शान्तिनर्षु।[70]
शान्तिर्धेनुषु, शान्तिरूधसि, पयोधारासु शान्तिर्, घटे
शान्तिः, पाणिषु शान्तिराननचये शान्तिः सवैश्वानरे।
शान्तिर्भुक्तिषु, शान्तिरोजसि, दिशः शान्तिः, श्रवःशष्कुलौ
शान्तिर्वाचि नु, शान्तिरात्मसदने शान्तिर्धरित्रीतले॥[71]
शान्तिर्भूतचये, कलापरिकरे शान्तिः सविज्ञानके,
शान्तिः शक्तिषु, शान्तिरर्थनिचये, शान्तिः क्रियाकौशले।
शान्तिर्नौषु च नाविकेषु च पयोराशौ च शान्तिर्, दिशां
व्राते वायुषु गत्वर-स्थिर-नरेष्वास्तां च शान्तिर्मतौ॥[72]

सनातनकवि रेवाप्रसाद द्विवेदी की यह कामना यहां के निवासियों के संकल्प से पूरी हो यही हमारी परमपिता परमेश्वर से प्रार्थना है।

स्वातन्त्र्यसम्भवम् महाकाव्य युग का सबसे बड़ा महाकाव्य प्रमाणित होता है। 110 सर्गों की रचना इस महाकाव्य के आकारगत वैशिष्ट्य के साथ इसमें प्रतिपादित विषयों के महत्त्व को भी उकेरती है। ऐतिह्य के साथ महाकाव्य में भारतीय सनातन परम्परा के मूल्य प्रतिपद अनुस्यूत हैं। वर्तमान को सच्चे रूप से चित्रित करने का सामर्थ्य संस्कृत भाषा में है और आज भी यह भाषा भारतीय वाङ्मय को इस रूप में समृद्ध करती चली आ रही है यह ध्रुव सत्य इस महाकाव्य की रचना से दृढ़तापूर्वक स्थापित होता है।

1.3 कुमारविजयम् - अपने तृतीय महाकाव्य 'कुमारविजयम्' में आचार्य द्विवेदी ने रक्तपात के बिना ही शत्रु को परास्त करने के अहिंसाव्रत को अपनाया है जो वर्तमान समय की परम आवश्यकता है। महाकाव्य की पीठिका में प्राप्त होने वाले 8 पद्यों में महाकवि ने कालिदास के कुमारसम्भव के आठ सर्गों की कथा की सूचना देते हुए कहा है कि यह महाकाव्य महाकवि कालिदास के महाकाव्य की तार्किक सम्पूर्ति है। कालिदास ने कुमारसम्भव के अष्टम सर्ग में भगवती पार्वती और भगवान् शंकर के मिलन का वर्णन कर कुमार के जन्म की सम्भावना को बल प्रदान किया, परन्तु कुमार की उत्पत्ति, देवसेना नायक बनना, तारकासुर का

[70] स्वा.सं., 75.139
[71] स्वा.सं., 75.140
[72] स्वा.सं., 75.141

आतंक तथा विलय के साथ जगत् के स्वातन्त्र्ययोग प्रकाशित नहीं हो सका। इस स्थिति में कुमार से सम्बद्ध कथानक को प्रस्तुत करना अपेक्षित रहा आया। संस्कृत महाकाव्य परम्परा में इस कमी को दूर करने के लिए कुमारविजयम् की रचना हुई।

इस महाकाव्य में 11 सर्ग हैं। प्रत्येक सर्ग में 70 से अधिक पद्य हैं। सर्गों की संज्ञा है - तारकशक्तिप्रभावः, कार्तिकेयाग्निरूपः, अग्निमूर्तिस्तुतिः, पवमान-मूर्तिसमुद्रेकः, व्योममूर्तिस्तुतिः, चिदीश्वरस्तुतिः, तारकाविलयः, कुमाराभिनन्दनः, शिवोपस्थान, ब्रह्मदेवस्मितिः, शान्तिलाभः। इस महाकाव्य में शिवजी की अष्टमूर्ति की पंचीकरण प्रक्रिया द्वारा वैज्ञानिक पुष्टि, पृथ्वीरूप में प्रस्तुति, कुमारकार्तिकेय के षण्मुखत्व की वैज्ञानिक परिपुष्टि, कार्त्तिकेय की वधू थी देवसेना उसके प्रति पार्वती और परमेश्वर का वात्सल्य, कुमार का देवसेना के प्रति आकर्षण, देवसेना का कुमार के कार्यों में सहायता करना और कार्त्तिकेय द्वारा तारक का चित्तशुद्ध करना।

महाकवि ने देवसेना को कार्त्तिकेय की वधू के रूप में प्रस्तुत किया है। देवसेना कार्त्तिकेय के प्रति उसी प्रकार समर्पित है जिस प्रकार कोई पतिव्रता पत्नी अपने पति के कल्याण के लिए दृढ संकल्पित होकर जीवन व्यतीत करती है (1.16,17,18)। कुमार कार्त्तिकेय पृथ्वी, जल, तेज, वायु, अग्नि और आकाश इन पंचमहाभूतों के साथ चैतन्य रूपी षण्मुख को धारण कर सुशोभित हो रहे हैं। प्रकाशभूत सूर्य और चन्द्र को क्रमशः अग्नि और जल रूप में स्थित मान लेने पर अष्टमर्ति शिव के पुत्र कार्त्तिकेय का षण्मूर्तित्व स्वतः प्रमाणित होता है -

सूर्यो व्यतिक्रामति नैव वह्निं चन्द्रश्च नो वारि ततो गुहः सः।
षण्मूर्तिभावेन परां प्रसिद्धिं पेदेऽष्टमूर्तित्वमुपागतोऽपि॥[73]

सनातनकवि ने कार्त्तिकेय के इन सभी रूपों का चित्रण किया है। इनमें से चितिस्वरूप का स्तवन करते हुए महाकवि कहते हैं -

भूतं शरीरं प्रवदन्ति धीरा मृत्योरभीष्टं परमं तदन्नम्।
चितिस्तु तद् वै सततं स्पृशन्ती ततो विरुद्धैव सदैव भाति॥[74]
स्निग्धा चितिर्भजति मानुषभूतधात्र्या-
मस्यां समेषु हि जनेषु न नाम्बिकात्वम्।
या वक्षसः प्रसूमराममृतस्य धारां
स्तन्यात्मना परिणतिं गमितां बिभर्ति॥[75]

[73] कु.वि., 6.1
[74] कु.वि., 6.11
[75] कु.वि., 6.11,64

सनातनकवि ने यहां पंचमहाभूतों के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए उनके दुरुपयोग से उत्पन्न हो रहे असन्तुलन की महाविभीषिका से भी मानवमात्र को सावधान किया है। महाकवि का मानना है शत्रु गोली से नहीं अपितु प्रत्येक गोली में बैठी अम्बिका की शक्ति से मरता है जिसको प्रेरणा देते हैं भगवान् शिवरूपी जगत् कल्याण के स्वर -

न खलु गुलिकया विनाश्यतेऽरिः
प्रतिगुलिकं निभृताऽम्बिकात्ति वै तम्।
अथ च शिव इह स्थिताऽम्बिकां तां
प्रणुदति हन्त स एव च त्वमेव॥[76]

कुमारविजयमहाकाव्य में सनातनकवि ने तारकासुर नामक राक्षस का वध दिखाया है, परन्तु रक्तपात रहित युद्ध में। महाकवि के अनुसार तारकासुर नामक राक्षस को समाप्त करना सम्पूर्ण चराचरात्मिका प्रकृति का लक्ष्य है, क्योंकि उसने महाभूतों को प्रतिबन्धित कर दिया था। महाकवि का मानना है अन्धकार का विनाश प्रकाश से जैसे होता है वैसे ही बलशाली शत्रु को स्वतः निस्तेज करने के लिए सात्विक शक्तियों को अपने सामर्थ्य की सर्वविध वृद्धि करनी चाहिए।

इस महाकाव्य में सामाजिक संगठन के अनेक सूत्र मिलते हैं। महान् मति वाले निर्माण में विश्वास करते हैं न कि ध्वंस में। धर्म पृथ्वीतल पर कल्पवृक्ष के समान है जिसके अनुपालन से मधु से मीठे उत्कृष्ट रसायन उपजते हैं जो जरा मृत्यु के भय से मनुष्य को मुक्त कर देते हैं -

तानेव कांश्चन सुमानुषसत्तमान् वै
धर्माभिधाः सुरमहीरुहसत्तमाश्च।
आश्रित्य तत्तदभिजातरसायनानि
शक्ता भवन्ति मधुमिष्टफलानिसोतुम्॥[77]

सनातनकवि ने कामोपभोग की विकारजनकता की निन्दा की है। काम अवश्य है विधाता से मिली सौगात परन्तु इसका असंतुलित सेवन बुझा देता है मनुष्य के भीतर जल रहे दीपक को।

महाकवि का युद्ध विषयक दृष्टिकोण दार्शनिक भूमिका को धारण करता है। वे तेजस्तिमिरन्याय से अन्धकार रूपी आसुरी प्रवृत्ति का आत्मोन्नति रूपी तेज में अन्तर्भाव सिद्ध करते हैं। सनातनकवि ने अज्ञानान्धकार में डूबे कलियुग में

[76] कु.वि., 2.58
[77] कु.वि., 6.56

परमेश्वर में प्रपत्तियोग से अनुप्राणित ईश्वरोपासना के महत्त्व को स्थापित किया है। संसार में परमेश्वर की भक्ति के प्रधान होने पर मनुष्य में अमृतकला का उदय हुआ जिसका परिणाम रहा उपनिषद् का आविर्भाव। इसमें सत् और असत् दोनों प्रकार की कलाओं से युक्त तत्त्व का प्रतिपादन प्रधानता प्राप्त करता है।

सनातनकवि ने शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की उपादेयता, धर्म के सार्वभौमिक स्वरूप, भोगजन्य विकृतयों पर संयम की विजय आदि सार्वभौमिक महत्त्व के विषयों का महाकाव्य में प्रतिपादन कर महाकाव्य के महत्व को भी सार्वकालिक सिद्ध कर दिया है।

सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में यह दृश्य कुमारविजयम् में ही मिलता है जब गजानन व षडानन के साथ पति शंकर को साथ लिए भगवती पार्वती पहली बार ससुराल से मायके पहुँचती हैं। विवाहोपरान्त सपरिवार पुत्री पार्वती के पितृगृह (मायके) हिमालय पहुँचने पर माता-पिता हर्षातिरेक से भर उठते हैं। महाकवि कहते हैं कि -

पितुर्गृहमुपागता पतिगृहात् सुतेत्यादरा-
तिशीतिपरिपूरितौ किमु न चक्रतुस्तौ तदा।
महार्हमणिपुंजकं चक्रतुर्हिमाच्छादिते
निकेतनगतेऽङ्गणे विगुणवर्णबोध्यं स्फुटम्॥[78]

जब पार्वती हिमालय पहुंचती हैं तो कल्पवृक्ष ने सुगन्धित पुष्प बरसाए, जिसे देखकर हिमालय और मेना प्रसन्न हुए। पति के घर से पुत्री के पहली बार मायके आने पर माता-पिता ने उसके समादर में क्या क्या नहीं किया। उन्होंने कन्या के स्वागत में बहुमूल्य मणियां बिखेर दीं अपने घर के हिमाच्छादित आंगन में।

महाकवि कहते हैं -

पतिर्गृह उपस्थिता सपतिपुत्रका पुत्रिका
बभूव सुरशाखिनस्तल इव स्थिता तत्र वै।
इयेष मनसाऽपि यत् तददर्शदग्रे स्थितं
दृशा परिचुचुम्ब यद् तदभजत्वनाशास्यताम्॥[79]

पुत्रों और पति के साथ पार्वती के पिता के घर पहुँचने पर ऐसा प्रतीत हो रहा था कि वे कल्पवृक्ष की छाया में आकर खड़ी हो गयी हैं। उनकी सभी अभीष्ट वस्तुएं मानो स्वतः उपस्थित हो गयीं उनके आदर और स्वागत में।

[78] कु.वि., 11.6
[79] कु.वि., 11.7

पिता का घर पुत्री के आगमन से सैकडों विद्युत्प्रभाओं के समान चमक उठता है क्योंकि धरातल पर भवन आदि के सभी सन्निवेश चेतना की दीपिका से ही चमचमाते मिलते हैं -

पितृर्गृहमदीदिपत् तनयया तयाऽऽपूरितं
प्रभाभिरिव विद्युतां शतशताधिकाभिः समम्।
इयं हि चितिदीपिका यदवभासितं दीप्यते
धरातलसमागतं भवनसन्निवेशादिकं॥[80]

यहाँ जिस उल्लास का प्रदर्शन किया है मेनका व हिमालय ने वह परिचायक है भारतीय समाज में पुत्री के प्रति अनन्य स्नेह व आदरभाव का।

कुमारविजयमहाकाव्य में सनातनकवि ने उपजीव्य बनाया है शिवपुराण मे उपलब्ध कुमाराख्यान को। इस आख्यान में अपनी कल्पनाशक्ति से अनेक मौलिक चमत्कारकारी दृश्यों को जोड़ा है। इसमें प्रकाशित होती है महाकवि की अभूतपूर्व प्रतिभा। इन दृश्यों में महत्वपूर्ण हैं - सुरसेनाधिप का तारकासुर के साथ शस्त्रात्मक युद्ध न करना, देवसेना के तेज के समक्ष असुरसेनाधिप तारकासुर का स्वतः अपनी आसुरी प्रवृत्ति का परित्याग कर नतमस्तक हो जाना वैसे ही जैसे विवस्वान् के क्षितिज पर उतरते ही अन्धकार का विलुप्त हो जाना -

स तारकः संतमसोत्तमोऽभूद्, गुहश्च स ज्योतिरुदारशक्ति।
साम्मुख्यमेतद्द्वितयस्य मध्ये, युद्धायते स्म क्षणमात्रमेव॥[81]

महाकवि का मानना है भारतीय मेधा विनाशक प्रवृत्ति की विरोधी रही आयी है। चित्तमात्र के शोधन से मानसिक विकृति दूर की जा सकती है। रजक जैसे गन्दे वस्त्र को धोकर पवित्र कर देता है वैसे ही हमको आततायी का विनाश न कर उसके अन्दर स्थित विकार का विनाश करना चाहिए। इससे वह समाजोपयोगी बन सकता है। आज विश्व स्तर पर व्याप्त आतंकवाद का यह समुचित समाधान प्रतीत होता है। सनातनकवि महाकाव्य के भरतवाक्य में प्रार्थना करते हैं कि -

भवतु भगवान् प्रीतः सनातनेऽत्र वचः क्रमे
स खलु शिरसा कांचिच्चान्द्री दधाति कलां तु यः।
सहृदयवरा अत्रादध्युर्दृशं समुदारता-
स्फुरणरूचिरां काव्यं राराज्यते न यया विना॥[82]

[80] कु.वि., 11.8
[81] कु.वि., 6.20
[82] कु.वि., 11.73

सहृदय इस कृति को उदार हृदय से स्वीकृति प्रदान करें। जिनके सिर पर विराजमान है चन्द्रकला वे भगवान् इस रचना पर प्रसन्न हों। सहृदयश्रेष्ठ अपनी उदार दृष्टि इस महाकाव्य पर डालें क्योंकि उसके विना कवि की रचना प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त कर पाती।

2. खण्डकाव्य

2.1 प्रमथः - सनातनकवि द्वारा 1988 में विरचित इस खण्डकाव्य में 9 कवितायें संग्रहीत हैं जिनमें 350 पद्य हैं। इनमें अनेक विषयों को कवि ने अपनी कविता का आधार बनाया है। प्रमुख है प्रमथः नामक प्रथम काव्य जिसमें कवि ने तत्कालीन परमाणु युद्ध की विभीषिका के परिपाक को देखकर शान्ति की कामना की है। यहाँ प्रमथः है परमाणु शस्त्र जिसको जन्म दिया है विज्ञानवधू ने। कवि उसकी सर्वत्र शान्तिपूर्ण उपस्थिति की कामना करता है।

भगवन् परमाणुभिस्त्वदीये रचित भस्म ललाटचत्वरे यत्।
तदिदं परिकर्म रोचतां ते ननु विज्ञानमिदं तवैव भूतिः ॥[83]

भारतवर्ष के पड़ोसी राष्ट्र दशकन्धर के सदृश परमाणु शस्त्र सम्पन्न हों भारतवर्ष को मानो निगलने के लिए उद्यत हैं। कवि इनको सतर्क करते हुए कहते हैं -

दशकन्धर एष सावधानो भव शम्भो! स्तवने कविः स दक्षः।
दयसे यदि तत्र हे दयालो! विषपानं कुरुषे कथं मृषैव ॥[84]

स्तुति करने में निपुण है दशकन्धर, परन्तु भगवान् शंकर को सावधान रहना चाहिए। यदि वे उस पर दया करते हैं तो माना जायेगा कि उन्होंने व्यर्थ ही विष का पान किया।

चतुर्दशी नामक द्वितीय रचना में वैराग्य की अभिव्यक्ति प्रधान है। इसमें 14 पद्य हैं पूर्णिमारूपी शिव की स्तुति में क्योंकि उससे अधिक पद्यों की रचना संभव ही नहीं थी।

प्रलापाः नामक तृतीय कविता में 106 पद्य हैं जिनमें कवि ने धन की देवी लक्ष्मी को धिक्कारा है कि उसने गुणवानों का आलिंगन नहीं किया। कवि यहाँ आर्थिक वैषम्य पर दृढ़तापूर्वक प्रहार करता है -

निगमागमवर्ष्म यद्धि काव्यं प्रथमानं प्रविभाति मर्त्यभूमौ।
शृणु लक्ष्मि! तदस्ति मामकीनं श्वसितं यत् खलु मंगल त्रिलोक्याः ॥[85]

[83] प्र., 4
[84] प्र., 12
[85] प्र.प्र., 4

कवि आर्थिक रूप से विपन्न अवश्य है, परन्तु उसके द्वारा विरचित काव्य इतना समृद्ध है कि वह निगम और आगम दोनों की सूक्ष्मताओं से भरा है और मर्त्यलोक में सुशोभित हो रहा है। इसमें निहित सम्पूर्ण लोक के मंगल की कामना और यही है मानों कवि के हृदय में संचरित प्राणवायु।

निसर्गः नामक कविता में 150 पद्य हैं जिसमें कवि ने मात्सर्यरूपी अन्तःकरण में विराजमान दोषविशेष को लक्ष्यकर उस बिलाव को धिक्कारा है जिसने व्यर्थ ही प्रचलाकी (मोर) को काटा -

अयि सुन्दर! कश्चिदेव लोकेऽभ्युदयं वीक्ष्य परस्य हर्षमेति।
इतरेऽनुभवन्ति तप्तसूचीविनिवेशं नु दृशोः स वै निसर्गः ॥[86]
परिपश्यत कस्य वाऽद्य वृद्धिः शिखिनां वा यदिवा विडालकानाम्।
अयि पश्यत कस्य वा समृद्धिस् तमसां वा यदि वाद्य तापसानाम् ॥[87]

किं नु करोमि कविता में आचार्य द्विवेदी ने 43 पद्यों में नियतिचक्र के वैपरीत्य को धिक्कारा है - कवि के अनुसार मणियों की जपमालिका सर्पिणी बनकर काटने को तैयार है। कवि की कुण्ठित होती संवित् परितोष को प्राप्त नहीं करती क्योंकि सर्वत्र वैपरीत्य को देख वह विचलित है -

मम कुण्ठितकुण्ठिताऽस्ति संवित् परितोषं न लभे दिवा न रात्रौ।
कृशरेष्वपि मामकेषु रूक्षेष्वधुना यत् प्रपतन्ति काकराजाः ॥[88]

नमो विषाय नामक कविता अन्वर्थ संज्ञक है। कवि कहते हैं -

कुम्भोद्भवेन च भवेन च यस्य गोत्रे गात्रे च दर्शितचरा ननु नाशशक्तिः।
तत्रापि यस्य महिमाऽनुदिनं कुमारस्तस्मै नमो बत विषाय परात्पराय ॥[89]

मृत्यो! नामक 52 पद्यों की कविता में महाकवि ने विश्व के ध्रुव सत्य मृत्यु को लक्ष्य करके उसके स्वरूप का उद्घाटन करने वाले विचारों को प्रकट किया है। कवि कहते हैं कि मृत्यु तो चिता और गर्भ के बीच की सन्धि है इसके स्वरूप को समझ पाना कठिन है। समझ में नहीं आता कि धधकती आग के समान है मृत्यु या प्रातःकाल खिलते मनोहर कह्लार के पुष्प के समान -

कीदृग्विधं तव मुखं वद मित्र मृत्यो! किं भीषणं ज्वलनजालपरीतगर्भम्।
यद्वा मनोज्ञमुषसि प्रविभिद्यमानकह्लारकोपममथो विमुखायसे किम् ॥[90]

[86] प्र.नि., 21
[87] प्र.नि., 44
[88] प्र.किं., 43
[89] प्र.न., 1
[90] प्र.मृ., 3

कस्त्वं काम कविता में 13 ही पद्य हैं जिनमें कवि ने काम देवता के अपरिहार्य प्रभाव को प्रकट किया है -

कस्त्वं काम! स वामनस्य चरणः किं येन वर्धिष्णुना
तीर्णं विष्णुपदं मिता वसुमती श्रान्तो न यद्विक्रमः।
यद्वा किं पवनात्मजोऽसि शतशो बद्धोऽप्यबन्ध्योद्यमः
सर्वां स्वर्णपुरीं पितृव्य इति वै शोचिष्मते यो ददौ॥[91]

कवि कहते हैं कि वामन के निरन्तर बढ़ते हुए उस चरण के समान है कामदेव जिसने अपने एक पैर से सम्पूर्ण पृथ्वी को नापा और दूसरे से ब्रह्मलोक को, परन्तु फिर भी उसकी विश्व को नापने की इच्छा शान्त नहीं हुई। कवि प्रश्न करते हें कि कामदेव क्या उस पवनपुत्र के समान हैं जो बाँधे जाने पर भी अबन्ध्य ही रहा और जिसने सम्पूर्ण सुवर्ण नगरी को पितरों को दान करने हेतु अग्निसात् कर दिया।

भावाः नामक 26 पद्यों के काव्य में कवि ने जीवन के आन्तरिक द्वन्द्व को बखूबी निरूपित किया है। कवि कहते हैं कि निखिल वाङ्मय के तात्पयार्थ को जान लेने पर भी पण्डितेन्द्रों का चित्त भौतिक वैभव के आस्वाद सुख को प्राप्त करने से बच नहीं पाता -

विद्यामहे निखिल-वाङ्मय-पिण्डितार्थव्याहारसारकृतिनः खलु पण्डितेन्द्राः।
चित्तं मनागपि न मुंचति किन्तु चेत्यमाध्वीकवैभवमिदं परिभोगमुग्धम्॥[92]

2.2 शतपत्रम् - 113 पद्यों के इस खण्डकाव्य में सनातन कवि ने अनेक उपमानों के माध्यम से कविता के स्वरूप को निरुपित किया है। यहाँ कवि की काव्यभूमि उपनिषद् की भूमिका को छूती दिखायी देती है। कवि मानों आत्मवृत्त का ही प्रकाशन करते हैं इस प्रकार -

कविता हृदयस्य संविधानं तरलस्य प्रणयेन मुक्तबन्धम्।
वृणते परतन्त्रतां स्वतन्त्राः सुहृदो यत्र विना पराभियोगम्॥[93]

कविता है हृदय का संविधान परन्तु सर्वथा बन्धनों से मुक्त, क्योंकि इसमें नियतिकृतनियम (विधाता के द्वारा बनाए गए सर्वमान्य नियम) नहीं पाए जाते। कवि की चित् शक्ति में उत्पन्न होने वाले प्रतिबिम्बों का प्रतिबिम्बन ही है कविता जो मृत्यु के बन्धन का उल्लंघन करती हुई अमृत के आत्मविलास में विचरण करती है। कविता पराम्बा की ममता को प्रदान करती है, जो सभी कविहृदयों में निरन्तर प्रवहमान है -

[91] प्र.क., 1
[92] प्र.भा., 11
[93] श.प., 1

कविता चितिसीमनि स्वताया अमृतस्रोत उदस्तमृत्युतन्त्रम्।
उपदीकृतविश्वभूतियोगा ममकारः कविता पराम्बिकायाः ॥[94]

सर्गबन्ध के निर्माण में प्रवृत्त कविहृदय मानो ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है, कविता के रूप में, अपने स्वरूप का प्रकाशन करते हुए। कवि के अनुसार कविता चितरूपी मणिपंजर में रखी गयी हिरण्यवर्ण की शुकी है। कविता सवत्सा सुरभि की पुत्री है। कविता विकाररूपी समुद्र के लिए वडवाग्नि है। कविता सम्पूर्ण लोक के लिए उत्तम महौषधी है। कविता मनुष्य जाति का स्वस्तिवचन है -

कविता हृदयाभिधस्य धातुः स्वरितः कश्चन शब्दसर्गबन्धः ॥[95]
कविता मणिपंजरे चिदाख्ये विधृता कापि शुकी हिरण्यवर्णा ॥[96]
कविता सुरभेः सुता सवत्सा ननु मैत्रावरुणस्य नन्दिनी सा ॥[97]
कविता प्रतिमूर्च्छते विकारोदधये कश्चन वाडवः कृशानुः।
कवितौषधमुत्तमं चिकित्सावधितीर्णाय महाक्षयाय लोके ॥[98]
कविता स कपर्द ईश्वरीयो विधुना लाञ्छितविग्रहात् तु यस्मात्।
प्रभवत्यमरापगा त्रिलोक्याः परमं मंगलमम्मयीव गौरी ॥[99]
कवितोच्छ्वसितं त्रयीपुरन्ध्याः कविता स्वस्तिवचो मनुष्यजातेः।
कविता परमो विभूतियोगो विरजस्कस्य परात्परस्य पुंसः ॥[100]

सनातन कवि के मत में कविता प्रणम्य जनकात्मजा है न कि दशग्रीव की भुजाओं के जंगल में बँधी लंकापुरी। कविता वह अग्नि है जो लंकादहन के समय विदेहपुत्री के लिए भी शीतल हो गयी-

कविता जनकात्मजा नमस्या न दशग्रीवभुजाटवी न लङ्का।
सुहृदः कविता स कोऽपि वह्निः शिशिरोऽजायत यो विदेहपुत्र्यै ॥[101]

कविता का आधार है निगमागमसम्मत अमृतमय तत्त्व। इसमें विचरण करती हुई प्रतिभा से जन्म लेती है कविता -

निगमागमसंज्ञकौ सुतौ द्वौ प्रतिभापुंसवनी पुरः प्रसूयः।
प्रवयास्तपसा तु यां विलेभे तनयां तां कवितेति भावयामः ॥[102]

94 श.प., 4
95 श.प., 8
96 श.प., 10
97 श.प., 11
98 श.प., 16
99 श.प., 19
100 श.प., 32
101 श.प., 47
102 श.प., 106

निगम तथा आगम नामक दो पुत्रों को उत्पन्न करने वाली पुंसवनी प्रतिभा नामक नायिका जब वृद्धावस्था को प्राप्त हो गयी तब उसने अपने तप के परिपाक से कविता नामक कन्या को जन्म दिया।

काव्य के अन्तिम पद्य में कवि प्रणाम करते हुए कहते हैं कि कविता है शिव की पुत्री, उनका नित्य विलास, निरन्तर अमृतमय उद्गार से भरी प्रलय में भी विलीन न होने वाली, सौम्य स्वभाव वाली भगवती नर्मदा की अविरल धारा -

शिवयोर्दुहिता, तयोर्हि नित्यं विलसन्ती, सततं हि नर्मगर्भा।
प्रलयेऽप्यलया प्रसादसौम्या कविते! त्वं ननु नर्मदा, नमस्ते॥[103]

शतपत्रम् के माध्यम से कवि ने दर्शन, इतिहास तथा उक्ति वैचित्र्य इन तीनों को समरस कर दिया है इसमें कविता विषयक अर्थवाद की प्रधानता है। यह काव्य कविता का लक्षणशास्त्र बन बैठा है। 'प्रणय से द्रवीभूत हुए बन्धन से मुक्त स्वतन्त्र हृदय का उच्छ्वास होती है कविता' यह भाव सम्पूर्ण काव्य में सर्वत्र अनुगत है।

2.3 संस्कृतहीरकम् - काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विद्याधर्म विज्ञान संकाय के हीरक जयंती पर्व पर उसके इतिहास का लेखन है यह महाकाव्य। 1918 में संकाय की स्थापना हुई थी और इसका हीरक जयंती वर्ष 1989 में मनाया गया। 133 पद्यों के स्रग्धरा छन्द में उपनिबद्ध इस महाकाव्य में संस्कृत विद्या के निमित्त महामना मालवीय जी द्वारा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में किये गये उपक्रमों का इतिहास प्रस्तुत है। इसमें डॉ. रघुनाथ प्रसाद रस्तोगी पर्यन्त समस्त कुलपतियों का तथा संस्कृत संकाय के विख्यात विद्वानों का अवदान वर्णित है। खण्डकाव्य के द्वितीय भाग में 35 से भी अधिक विद्वानों, संतों, महात्माओं, राजनेताओं के अभिनन्दनपत्र संग्रहीत हैं। कवि ने इस काव्य का प्रारम्भ माता संस्कृत भारती की स्तुति से किया है। कवि कहते हैं -

आर्या संस्कृतभारती विजयते यस्या अकारे परं
ब्रह्म स्फूर्जति राजते च परमा माता हकारे सदा।
'त्वं तत्, तत् त्वमि'-ति स्फुटं जपति या मन्त्रं स्वरैः सप्तभि-
र्या पीयूषघटायते च भुवनस्वास्थ्याय भव्यात्मने॥[104]

2.4 श्रीरेवाभद्रपीठम् - भगवती नर्मदा के तट पर निवास करने वाले नागरिकों के सम्पूर्ण सांस्कृतिक प्रतिबिम्ब को प्रस्तुत करता है 149 पद्यों में उपनिबद्ध यह

[103] श.प., 113
[104] सं.ही., 2

खण्डकाव्य। सनातन कवि का जन्म भगवती नर्मदा के तट पर स्थित सीहोर जिले में पड़ने वाले नादनेर ग्राम में हुआ था। कवि की सम्पूर्ण चेतना आज भी वहीं विचरण करती है। सनातन कवि के मतानुसार नर्मदा का सम्पूर्ण क्षेत्र तीर्थ है -

तीर्थायते न खलु केवलमम्भ एव, पात्रं न वा, न च तटं सरितां स्रुतीनाम्।
तत्तीरगा जनपदा जनतास्तदीया जीवातवश्च न न तीर्थयितुं क्रमन्ते॥[105]

भगवती नर्मदा के तट पर निवास करने वाले नागरिकों की वेषभूषा, जीवन-पद्धति, दृढ़संस्कार, आध्यात्मिक उन्नति, व्यावसायिक वृत्ति, संस्कृति के संरक्षण का उद्योग, चारित्रिक वैशिष्ट्य, शस्य सम्पत्ति, अभीष्ट फल प्रदान करने वाली प्रकृति, शारीरिक सौष्ठव, धार्मिक भावना इत्यादि का प्रत्येक पद्य में कवि ने वर्णन किया है। सनातन कवि मानते हैं कि इस क्षेत्र में निवास करने वाले प्रत्येक व्यक्ति की समृद्धि की भूमिका को मेकलकन्यका का कृपा प्रसाद ही तैयार करता है -

यस्मै मेकलकन्यका भगवती वर्षात्यये शाटक-
द्वन्द्वेनैव ददाति रत्ननिचयान् पुण्योत्करस्यानुजान्।
तस्मै स्वस्थसमस्तगेहपतये ग्रामाय मेधाविना-
मुल्लासैकनिकेतनाय नतयः श्रीनादनेराय नः॥[106]

सभी दिग्पाल यहाँ दरिद्र प्रतीत होते हैं, क्योंकि इस क्षेत्र को संरक्षण प्राप्त है सभी सुखों को प्रदान करने वाली माता नर्मदा का, मातामह मेकल का, शोणभद्र मातुल का और हिमगिरि कन्यकारूपी मातुलानी का। सनातन कवि मानते हैं कि नर्मदाम्बारूपी श्रुतिमंगला कविता पृथ्वी पर निरन्तर प्रवहमान है, जिससे निरन्तर प्रसूति को प्राप्त करती है सहृदयों के हृदय में कोई अमृत की धार। भारतभूमि के मनस्वी महर्षियों को, जो कि यहाँ प्रकाशस्तम्भ के रूप में प्रतिष्ठित हैं, मौन का परित्याग कर राष्ट्र की रक्षा के लिए सन्नद्ध हो जाना चाहिये।

2.5 मतान्तरम् -

इस खण्डकाव्य में विधेय को निषिद्ध तथा निषिद्ध को विधेय सिद्ध करने के आधुनिक मनुष्य के स्वभाव पर कवि ने व्यंग्य किया है। 'रावण के समान व्यवहार करना चाहिए राम के समान नहीं' यही है आज का व्यवहार। राम के द्वारा इन्द्रियार्थ की सिद्धि में सहायक अपनी धर्मपत्नी के निमित्त किया गया रावण का वध उचित नहीं था, क्योंकि रावण था महापण्डित -

अहमस्मि मतान्तरस्य गाता ननु पौलस्त्यवधोऽस्ति रामदोषः।

---

105 रे.पी., पीठिका 5
106 रे.पी., 40

क्व नु दानववंश-सर्वनाशः क्व च पत्न्याः पुनराप्तिरिन्द्रियार्थः ॥[107]

कलाओं में आसक्त आचारहीन व्यक्ति आज कलामात्र में आसक्तों के द्वारा न केवल सम्मान पा रहा है अपितु शासन भी उनको सभी प्रकार की सुविधाएं प्रदान कर रहा है। अंग्रेजी भाषा के प्रेमी परम्परा से पुष्ट संस्कृत भाषा का तिरस्कार कर रहे हैं। यमुना के साथ अमृत को विखेरती भागीरथी निरन्तर बह रही है तब भी मनुष्य पशुत्व को प्राप्त कर मृत्युमुख का वरण कर रहा है। जो विधेय है उसको न करते हुए और जो निषिद्ध है उसको करने के प्रति समर्पित आज का जनमानस स्वतन्त्र होते हुए भी परतन्त्र ही है। उसको मानो इस प्रकार की मानसिक परतन्त्रता ने निगल रखा है ओर वह उससे बाहर आ ही नही पा रहा है या फिर आना नहीं चाहता -

क्रियते खलु तन्न यत्र चित्तं सजते, संसजते च यत्र तन्नो।
मनुवंशभवैरपि स्वतन्त्रैः परतन्त्रत्वनिगीर्णलोकयात्रैः ॥[108]

मनुष्य पशुओं के समान मारा जा रहा है व्याधिग्रस्त होकर जबकि अमृत का विकरण करती भगवती जाह्नवी आज भी यमुना के साथ बह ही रही है इस भारतभूमि पर -

वहति त्रिदशापगा पृथिव्याममृतत्वं दधती ससूर्यपुत्री।
प्रियमाणतया च बाध्यमानाः पशवोऽमी भरतावने! भवामः ॥[109]

वर्तमान के वैपरीत्य के प्रकाशक मतान्तरों को महाकवि ने इस प्रकार यहां उपनिबद्ध किया है।

2.6 शरभंगम् - अध्यात्मरहस्य नामक इस खण्डकाव्य में दण्डकारण्य में निवास करते वीतराग महर्षि शरभंग के चरित को कवि ने अपनी कविता का विषय बनाया है। इसमें चित्रित है भारतीय जीवनदर्शन। अध्यात्ममात्र के सुख का लाभ पाने वाली भारतीय चेतना सभी प्रकार के भौतिक सुखों के रहते हुए भी उनसे बंधती नहीं। देवराज इन्द्र स्वयं उपस्थित होते हैं देवर्षि शरभंग को स्वर्ग ले जाने के लिए। ऋषि की दृष्टि उस पथ पर थी जिससे भगवान् राम उनके आश्रम की ओर आ रहे थे न कि इन्द्र के रथ पर। वे भगवान् का दर्शन प्राप्त कर यज्ञाग्नि में अपने प्राणों की आहुति देते हैं, सवार नहीं होते इन्द्र के रथ पर स्वर्ग जाने के लिए -

[107] म., 1
[108] म., 59
[109] म., 83

ममता शरभंगचित्तकोषे निभृता चेदियमस्ति रामकाये।
स उपस्थित आनिशाम्य तं वै मुनिरेषोऽनल आक्षिपत् स्वदेहम्॥[110]

महर्षि के इस चरित से स्पष्ट है भारतीय चेतना मुक्ति को परम लक्ष्य मानती जरूर है परन्तु भौतिक सुख की उपेक्षा नहीं करती। महाभूतों के प्रति अनास्थावान् ऋषि महाभूतों के संरक्षण के प्रति हमेशा सजग रहे। जो शैलशृंग पर चढ़ेगा उसके ही आस पास भीषण खाईयां होंगीं निरन्तर विद्यमान। मुक्तिपथ के पथिक ऋषियों ने शैलशृंग को ही देखा हमेशा आरोहण के लिए, वे उसके चारों ओर स्थित खाई से डरे नहीं -

अयमिच्छति पारमेष्ठ्यमस्यां मृदि यस्यां विपदेव निर्व्यलीका।
इह यत् समुदेति शैलशीर्षे सविधे जाग्रति हन्त तस्य खाताः॥[111]

नित्यता और अनित्यता के मध्य कवि ने अद्भुत भेद का वर्णन किया है नित्यता के पारमार्थिक सत्य को प्रतिष्ठापित करने के लिए। महर्षि शरभंग थे देहधारी, और देह होता है अनित्य। उन्होंने इस अनित्य देह का आश्रय ले नित्य की प्राप्ति की निरन्तर कामना की। समर्पित कर देते हैं वे इस अनित्य काया को जीवन के परमसत्य अग्निदेव को परितृप्त करने के लिए -

शरभंगमहर्षये प्रणामाः स हि देहेन समाचितोऽस्ति देही।
परितर्पयते य एष वह्निं हविषाऽप्यात्मशरीरविग्रहेण॥[112]

2.7 शकटारम् - 25 वर्षों तक दक्षिण अफ्रीका के शासन ने नेल्सन मण्डेला नामक अपने जननायक को कारावास में बन्द कर रखा था। मण्डेला की कारावास से मुक्ति को लक्षित कर सनातनकवि ने इस काव्य की रचना की है। 108 पद्यों के इस खण्डकाव्य में सनातनकवि ने इस जननेता को उपमा दी है नन्द साम्राज्य में गहन कारागार में निगृहीत असह्य पीडा को सहने वाले शकटार नामक मन्त्री से। वह नन्दराजा के द्वारा अकेला नहीं कैद किया गया था अपितु उसके साथ कैद थे उसके सभी पुत्र, पुत्रवधू तथा पत्नी भी। निर्दयी राजा प्रत्येक को प्रतिदिन पांच पांच चने भोजन में देता था। सभी कुटुम्बियों ने उस कारागार में सर्वसम्मति से निर्णय लिया कि वे अपने हिस्से के सभी चने शकटार को दे देंगे जिससे कि वह जीवित रह सके, नन्दराज से प्रतिशोध लेने के लिए। सभी ने शकटार के देखते

110 श.भ., 45
111 श.भ., 3
112 श.भ., 102

देखते भूख, विवशता, यन्त्रणा एवं क्षोभ से देहत्याग कर दिया। यन्त्रणा की यह पराकाष्ठा थी। संवेदनशील मस्तिष्क को झकझोर देती है यह। शकटार ने अपने नाखूनों से भूमि को विदीर्ण कर रन्ध्र बनाता है मुक्त हो जाता है कारागार से। वह रिक्त हस्त था परन्तु भयभीत कर रहा था सभी को अपने भयानक स्वरूप से -

शकटार उदित्वरोऽद्य गर्त्तात् प्रविभिद्यावनिमीक्ष्यते करालः।
करयोरिह रिक्ततैव, किन्तु भयमस्मात् समुदेति भैरवास्यात्॥[113]

मानवता को प्रताडित करने के लिए अधिकार प्राप्त करने वाले शासकों को कवि धिक्कारते हैं। देवताओं को उपालम्भ देते हैं कि उन्होंने पीड़ितों की रक्षा के लिए प्रयास क्यों नहीं किया -

जननि! त्वयि किं तदाऽऽविरासीन्न हि कम्पः शिथिलीकृतांगसन्धिः।
त्वयि किं न तदा पपात शम्पाशतमस्माद् गगनाद् विवर्तमानात्॥[114]

कवि कहते हैं पृथ्वी पर हो रहे इस प्रकार के अमानवीय आचरण से माता पृथ्वी में कम्प क्यों नहीं आया। ऐसा कम्प जिससे की सभी सन्धिबन्ध ढीले पड़ जाते समा देने के लिए इन अत्याचारियों को। अत्याचार की इस वेला में क्यों नहीं पृथ्वी पर आकाश से गिरी सैकड़ों बिजलियां अत्याचारियों के विनाश के लिए। विष्णु के हाथ में सुदर्शन था और इन्द्र के भुजदण्डों में वज्र। ऐसा होते हुए भी माता पृथ्वी पर मानव ही निर्लज्ज भाव से मानव को खाता जा रहा है। यह है दोपाया विषकीट जिसकी भूख कभी शान्त ही नहीं होती। गर्व और ईर्ष्या की चोट से आहत जो खाता चला जा रहा है दूसरों को विना सोचे समझे। वह यह भी भेद नहीं करता कि जिसको खा रहा है वह नर है या है नारी, माता है या पिता। इसके लिए इन्द्रियों का सन्तर्पण सर्वोपरि। बहुमूल्य पदार्थ भी उसके सामने मूल्यहीन हो जाता है -

अयमेष पदद्वयीचरिष्णुर्विषकीटोऽद्यरभूयमाजिहानः।
पिशिताशनति स्मयेन दूनः स परं, पश्यति नो नरं, न नारीम्॥[115]

राष्ट्र का सर्वोच्च प्रशासक धर्म का सर्वोच्च रक्षक होता है। उसके अत्याचारी होने पर सम्पूर्ण मानवता का उन्मूलन होना स्वाभाविक है।

2.8 सुगतो ब्रवीति - अफगानिस्तान के बालुकाब्धि में तालिबानों द्वारा भगवान् बुद्ध की गगनचुम्बी प्रतिमाओं का विध्वंस किया गया। 1800 वर्ष प्राचीन इन

[113] श., 1
[114] श., 22
[115] श., 27

प्रतिमाओं का निर्माण उस क्षेत्र के शान्ति के उन प्रशासकों द्वारा कराया गया रहा होगा जो रहे होंगे शान्ति के उपासक। 117 पद्यों वाले इस परिदेवना प्रधान शतक में प्रथम पद्य में कवि कहते हैं कि भुशुण्डि के आघात से जब प्रतिमाओं का विध्वंस किया जा रहा था तब मानो भगवान् बुद्ध मौन स्वर से जो कुछ भी बोल रहे थे उसको सनातन कवि ने सुना और कविता में उपनिबद्ध किया -

भगवान् सुगतो ब्रवीति कण्ठध्वनिमुद्वास्य तु मौनिना स्वरेण।
शृणुते तदिदं सनातनोऽयं वचनं तस्य महात्मनस्तदित्थम्॥[116]

बालुकाब्धि में गान्धार कला की मूर्तियों के रूप में भगवान् का मानो दूसरा जन्म हुआ था। विषप्रदान के समय जब बुद्ध के मन में कोई दुर्भावना जब नहीं पैदा हुई तो आज तोपों के भीषण प्रहार से उनकी मूर्तियों का ध्वंस करने वाले तालिबानों के प्रति भी उनका समान भाव रहा। मूर्तियों के विध्वंस से बुद्ध की हानि नहीं हो सकती क्योंकि वे आज भी मनुष्य की बुद्धि में विराजमान हैं। यहां के प्राचीन प्रशासकों ने हिंसा को किसी भी समस्या का समाधान नहीं माना तभी उन्होंने बुद्ध को स्थान दिया इस रेगिस्तान में। भारतवर्ष में जन्म लेने वाले इस अहिंसा के पुजारी की मूर्तियां अत्यन्त सुदूरवर्ती रेगिस्तान में यहां के तत्कालीन प्रशासकों के चित्त में बसती शान्ति की भावना ने स्थापित कराई होगी -

अथ कः खलु बुद्धिमान्निनाय भवतां धन्वसु भारतेभ्य एभ्यः।
न भवान् यदि पूर्वजाश्च वः, स प्रशमस्य प्रणयो हि मानवीयः॥[117]

ईश्वर किसी सम्प्रदाय विशेष का नहीं होता। वह विभु है और द्रष्टा भी, तटस्थ भाव से सम्पूर्ण सृष्टि का। यदि पापियों का प्रतीकार करने के लिए कोई उद्यत नहीं होता तो कविहृदय से निकलने वाली सुधामयी भगवती कविता उसका प्रतीकार करती है -

कविता करवालपाणिरेषा जननी कापि भवत्यहो नृकाली।
इयमेव च भद्रकालिकात्वं दधती संप्रचकास्ति भूमिलोके॥[118]

मूर्तियों का विध्वंस सम्पूर्ण मानवता के चित्त में बसती हिंसा की प्रवृत्ति का विध्वंस है। मूर्तियों का विध्वंस कर तालिबान भी स्वयं ही शीघ्र पंचत्व को प्राप्त हो गए। इससे सिद्ध होता है कि आज भी शान्ति के उपासकों का सम्पूर्ण विश्व में आधिक्य है।

---

116 सु.ब्र., 1
117 सु.ब्र., 21
118 सु.ब्र., 115

सुगतो ब्रवीति के माध्यम से महाकवि ने सन्देश दिया है कि लोकव्यवहार सभी धर्मों के अनुयाायियों की परम्पराओं, रीतियों, विश्वास के प्रति समान रूप से आदर भाव रखने से चलता है। कोई सगुण का उपासक हो सकता है तो कोई निराकार निर्गुण का। इसमें संघर्ष की भावना नहीं होनी चाहिए। संकीर्णता, कट्टरता के आधार पर अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति द्वेष का भाव रखकर उनका विरोध करना मानवता का विरोध करना है। तालिबानों ने विश्व स्तर पर सराही जा रही कला के बेहतरीन नमूनों के रूप में उनके क्षेत्र में निर्मित मूर्तियों को तोड़कर वैश्विक स्तर पर शान्ति के दूत माने जाने वाले भगवान् बुद्ध के सिद्धान्तों के साथ अपनी असहमति ही नहीं व्यक्त की अपितु अपनी बर्बरता का परिचय दिया। इसकी कड़े से कड़े शब्दों में निन्दा की जाती है।

2.9 वृद्धकुमारि! - 121 पद्यों के इस खण्डकाव्य में आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी ने मुगलशहजादियों को विषय बनाया है जो अनिन्द्य सौन्दर्यसम्पन्न होते हुए भी अविवाहित ही रही आयीं और शवखातों को अलंकृत करती रहीं। जिस सृष्टि के सातत्य के लिए विधाता ने इनको सौन्दर्य दिया था उसको इन्होंने तिरस्कृत किया परन्तु किस प्रयोजन की सिद्धि के लिए -

अयि मानवदेहवल्लरि! त्वं प्रसृता च प्रथिता च पुष्पिता च।
त्वयि किन्तु कुतोऽपि दिग्विभागान्निपतत्यत्र मधुव्रतो न कस्मात्॥[119]

कामदेव के अस्तित्व को सार्थक प्रमाणित करने के लिए कवि यहां अनेक तर्कों को रखते हैं। विश्वबीज की रक्षा के लिए ब्रह्मा जी ने जो सामर्थ्य मनुष्य को प्रदान किया है उसका तिरस्कार मनुष्य को नहीं करना चाहिए। मुगल शहजादियों द्वारा किए गए इस तिरस्कार को कवि ने विधाता की सृष्टि का तिरस्कार ही माना है।

इस खण्डकाव्य के माध्यम से सनातनकवि ने मानवीय संवेदनाओं के उन पक्षों को उकेरा है जो प्रत्येक संवेदनशील मानव के मन में उभरती हैं परन्तु मुखर नहीं हो पातीं। मानव जीवन के चार प्रधान मूल्यों के रूप में प्रतिष्ठित पुरुषार्थों को समान रूप से महत्व दिया जाता है। इनमें किसी की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इनमें काम रूपी पुरुषार्थ का अपना स्थान है। काम की पूर्णता पर आधारित है जीवन की पूर्णता। इसकी अतृप्ति जन्म देती है अनेक मानसिक विकृतियों को। रामायण में शूर्पणखा की अनुचित कामासक्ति समस्त राक्षसकुल के विनाश का

[119] वृ.कु., 15

कारण बन बैठी। इसी प्रकार धीवरकन्या सत्यवती की महाराज शान्तनु के प्रति कामासक्ति एक गौरवशाली वंश के समूलोन्मूलन का कारण बन जाती है।

2.10 शरशय्या - भीष्मपितामह के जीवन पर आधारित 103 पद्य के इस काव्य में महाकवि ने कौरवों और पाण्डवों के इस अपूर्व दैविक सामर्थ्य सम्पन्न पितामह के असहाय स्वरूप को प्रकट किया है, जिसके वशीभूत हो वे दुर्दान्त युद्ध को टालने में समर्थ होकर भी असमर्थ ही रहे आए। कवि के अनुसार भीष्म पितामह कब शरशय्या पर नहीं थे। वे तो जन्म से ही शरशय्या का वरण करते रहे। जन्म से पूर्व ही उनके सभी भाई मृत्यु मुख में प्रवेश करा दिए गए। शरीर की दीप्ति के सूर्य और चन्द्र से भी अधिक होने शस्त्र और शास्त्र में अप्रतिम गति वाला होने पर भी कौरवों की उपेक्षा का पात्र बना रहा। भीष्म का कण कण अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिए देवताओं द्वारा भी चाहा जाता था। अठारह दिनों तक चले समर में ग्यारह दिनों तक स्वयं युद्ध करते रहने पर भी उनको छलपूर्वक शरशय्या पर सोना पड़ा। प्रसिद्ध वीरों ने उनको नपुंसक तक कहा[120]।

भीष्म अपनी परिदेवना में कहते हैं कि मैं विमुख रहा रज्यलक्ष्मी से। मेरी इस विमुखता का परिणाम था कि राज्यलक्ष्मी ने ही मुझको छोड़ दिया। आज मैं शरशय्या पर पड़ा हूं। सभी शर मेरे शरीर के बींध ही नहीं रहे अपितु इसके रुधिर को पी रहे हैं -

राज्यश्रियोऽपि विमुखो ननु राजलक्ष्म्या-
ऽप्यस्म्येव किं ननु न शप्तसमस्तशक्तिः।
एते शरा मम शरीरमिदं क्व काले
छिन्दन्ति नैव, रुधिरं क्व च नो पिबन्ति॥[121]

राज्य के उत्तराधिकार के प्रश्न पर आजीवन अविवाहित रहने की भीषण प्रतिज्ञा की आपने। इसका परिणाम था कि धृतराष्ट्र के जन्माध होने, पाण्डु की असामायिक मृत्यु तथा विदुर के दासीपुत्र होने के कारण सम्पूर्ण राजकीय दायित्व उनके कन्धों पर आ गया। कौरवों के प्रति कृतज्ञता के वशीभूत होकर चाह कर भी दुर्योधन की अनीति का विरोध नहीं कर सके। अमर होते हुए भी मृत्यु का वरण करते हैं सम्पूर्ण पृथ्वी को अनीति के वशीभूत देखते हुए -

नो केवलेऽत्र विषमे क्षण एव मह्यां
शय्यां शरस्य रचयध्व इमे मदर्थम्।
युष्माभिरत्र गमितः क्व नु कालखण्डे

120 श.श., 1-4
121 श.श., 6

शय्यां शरैर्विरचितां न विचित्ररूपैः ॥[122]

मेरे पिता ने मुझको जन्मजात शरशय्या पर आरूढ़ किया। ऐसा प्रतीत होता है कि यह शरशय्या उन्होंने मेरे लिए पहले से ही बना रखी थी। अब तक यह छिपी थी। दिखाई नहीं दे रही थी। पर विधाता ने आज उस शरशय्या को उजागर कर दिया। मैं आज जिस शरशय्या पर पड़ा हूँ यह मेरे पिता के अन्धेपन का परिणाम है, न कि धृतराष्ट्र की अन्धता का। जैसे मेरे पिता अन्धे थे वैसे ही उनका पुत्र मैं भी अन्धा ही बना रहा आया -

शय्या शरैर्विरचितैव मनस्यपूर्वा
पित्रादिभिर्मम कृते कृपणस्य काचित्।
तामेव सम्प्रति तिरोहितविग्रहां वः
प्रत्यक्षतां ननु निनीषति कोऽपि वेधाः ॥
एते ब्रुवन्ति धृतराष्ट्रमिमं हि चक्षु-
र्हीनं, किमत्र करवाम नृलोक एषः।
सत्यं त्विदं विगतचक्षुरभूत् पिता मे
पुत्रोऽप्यहं बत तथैव भवाम्यचक्षुः ॥[123]

शरशय्या पर पड़े भीष्म आत्मानुसन्धान में लग जाते हैं। उनके अनुसार चक्षु वे होते हैं जो मनुष्य को रहस्य का बोध कराएँ। भीष्म के अनुसार उनके लिए इस संसार में सबसे बड़ा रहस्य बना रहा दुर्योधन जो स्वभाव से ही कपटी था। किसी ने भी दुर्योधन के इस रहस्य को मेरे समक्ष उद्घाटित नहीं किया। इसका दुःख रूपी शर आज मेरे शरीर को बीध सा रहा है। मैं चक्षुष्मान् था पर बना रहा अन्धा ही। आज वही अन्धता मेरे अंग अंग को काटती सी प्रतीत होती है (10-11)। भीष्म स्वयं को धिक्कारते दिखते हैं। उनके अनुसार गान्धारी अपनी आंखों पर पट्टी बांध अन्धी बन गयी पर वे तो नेत्रों के रहते हुए भी उनके खुले रहते अन्धे ही बने रहे। निन्दनीय है भीष्म का जीवन क्योंकि स्वस्थ आंखों के रहते हुए भी उसने जो देखने योग्य नहीं था उस सबको आंखे खोल कर देखा -

चक्षुर्युतस्य मम तत् परमान्धतेयं
हा हन्त चेतसि परं क्रकचायतेऽद्य ॥[124]
निन्द्यस्त्वहं, न खलु येन सचक्षुषापि
किं किं न दृष्टमिह यन्न बभूव दृश्यम् ॥[125]

122 श.श., 7
123 श.श., 8-9
124 श.श., 11
125 श.श., 13

भीष्म कहते हैं कि वे अन्धे बने रहे जब द्रौपदी के केशों को खीचा गया, वे अन्धे बने रहे जब द्यूतक्रीडा में युधिष्ठिर को हराया गया पर छलपूर्वक, अन्धे का नेता अन्धा नहीं हो सकता यह सत्य है पर मैं इसको नहीं जान सका। मेरी माता गंगा हैं जो तीनों लोकों को पवित्र करती हैं। ऐसी पवित्र माता का पुत्र होकर भी मैं अपवित्र ही बना रहा। मैं हूँ उस घट के समान जो डूबा रहा गंगाजल में पर भरा रहा मलजल से ही -

गंगा पुनाति भुवनत्रितयं तदीयः
पुत्रोऽप्यसावहमहो ह्यपवित्र एव।
सोऽहं घटोऽस्मि मलपूर्णमहोदरश्च
गंगाम्भसि स्नपितबाह्यकलेवरश्च ॥[126]

कर्तव्य निर्वाह में समर्पित भीष्म का हृदय, हृदय नहीं रह गया। उसमें कोई इच्छा नहीं रह गयी। अपने लिए एक पग भी नहीं चलना चाहता, पर लोक के कल्याण के लिए जिजीविषा संजोए हुए हूँ (39)। शरशय्या भीष्म के हृदय में उठ रहे अन्तर्द्वन्द्व की युक्तिपूर्ण प्रस्तुति है। भीष्म दुर्धर्ष योद्धा थे। काल के वशीभूत होकर उनको अनेक कुकृत्यों का समर्थन अन्धे बन कर करना पड़ा। सनातनकवि ने शरशय्या पर पड़े मृत्यु की ओर उन्मुख भीष्म की हृदयविदारक वेदना को सम्पूर्ण ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में कविता में उपनिबद्ध किया है।

2.11 अमेरिका - 2009 वर्ष में अपनी अमेरिका यात्रा के सम्पूर्ण वृत्तान्त को महाकवि ने इस खण्डकाव्य में उपनिबद्ध किया है। इसमें 246 पद्य हैं। इसमें वहाँ के प्राकृतिक सौन्दर्य से लेकर व्यवहार, संस्कृति, संस्कार, प्रवृत्ति, जीवनवृत्त, शारीरिक सौन्दर्य, वैज्ञानिक प्रगति, स्वतन्त्रकामचार, अभूतपूर्व भौतिक संसाधन इत्यादि विषयों का सूक्ष्मता से वर्णन किया है। अमेरिका के अनेक नगरों की महाकवि ने यात्रा की। उन सबका वर्णन इस खण्डकाव्य में मिलता है। अमेरिका में गोत्रादि के आधार पर किया जाने वाला मानवीय भेद नहीं मिलता। सभी कामोपभोग के लिए उन्मुक्त हैं। वर्णसंकरता का इनको भय नहीं सताता -

अस्या ये वै जनास्तेषां गौरत्वे चन्द्रवर्णता।
कृष्णत्वे तु करालत्वं कालायसमलीमसम् ॥[127]
व्याहरन्ति स्मितास्या हि बाला वृद्धाः परस्परम्।
युवत्यो युवकाश्चापि चुम्बन्तोऽन्यं गतत्रपम् ॥[128]

[126] श.श., 28
[127] अ., 9
[128] अ., 18

2.12 एतत्तु याचामहे - कवि ने इस काव्य के माध्यम से भगवती सरस्वती से प्रार्थना की है कि वह हंसासन का परित्याग कर मयूरासन को स्वीकार कर ले क्योंकि सम्प्रति विषम क्षण उपस्थित हो गया है जहां सर्वत्र विषधर विचरण कर रहे हें। आतंकवाद के विषधर सर्पों के विनाश में समर्थ हो सकता है केवल भगवती का मयूर न कि हंस। हंस की ताकत तो नीरक्षीर के विवेक तक सीमित है -

वीणावादिनि ! शारदे ! श्रितमहाहंसे ! ललाटाजिरे
दीव्यच्चन्द्रकले ! भजस्व शिखिनं त्यक्त्वाऽद्य हंसं प्रियम्।
सम्प्रत्यस्ति वसुन्धरातलमिदं संछादितं स्वे मुखे
क्ष्वेडेनाग्निकरालितेन कलितैः काकोदरैः सर्व्वतः ॥[129]

जिस कश्मीर में कभी भगवती शारदा का निवास हुआ करता था वहाँ आज आतंकवादियों की बन्दूकों की आवाज गूँज रही है। आज अधिकार प्राप्त कर मनुष्य अनीति से अपना घर भरना चाहता है, राष्ट्र की उन्नति से सर्वथा निरपेक्ष रहता हुआ। शिक्षित और अशिक्षित का आज कोई भेद नहीं रहा गया है, क्योंकि सभी शास्त्रों के ज्ञाता विद्वान् और निरक्षर नेता दोनों ही समान महत्त्व को धारण कर रहे है -

एतस्मिन् विषमे क्षणे सितगरुन् ! नैवास्ति कार्यं मनाग
प्येतस्य तवार्य ! दुग्धजलयोर्विश्लेषणाख्यं क्षमम्।
पीत्वा दुग्धमिमेऽखिलं विषधरा आकाशमध्येऽनिशं
सर्पन्तो विहरन्ति हन्त रशनायुग्मं धुनानाश् चलम् ॥[130]

जातिगत विभेद का आज कोई महत्त्व नहीं रह गया, बिबुधता आकाशकुसुम सी हो गयी है, चरित्रगत उच्चता धूम से कलुषित सी हो गयी है, सवितृ का जप करने में प्रवृत्त लज्जाहीन ही से प्रतीत होते हैं। सदाचार का मार्ग छोड़ कर आज लक्ष्मी का सेवन करने में लगे हैं प्रतिष्ठा और भौतिक सुख के इच्छुक मनुष्य -

जातिर्यातु रसातलं विबुधता भूयात् खपुष्पस्वसा
चारित्र्यं शुभमस्तु धूमकलुषं निर्वाणदीपे शिवः।
सावित्रीमिति ये जपन्ति सततं निर्लज्जमेवाधुना
सर्वत्रैव भवन्ति ते हि सुखिनो लक्ष्मीभिरालिङ्गिताः ॥[131]

[129] ए.या., 1
[130] ए.या., 2
[131] ए.या., 41

2.13 विधेर्होमो निषेधानले - तालिबानों के द्वारा विश्व व्यापार केन्द्र का विध्वंस किए जाते समय महाकवि उस समय अमेरिका यात्रा में ही थे। इस विध्वंस को देख कर उनके कवि हृदय में जो प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई उसको महाकवि ने उसी समय इस बीस पद्यों की कविता में प्रस्तुत किया। निषेध की अग्नि में विधि अर्थात् निर्माण की आहुति दी थी तालिबानों ने विश्व व्यापार केन्द्र का विध्वंस कर। विधि का अर्थ है अमेरिका की उन्नति ओर विकासोन्मुखी प्रवृत्ति। निषेधानल है उसके उन्मूलन में प्रवृत्त आतंकवादियों की विध्वंसात्मिका प्रवृत्ति जिसके कारण अमेरिका का गौरव माना जाने वाला यह विश्व व्यापार केन्द्र क्षण भर में धराशायी कर दिया गया -

यद् वै मानवहातनोपनगरे/किं न मैनहाटनगतं
पुंजातिकीर्त्तिध्वजप्रख्यातं व्यवसायकेन्द्रभवनद्वयं
कृतं भस्मसात्।
(प्रश्नः) अस्यार्थः खलु कः ?
(उत्तरम्) स एष सुमहान्
निर्माणकाये विनाशस्याघात
उतास्ति कश्चन विधेर्होमो निषेधानले ॥[132]
तेनैवाद्य हहाऽर्द्धलक्षगणनातीतैर्नरैः पूरितं
सझद्वन्द्वमिदं करालहृदयेनेत्थं प्रदग्धीकृतम्।
येनेन्दीवरकाननेऽस्ति दहनैरङ्गारकैर्वर्षितं
सस्याङ्कूरनिरन्तरेषु च दृढक्षेत्रेषु दुदूषितम् ॥[133]
पित्रोर्येन वियोजिता शिशुशती दुग्धानना वल्लभा।
साहस्रीव कषायिता प्रणयिनां प्रीत्या क्षणार्द्धेन वै।
तेनाश्रूणि समुद्रपूरण-लसद्वेगानि मुंचत्स्वहो
नृणामेव कुलेषु धिक् किमधुना नो दृक्तटी धीयते ॥[134]

2.14 रामपरिसंख्या - वर्तमान वैपरीत्य को विषय बनाने वाली इस कविता में 221 पद्य हैं। कविता है भगवान् शिव के मस्तक पर विराजमान त्रिदल अमृतमय बिल्वपत्र न कि कामदेव को प्रज्वलित करने वाली मधुवल्ली -

कविता न सनातनस्य काचिन्मधुवल्ली मदनाय मद्यसूतिः।
ननु साऽस्ति शिवप्रियांगयष्टिस्त्रिदला काऽप्यमृतांगविल्वपत्री ॥1 ॥

[132] वि.नि., 3
[133] वि.नि., 7
[134] वि.नि., 9

कवि ने प्रश्न किया है कि राम किसके हैं? उनके अनुसार राम हैं सात्त्विक प्रवृत्ति वाले मनुष्यों के, धर्म के मार्ग पर चलने वाले पथिकों के, सत्यव्रतियों के और सनातनमतावलम्बियों के -

रामः कस्य!
न तस्य, यस्य हृदयं लंकापतेः कौशले श्रद्धत्ते, तिमिराणि
योऽर्चिचिषति प्रातर्निशावल्लभः।
वाल्मीकेर्न सरस्वती प्रसरति प्रौढाऽप्यरण्यौकसा-
मुद्गीथेषु निवासिनी ननु कृते त्वेषां निषादात्मनाम् ॥1॥

राष्ट्र की सम्पत्ति को अनीति से चुराकर अपने घरों में भरने वाले रामोपासक नहीं हो सकते। सतियों के संकल्पों से लंका का विनाश हुआ न कि राम के संकल्प से। सीता को सम्बोधित कर हनुमान् द्वारा बोली गयी रामकथा राम से पहले लंका में प्रवेश कर जाती है, तब होता है रावण का उन्मूलन -

लंका न क्षपिता मया, क्षपयिता तस्याः सतीनां दृढः
संकल्पोत्तम एव, यस्य हरणे भग्नाः समे रावणाः।
लंकायाः क्षपणे कृती स हनुमान् सुग्रीवसम्प्रेषितो
यः काव्यं प्रणिनाय मां च दयितापार्श्वे समास्थापयत् ॥[135]

सनातन परम्परा के संरक्षक राष्ट्र के रामभक्तों के रुधिर में निवास करते हैं राम। उनका निवास नहीं है उन अट्टालिकाओं में जो देश को लूट कर बनाई गयी हैं। भक्तों की चेतना ही तीर्थ है राम के लिए। रामभक्तों के दैन्यातिरेक के कारण ही राम स्वयं ही अपनी जन्मभूमि की रक्षा में समर्थ नहीं हो पा रहे हैं। आज तो वैपरीत्य का साम्राज्य है कि छल ही बन बैठा है धर्म और धर्म को माना जा रहा है छल, साकेत के सैकत बन जाने से सरयू के जल में सार कहां रह जायगा -

यद्वा स्वयं रोदिति राम एष य एव पत्न्यै प्रणनाश लंकाम्।
स एव मातुर्निजमातृभूमेस्त्राणेऽद्य धिग्धिग् विहितोऽसहायः ॥[136]
अहो छलं धर्मेति धर्म एवच्छलायमानश्च विभाव्यतेऽद्य।
विपर्य्ययो राजति सैकतं हि साकेतति क्वाद्य रसः सरय्वाः ॥[137]

2.15 अहमस्म्यहमेव - संसार में उत्पन्न हो रहे एकाकीपन और वर्तमान जीवनशैली पर कवि ने सांकेतिक रूप से कटाक्ष किया है, इस 202 पद्य के काव्य में। विश्वस्तर

[135] रा.प., 10
[136] रा.प., 203
[137] रा.प., 217

पर सामाजिकों में पनप रही वैयक्तिक स्वार्थ की सिद्धि की प्रबल भावना ने मनुष्य की सीमाओं को सीमित कर दिया है। उसकी चेतना कृपण होती जा रही है और उससे कृपण होता जा रहा, सम्पूर्ण जीवन मानवजाति का। घर छोटे होते जा रहे हैं, अर्थ का साम्राज्य सर्वत्र व्याप्त है, वर्तमान मनुष्य का शरीर, भोजन, चरित्र, परम्परा केवल अर्थमूलक होती जा रही है। विनाश को अनदेखा कर मनुष्य दिनरात अर्थोपार्जन के माध्यम से आगे बढ़ने को उद्यत है। आज हिंसक पशु जंगलों में नहीं हैं और हैं भी तो वहां शिकार नहीं करते, वे तो विचरण कर रहे हैं, शहरों में पूरे वेग के साथ, मनुष्य का रूप धारण कर -

अहमस्म्यहमेव केवलो वै सविधे मे न हि विद्यते द्वितीयः ।
कृपणाऽस्ति न चित्कला मदीया जगदेतत् कृपणायतां प्रकामम् ॥[138]
वन एव यदि व्रजामि, तत्र यदि सिंहा न भवेयुरात्तवेगाः ।
ननु सम्प्रति हिंसकास्त एते नरतामाप्य पुरेष्वटन्ति सौख्यात् ॥[139]

2.16 अयि नीलनदि ! - मिस्र के युवा शासक तूतन खामन के साम्राज्य तथा उसकी कब्र से प्राप्त पुरातात्विक अवशेषों पर अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें तूतन खामन के शरीर के कंकाल के चित्र भी है। सनातन कवि के मत में तूतन खामन जैसे युवा शासक के शरीर के अवशेषों की सम्पूर्ण विश्व में लगायी जा रही प्रदर्शनी उसका सम्मान न होकर एक अमानवीय कृत्य है। तूतन खामन की कब्र मिस्र की नीलनदी के तट पर स्थित है। अमेरिका यात्रा के दौरान 2011 में सनातन कवि को इस प्रदर्शनी को देखने का अवसर मिला। उन्होंने अपनी प्रतिक्रिया कविता के रूप में इस खण्डकाव्य में प्रस्तुत की है। कवि ने 'अयि नीलनदि !' इस 241 पद्यों के खण्डकाव्य में देहात्मवाद की पुजारी पाश्चात्य सभ्यता को लक्ष्य कर नीलनदी से अनेक प्रश्न किए हैं, जो मनुष्य हृदय को छू जाते हैं। कवि ने नील नदी के तट पर स्थित राजाओं के शवखातों और भारतवर्ष की देवापगा भगवती गंगा के तट पर स्थित पवित्र तीर्थों तथा मन्दिरों को लक्ष्य कर पाश्चात्य संस्कृति की अपेक्षा भारतीय जीवन दर्शन की उच्चता को बखूबी उकेरा है।

भारतीय चेतना के प्रवाह में विश्वास करते हैं न कि शरीर के विनाश में। नश्वर शरीर को नित्य नहीं माना गया, उपनिषद् विद्या की उपासक भारतीय संस्कृति में। भागीरथी के तट पर तो मुक्ति मिलती है, सूक्ष्मशरीर के विनाश से। उसका विनाश होता है कर्मफल के भोग से। कर्मफल का भोग शरीर से शरीरान्तर से प्रवेश से ही सम्भव हो पाता है -

[138] अहम्., 1
[139] अहम्., 133

स हि कर्म्मफलस्य भोगमात्रात् क्षयमेत्यस्ति च तत्कृतेऽपि हेतुः ।
जननान्तरमेकमेव, नान्यो, न च नाकोऽपि स, स क्षयिष्णुरेव ॥[140]

भारतीय सरिताओं के तट पर निवास करते हैं देवताओं के साथ ऋषियों मुनियों का समूह जो उपदेष्टा हैं पुरुषार्थचतुष्टय की सिद्धि के -

तटभूमिषु भारते नदीनां निवसन्त्यार्यमहत्तमाः महार्हाः ।
श्रुतयः स्मृतयश्च येषु मार्गान् रचयन्त्याप्ततमाश्चतुष्पुमर्थान् ॥[141]

अपने शरीर को मन्दिर माना, देवता का इस देश के वासियों ने। इस मति से सभी स्वधर्मपालन में निरत हैं। भागीरथी के तट पर मृत्यु को भी मंगल माना गया। अमंगल के विनाश की कामना करता है, प्रत्येक भारतीय भगवान् शिव के मंगलमय कृपाप्रसाद से -

मरणं खलु मंगलं समेषामिह काश्यां शिवधाम्नि, जीवनं तु ।
अपमङ्गलमेव भावयन्ति शिवमात्रैकदृशः समे पुमांसः ॥[142]

नीलनदी का जलप्रवाह इसिसा नामक देवी के अश्रु की धारा है जिससे आज भी यहां अवसाद और विषाद सुलभ है। भागीरथी है साक्षात् ब्रह्मद्रव। ईश्वरीय चेतना का तरल रूप जो पृथ्वी पर प्रवाहित होकर मनुष्य को देवता बनने का उपेदश देता है। यमुना के तट पर अव्यय श्रीकृष्ण गोपियों के साथ विचरण करते हैं रागपूर्ण दृष्टि लिए परन्तु हृदय में परम वैराग्य का भाव धारण किए। कवि नील से प्रश्न करते हैं कि तेरी भूमि पर भागीरथी गंगा, मेकलकन्यका नर्मदा, कालिन्दी यमुना के समान राग और योग के संगम को महत्व क्यों नहीं दिया गया ?

सनातन कवि कहते हैं कि श्मशान बने नील नदी के तट पर शासन कैसे सम्भव और क्यों इसके इतिहास को खोजने में लगे हैं विद्वज्जन। सनातनकवि के अनुसार नील नदी का जल प्रवाहपूर्ण है, पर है जड, क्योंकि यह जडत्व को ही जन्म देता है। इसमें चिदात्मा शिवत्व नहीं है, इसीलिए जल को विष नाम भी दिया गया है। इसके जल में जो प्रवाह है वह पतन है, जिसमें गति की भ्रान्ति होती है। यह जड है तभी तो मरुभूमि में बहता रहता है। नील का प्रवाह निकला समुद्र से और गिरा भी समुद्र में। दोनों में क्षारता थी अतः इसमें भी क्षारता बनी रही। यह बन न सका सरस -

प्रभवः प्रलयश्च ते समुद्राविति ते क्षारतमानि जीवनानि ।
प्रवहन्तु न यान्तु वै हिमत्वं जडतामात्रनिधानमात्मशून्यम् ॥[143]

---

140 अ.नी., 24
141 अ.नी., 91
142 अ.नी., 99
143 अ.नी., 134

भारतभूमि पर बहने वाली गंगा निकलती है उस हिमालय से जो बनता है महाशिव का श्वसुर और उसी से महाशिव बेटी की भिक्षा मांगते हैं। कहां तो रत्नों का मालिक, तपस्वियों की भूमि पर्वतराज हिमालय और कहां उसकी पुत्री को वरण करने वाले अकिंचन शिव। पर्वतराज की पुत्री की शिव के लिए याचना करते हैं परमर्षि तब हिमालय स्थावर से जंगम बन उनका स्वागत करता है।(137)। यह जीवन्तता दिखाई देती है भारतभूमि की नदियों के जन्मदाता हिमालय में, परन्तु ऐसी जीवन्तता नील नदी के क्षेत्र में नहीं दिखती। हमने तो जड हिमालय को भी चेतन कर दिया, परन्तु नील ने अपने मजबूत शरीर वाले चेतन तटवासियों को भी जड कर दिया। इसके तट पर जन्म लिया उन दो पैर के जन्तुओं ने जिन्होंने बलशाली बन बलहीनों का भक्षण करना उचित समझा। यह पशुता है मनुष्यता नहीं। देहात्मवाद नील नदी के तट पर दिखाई देता है उन गगनचुम्बी चैत्यों में जिनके निर्माण में उत्तमशिल्पी वर्षों तक नियमित रूप से निरन्तर कार्यरत रहे। कितना लगा होगा धन इनके निर्माण में, उन राजाओं के लिए जो कभी भी लौटकर मुंह दिखाने वाले नहीं। शरीर का महत्व तभी तक है जब तक है सांस। सांस टूटी नहीं कि शरीर हुआ दो कौड़ी का। परन्तु नील तटवासियों ने इस तथ्य को नहीं जाना।

सनातन के मत में इतिहास वह दर्पण है जो जड़ का प्रतिबिम्बन करता है, परन्तु कविता है उत्कृष्टतम छननी जो पुरुषार्थों को छानती है और त्रैलोक्य के कल्याण के लिए अच्छे कर्मों को अपनाती है -

कविता तितउः परः पुमर्थान् परिपावय्य समानियं वृणीते।
कुशलाऽकुशलद्वयीप्लुतैषा कुशलान् वै शिवतातये त्रिलोक्याः ॥[144]

कवि प्रार्थना करते हैं इतिहास से कि वे ऐसी विषम स्थिति में किसी मनुष्य-देहधारी को न पहुंचाये जिस स्थिति में नील नदी के तट पर उसके शासक तूतन खामन को पहुचाया गया कि आज भी उसके कंकाल को कब्र से निकाल दुनिया में प्रदर्शित किया जा रहा है।

सनातनकवि की रचना अयि नीलनदि! भारतीय जीवन दर्शन की सच्ची झांकी प्रस्तुत करती है, परन्तु तार्किक रूप से। हमारी मान्यताएं और उनके अनुसार व्यवहार जीवन को उच्चता में प्रतिष्ठित करने का सनातन मार्ग प्रशस्त करता है। इसमें सरसता कूट कूट कर भरी है। परन्तु उसकी दृष्टि रहती है सदा तुरीय पुरुषार्थ की सिद्धि पर। भौतिकता को हम उतना ही महत्व देते हैं जितना अपेक्षित है, विधाता की सृष्टि के सातत्य को बनाए रखने के लिए। उसमें इतने नहीं डूब

144 अ.नी., 230

जाते हम कि अपना अस्तित्व ही समाप्त कर दें। अध्यात्म और वैराग्य दो सोपान हैं, परम पुरुषार्थ की सिद्धि के सहायक। मुक्ति हमारा लक्ष्य है परन्तु भुक्ति पूर्वक। भुक्ति भी कैसी ? जो मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करती हो।

सनातनकवि की यह कविता प्रस्तुत करती है सच्चे भारतीय जीवन दर्शन को। इसमें पाश्चात्य की समीक्षा है परन्तु तार्किक न कि निन्दात्मक। औचित्य और अनौचित्य दोनों ही के मध्य घूमती सनातन की यह कविता संस्कृत काव्यजगत् में एक महत्वपूर्ण मानदण्ड स्थापित करती है।

2.17 हरिहरावदानकाव्यम् (करपात्रस्वामिचरितम्) - सनातन कवि ने तीन अवदान काव्यों की रचना की है। इनमें प्रथम है हरिहरावदानकाव्यम्। इसमें रामराज्यपरिषद् के संस्थापक विद्याधनी सर्वशास्त्रज्ञ सर्वविद्याविशारद स्वामी हरिहरावदानसरस्वती 'करपात्री' जी महाराज के सम्पूर्ण अवदान को विषय बनाया है। 261 पद्यों के इस काव्य में सनातनकवि ने वैभवखण्ड और वंशखण्ड दो भाग किए हैं। प्रथम खण्ड में स्वामी करपात्री जी महाराज के आध्यात्मिक, सारस्वत, राजनयिक अवदानों को कवि ने प्रस्तुत किया है और द्वितीय वंशखण्ड में उनके जन्म से महाप्रयाण तक के प्रामाणिक जीवनवृत्त को। इनमें महागणपति की मेधा थी प्रतिष्ठित, प्रतिभा थी शिवसदृश और प्रज्ञा थी देवगुरु बृहस्पति के समान -

मेधां महागणपतेः प्रतिभां शिवस्य, प्रज्ञां सुरासुरगुरुद्वितयस्य लब्ध्वा।
यो भूमिमात्मजनुषा समलंचकार तस्मै नमो हरिहराय महामहिम्ने ॥[145]

करपात्री जी शास्त्र के गूढतम रहस्य को सरल से सरल विधि से सामाजिकों को बतलाया करते थे। अधर्मियों का विरोध प्रौढ़तम तर्कों के आधार पर आजीवन करते रहे स्वामी जी। इनकी प्रवचन पद्धति सुमधुर वाणी तथा सटीक शास्त्रीय विवेचन से भरी रही। दीर्घ तप से जनित ज्ञान का प्रकाश, लोकोत्तर प्रतिभा तथा अटूट भगवद्भक्ति स्वामी जी का बल रहा -

तर्काः प्रौढतमा, कथा सुमधुरा, ज्ञानं विशुद्धं, तप-
स्तारं, भक्तिरतीव सौभगवती, प्रज्ञा च लोकोत्तरा।
येषां लौकिकवैदिकोभयविधाऽऽचारप्रचारे, प्रभू-
नेतान् भूः करपात्रसंज्ञकयतींल्लब्ध्वाऽद्य धन्यायते ॥[146]

प्रशासकों की अनीतिपूर्ण नीतियों के वे प्रबल विरोधी तथा कटु आलोचक रहे। इनका जन्म भागीरथी के तट पर स्थित प्रतापगढ़ जनपद में भटिनी नामक

[145] ह.ह., 1
[146] ह.ह., 20

ग्राम में हुआ था।

2.18 रत्नस्वरूपावदानकाव्यम् - 307 पद्यात्मक इस खण्डकाव्य में महाकवि ने पीठद्वयाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी स्वरूपानन्दसरस्वती के द्वारा भारतीय प्रज्ञा, संस्कृति और सनातनधर्म के संरक्षण हेतु किए गए अवदानों को विषय बनाया है। आपका जन्म मध्यप्रदेश के श्रीवनी (सिवनी) नामक तीर्थ में हुआ था। मध्यप्रदेश के गोटेगांव में आपने बाणगंगा के तट पर परमहंसी गंगाश्रम में भगवती त्रिपुरसुन्दरी का विशालकाय मन्दिर स्थापित किया है -

ये जाबालिपुरेऽधिमेखलसुतातीरं जगन्मातरं
श्रीविद्यां त्रिपुराम्बिकां विलसितुं दिव्यं दधुर्मन्दिरम्।
स्थापत्यं खलु दाक्षिणात्यमिह यत् संदृश्यते तेन को
नेत्रे स्फारयते न विस्मयभरेणाच्छादिते तत्त्ववित्॥[147]

2.19 जयेन्द्रसरस्वतीपादावदानकाव्यम् - 123 पद्यों के इस खण्डकाव्य में महाकवि ने कांचीपीठाधीश्वर स्वामी श्री जयेन्द्रसरस्वती जी के अवदान को कविता में उपनिबद्ध किया है। कवि कांची में स्थित भगवती शारदाम्बा की स्तुति करते हुए इस क्षेत्र के सांस्कृतिक और ऐतिहासिक महत्त्व को प्रकाशित करते हैं। स्वामी जी ब्रह्मविद्या के उपासकों में अग्रणी तथा सनातनधर्मावलम्बियों के सर्वोच्च संरक्षक रहे। आपके यत्न से भारतवर्ष की भूमि में धर्म फिर तरुणाई को प्राप्त कर लेता है -

तारुण्यं करुणस्य, पाटवभरं शान्तस्य, शृंगक्षयं
शृंगारस्य, भयानकं भवरसे वन्दे जयेन्द्रं गुरुम्।
धत्ते योऽद्भुततां तपस्सु, दुरितस्तोमे घृणां, वीरतां
दाने हास्यमथो प्रपञ्चविसरे क्रोधं च धर्मद्विषि॥[148]

आपके ही सत्प्रयास से भारतवर्ष के दक्षिणादिग्विभाग में भरतमुनि के नाट्यकरणों का संरक्षण हो सका। इस क्षेत्र में वटुओं के मुख से निकलती वेदवाणी सभी दिशाओं में व्याप्त हो आज भी गूंजती है, आपके सत्प्रयास के परिणामस्वरूप -

यत्संकल्पवशेन नाट्यकरणग्रामश्चिरं विस्मृतो-
प्याङ्गस्येन पुनश्च सम्प्रति निजां प्राप्तस्तनुं मौलिकीम्।
पद्माम्बावपुषीव यद् गणपतिस्थापत्यरत्ने जग-
ल्लीलां काञ्चन वीक्षतेऽद्य महिमा सोऽसावमीषां गिराम्॥[149]

147 र.स्व., 217
148 ज.स., 48
149 ज.स., 53

येषामेव तपोभिरेव निखिला वेदा वटूनां मुखा-
दुद्गीथान् विमलानवाप्य ककुभः संपावयन्तेतराम्॥[150]

आपने भारतवर्ष के पूर्व से पश्चिम दिग्विभाग तक मन्दिरों की स्थापना करायी, पुराने देवालयों का जीर्णोद्धार कराया, निर्धन हिन्दुओं के धर्मपरिवर्तन को कमजोर किया, सभी प्रकार की आधुनिक सुविधाओं से सम्पन्न अनेक चिकित्सालयों की स्थापना की और कांची तीर्थ में विश्वविद्यालय की स्थापना की।

इन तीनों ही अवदानकाव्यों में भाषा और विचार दोनों ही उपनिषद् की भूमिका को छूते हैं। विचार अध्यात्म और वैराग्य से भरे हैं, प्रवृत्ति है सात्त्विक और वर्णन नैपुण्य में प्रतिफलित हुआ है कवि का अलंकार शास्त्र का अभूतपूर्व ज्ञान और अभ्यास।

3. नाटक

3.1. सप्तर्षिकाङ्ग्रेसम् - आधुनिक संस्कृत कविता पारम्परिक मूल्यों के संरक्षण के प्रति जितनी सजग है, उतनी ही सजग है आज के समाज की समीक्षा कर उसका दिशानिर्देश करने में भी। संस्कृत कवि निरपेक्षभाव से वर्तमान सामाजिक तथा राजनीतिक विषमताओं पर कठोराघात ही नहीं करते अपितु राष्ट्र को वर्तमान युग के अनुरूप सही मार्ग पर चलने का निर्देश भी करते हैं। संस्कृत कविता की जीवंतता तथा सार्वकालिक उपयोगिता उसके इस समसामयिक दृष्टिकोण के कारण सर्वथा सराहनीय है। इसी युगबोध से अनुप्राणित है सनातनकवि द्वारा 'स्वातन्त्र्यसम्भवम्'(75सर्ग) महाकाव्य से पूर्व विरचित दस अंकों में विभाजित 'सप्तर्षिकाङ्ग्रेसम्' नामक महानाटक जिसको 'समवकार' कोटि का रूपक माना जाता है। इस महानाटक का कथानक 1977 के लोकसभा चुनाव में हुई कांग्रेस पार्टी की ऐतिहासिक पराजय के सम्पूर्ण इतिहास को प्रत्यक्षरूप से प्रस्तुत करता है, क्योंकि इसकी रचना सनातनकवि द्वारा उसी समय की गयी थी। यह महानाटक तत्कालीन भारतीय ऐतिहासिक परिदृश्य की यथार्थ रूप से जीवन्त प्रस्तुति है जिसमें अनुस्यूत है प्रतिपद शासन की नीतियों तथा समाज का अत्यन्त तीक्ष्ण तथा सटीक पर्यवेक्षण। यहाँ कवि की समीक्षा दृष्टि तटस्थ होते हुए भी सार्वभौमिक है जो वर्तमान सामाजिक तथा राजनीतिक स्थिति की वास्तविक समीक्षा का सच्चा मानदण्ड मानी जा सकती है।

सम्पूर्ण महानाटक में जानुक तथा सुन्दरक नामक दो नागरिक अपने वैद-ग्ध्यपूर्ण वचनों से भारतवर्ष के सामाजिक, राजनीतिक, शैक्षणिक, साम्प्रदायिक,

[150] ज.स., 56

व्यावसायिक आदि परिदृश्यों का सटीक चित्र खींचते हैं। इनमें समाहित है सनातनकवि की तर्कपूर्ण समीक्षा दृष्टि भी। इस दृष्टि से इस महानाटक का तृतीय एवं चतुर्थ अंक विशेषतः विचारणीय है।

वर्तमान राष्ट्रीय परिदृश्य का सच्चा आकलन सनातनकवि विरचित 'सप्तर्षिकाङ्क्षेसम्' नामक नाटक है। इसमें कवि ने राष्ट्रीय स्तर पर सफलता का मूलमन्त्र माना है, शिक्षानीति की स्वच्छता को, जो मनुष्य के प्रज्ञाकोष से उच्छ्वसित हृदय रूपी सरोवर से उत्पन्न होने वाले अमृततत्त्व की पोषक हो -

राष्ट्रोन्नीतौ प्रथमतितरां स्वच्छता शिक्षणस्य।
प्रज्ञाकोषोच्छ्वसितहृदयोदन्वदुत्थामृतस्य ॥[151]

शिक्षानीति के नियामकों में निष्पक्षतापूर्वक आचरण की प्रतिष्ठा से विद्यार्थियों के हृदय में सन्निहित प्रतिभावल्लरी का पोषण होता है। इससे राष्ट्र को योग्य नागरिक मिलते हैं।

कवि के अनुसार राष्ट्र हमारा देवता है, नीति इसकी पूजा है, जिसमें पूजा सामग्री का काम करते हैं त्याग, सत्य और आर्यभाव -

राष्ट्रं देवः, नीतिरेतस्य पूजा, पूजाद्रव्यं त्यागसत्यार्यऽऽभावः।[152]

भारतीय लोकतन्त्र के स्वरूप को कवि ने निम्न शब्दों में उकेरा है -

यत्र प्रजायते राजा राजानति तथा प्रजा।
मेरुपृष्ठायमानेऽस्मिन् राष्ट्रे स्वर्गोऽपि दासति ॥[153]

जहां प्रजा भी राजा के समान व्यावहार करती है तथा राजा भी प्रजा के समान। ऐसे राष्ट्र में स्वर्ग भी दासत्व का अनुभव करता प्रतीत होता है।

सनातनकवि राष्ट्र या समाज में व्यक्ति को सर्वोपरि मानते हैं। उनके अनुसार समाजरूपी वस्त्र का उपादान है तन्तुरूपी व्यक्ति। इसलिए जैसे तन्तु की मलिनता वस्त्र को भी स्वतः मलिन कर देती है वैसे ही व्यक्ति की बुद्धि के मलिन होने पर सम्पूर्ण समाज ही मलिन हो जाता है, अतः व्यक्ति की शुद्धि अपरिहार्य है समाज की शुद्धि के लिए -

व्यक्तिः समाजवस्त्रस्य तन्तुस्तस्मिन् मलीयसे।
कीदृशी नु समाजस्य शुद्धिः सिद्धान्तिता नये ॥[154]

---

151 सप्त., 3.14
152 सप्त., 6.33
153 सप्त., 10.45
154 सप्त., 3.5

सनातनकवि के अनुसार राजनीति में व्यक्तिवाद को महत्त्व देने के कारण ही कांग्रेस जैसे राजनीतिक दल को भी अल्पमत का दंश सहना पड़ा, क्योंकि व्यक्तिवाद से घिरी बुद्धि वाला समाजवादी नेतृत्व का संवाहक नहीं बन सकता। ऐसी स्थिति में उसके द्वारा प्रदर्शित भयनिमित्तक हुंकार तथा प्रणयनिमित्तक विनम्रता दोनों ही आदर प्राप्त नहीं कर पातीं। किसी भी सामाजिक का -

व्यक्तिवादपरिवीतबुद्धिको यः स नार्हति समाजनेतृताम्।
हुंकृतिश्च विनयश्च कस्य वा प्रत्ययाय भवतः सहादृतौ॥[155]

व्यक्ति की शुद्धि के लिए सनातनकवि के मत में आग्रहपूर्ण सातिरेक मन्त्रणा से बचने के लिए अपेक्षित है संस्कारयुत शिक्षाव्यवस्था का समुचित प्रचार। शिक्षा संस्कार का पर्याय है। सामाजिक विषमता तथा राजनीतिक अत्याचार के विरुद्ध स्वर की मुखरता का अभाव शिक्षा व्यवस्था की संस्कारहीनता तथा शिक्षित मनुष्य के चित्त के वैषम्यहलाहल से भरे होने का संसूचक है -

नष्टः सम्प्रति मंगलोत्सवविधिव्रातः प्रजानां गृहे-
ष्वावृष्टं परितो जनस्य हृदयं वैषम्यहालाहलैः।
क्षीरे तोयमिव प्रकामयधुना शिक्षाक्रमेऽप्याहितं
संस्कारच्यवनं धनार्थिलिखितैर्ग्रन्थैर्वृथाविस्तरैः॥[156]

धनार्जन के निमित्त लिखित विशालकाय ग्रन्थों की व्यर्थता सिद्ध है, उनके दुग्धराशि में तोय सदृश मनुष्यों में संस्कारों का आभास करने में असमर्थ होने से। राष्ट्र की उन्नति में प्रज्ञाकोष के उच्छ्वास से मनुष्य के हृदयरूपी समुद्र में उठी अमृतद्रव रूपी शिक्षा की पूर्णतः स्वच्छता अपरिहार्य है। यदि इसको नहीं अपनाया गया तो समाज में वैषम्य का हलाहल प्रतिपल फैलता हुआ असाध्य हो जाएगा।

राष्ट्रोन्नीतौ प्रथममतितरां स्वच्छता शिक्षणस्य।
प्रज्ञाकोषोच्छ्वसितहृदयोदन्वपुत्थामृतस्य॥[157]

सनातनकवि के अनुसार आज की शिक्षा विदेश से आयातित सोने के पिंजरे में कैद पिकी (कोयल) के समान है जो पुष्ट हो जाने पर कौए के समान व्यवहार करने लगती है। इसके अतिरिक्त आज की नीतियाँ लोकसभा में बैठे प्रबुद्धजनों द्वारा दृढ़तापूर्वक निर्धारित किए जाने पर भी चन्दन के उद्यान में बैठी गिरगिटानी के समान हैं, जो प्रतिक्षण अपना रंग बदलती रहती है -

[155] सप्त., 3.6
[156] सप्त., 3.9
[157] सप्त., 3.15

शिक्षा साम्प्रतिकी पिकीति मनसा नीता विदेशादियं
हेम्नः पंजरके च हन्त महिता, पाके तु काकायते।
नीतिर्नः प्रमुखैर्विविच्य विबुधैर्निर्धारितात्मापि हा
देशेऽस्मिन् कृकलासिकेव मलयोद्याने विवर्णायते॥[158]

वर्तमान राजनीति में प्रभुतासम्पन्न भ्रष्टाचार में लिप्त नेताओं का कवि ने स्पष्ट स्वरूप अंकित किया है, इस महानाटक में। कवि के अनुसार नेता वही है जो प्रभुत्व प्राप्त करने पर अपने घर को सोने से भर ले। साध्वी वही है जो बहुवल्लभा होने पर भी रुद्राक्षमाला धारण करे। बुद्धिमान् उसी को माना जाता है जो दूसरों को ठगने में निपुण होने पर भी प्रेमपूर्वक भाषण करे तथा तीर्थ उसी को कहते हैं जहाँ ये तीनों निवास करें। आज के युग में काश्यादि प्रसिद्ध तीर्थों की तीर्थ रूप से गणना संभव ही नहीं -

को नेता? प्रभुतां गतो निजगृहं स्वर्णेन यः पूरयेत्
का साध्वी? बहुवल्लभापि हि भजेद् रुद्राक्षमालां तु या।
कः प्राज्ञः? परवनापटुरपि प्रेम्णैव भाषेत यः
किं तीर्थं? निवसन्ति यत्र य हमें मान्याः, न काश्यादिकम्॥[159]

इसके अतिरिक्त शिक्षा व्यवस्था के अभिन्न उपादान छात्र, प्राध्यापक तथा इनके प्रधान कुलपति की सच्ची तस्वीर महाकवि देते हैं। छात्र वही है जो परिश्रम को छोड़ अन्य मार्ग से अधिकाधिक अङ्क को अर्जित करने में सफल हो। प्राध्यापक वही है जो मधुरभाषण करने में निपुण होने से कक्षारूपी नदी को स्वयं पार कर जाये सफलतापूर्वक। जो अपशब्दों को सहने में समर्थ हो, वही कुलपति बनने की योग्यता धारण करता है तथा आज के युग में ये तीनों जहाँ एक साथ रहते हैं वही होता है विश्वविद्यालय -

कश्छात्रः? प्रविहाय यः श्रममुपादत्तेऽङ्कमध्वान्तरात्
कः प्राध्यापक? इष्टभाषणपटुः कक्षानदीं संतरेत्।
यो गालीः सहते स सत्कुलपतिर्मासान्तसद्वेतनाः
यत्रैते निवसन्त्यसौ परिसरः स्याद् विश्वविद्यालयः॥[160]

अनीतिज्ञों, दुराचारियों के प्रभुत्व सम्पन्न हो समाज में प्रतिष्ठित होने के वर्तमान युग के राजनीतिक परिदृश्य में सनातनकवि कारण मानते हैं, राजनीति से

[158] सप्त., 3.15
[159] सप्त., 3.10
[160] सप्त., 3.11॥

शिक्षाक्षेत्र के कर्णधारों का सर्वथा तटस्थ रहना। शिक्षानीति से अनुप्राणित राज-नीति असन्पथ पर चलने वाले तथा अपने नेतृत्व की उपेक्षा करने वाले को प्रभुत्व प्रदान नहीं कर सकती। आज के युग में शिक्षानीति की राजनीति से तटस्थता का परिणाम है कि दंदशूक (सर्प) भी हार बनते जा रहे हैं और हार निरन्तर दंदशूक। अर्थात् गुणाग्रही व्यक्तियों सदृश सम्मान प्राप्त कर रहे हैं दुर्जन तथा गुणाग्रही व्यक्ति दुर्जनों के सदृश निरन्तरतिरस्कार का पात्र बनाए जा रहे हैं -

शिक्षाक्षेत्रं राजनीतेस्तटस्थं यद्वा मन्त्री भूमिपालात् तटस्थः।
यस्मिन् राष्ट्रे दंदशूका हि तत्र हारायन्ते दंदशूकन्ति हाराः ॥[161]

इस नैराश्य की अवस्था में राष्ट्र की उन्नति में कारण सनातनकवि मानते हैं सत्यनिष्ठ समाज की एकता को -

नौरेका ननु तत्र, तत्र सरिदप्येका, दृढा नाविकाः,
गन्तारः कृतबुद्धयः, प्रशमितद्वेषश्च लोकः परः।
अर्थस्तत्र समर्थदासति, नयो राष्ट्राधिपत्यादरः
संस्कारत्यथ मन्त्रणा च विदुषां भाग्योदयत्यंजसा ॥[162]

राष्ट्र रूपी नौका है एक ही। उसका रास्ता भी एक ही नदी। उसको चलाने वाले नाविक हैं संस्कारों से दृढ़। उसमें बैठने वाले हैं परिश्रमपूर्वक ज्ञानराशि से सम्पन्न कृतबुद्धि नागरिक, जिन्होंने राष्ट्रोन्नति को लक्ष्यकर सर्वथा भुला दिया है, परस्पर द्वेष को। ऐसी राष्ट्र रूपी नौका में अर्थ (धन-सम्पत्ति) दास बनता है समर्थ व उत्साही व्यक्ति का (न कि भ्रष्टाचारियों का), नीति साधन बनती है राष्ट्राधिपत्य की प्राप्ति का (न कि अनीति), परस्पर मन्त्रणा में संस्कारपूर्ण व्यवहार तथा विषय को महत्त्व दिया जाता है (न कि असंस्कारपूर्ण वैषम्य को जन्म देने वाले विषयों को)। ऐसे राष्ट्र में विद्वान् भाग्योदय को सहज ही प्राप्त करते हैं। यही है सनातनकवि की दृष्टि में सच्चे राष्ट्र का स्वरूप।

वैपरीत्य से अत्यन्त ग्रसित इस युग में भी सनातनकवि आशा के दृढ तन्तु को नहीं छोड़ते। सूर्य चक्रवर्ती है तेजस्वी है, जो अन्धकार के घनघोर नैराश्य को विच्छिन्न कर पृथ्वी के गर्भ से प्रतिदिन जिस प्रकार उदित होता है वैसे ही भारतीय प्रज्ञा की दृढनिष्ठा है आशाबन्ध में, इसीलिए यह राष्ट्र अत्यन्त विनाश की अवस्था में भी अविनाशी बना रहता है -

आशाबन्धे भारतस्यास्य निष्ठा

161 सप्त., 3.17
162 सप्त., 3.16

नासौ देशोऽत्यन्तनाशेऽप्यनाशः ।
गर्भात् सूर्यश्चक्रवर्ती विवस्वाँ
स्तेजोराशिर्हन्त जायेत कच्चित् ॥[163]

सनातनकवि के अनुसार जैसे अत्यन्त तुच्छ चीटियों का समूह निरन्तर प्रयासरत हो दंदशूक की भयानक दंष्ट्रा को भी चकनाचूर कर देता है वैसे ही नैराश्य के घनघोर तिमिर को नष्ट करने वाली तीव्र प्रकाश की तच्छन्न किरण राष्ट्र को अवलम्ब प्रदान करने के लिए अवश्य ही उदित होगी -

तेजोराशिर्भस्मसात्कृत्य रात्रिं
सम्प्रत्यस्मिन् राष्ट्ररत्नेऽप्युदेति ।
च्यूँटीसंघो दंदशूकस्य दंष्ट्रां
निष्पिष्योच्चैः साफलीं किं न धत्ते ॥[164]

युगबोध से संस्कृत कविता कभी भी निरपेक्ष नहीं रही। इतिहास साक्षी है कि ऋषिपरम्परा के संवाहक तपस्वियों ने निरन्तर भारतीय राजनीतिक परिदृश्य को सही दिशा प्रदान की अपनी रचनाओं से तथा समय-समय पर अपने उपदेशों से। सनातनकवि सतर्क करते हैं वर्तमान युग के शिक्षित समाज को कि यदि वे सांसारिक व्यवहार से सर्वथा निरपेक्ष हो स्वाध्यायमात्र में निरत रहेंगे तो उनकी दशा उस मूर्ख पक्षी के समान होगी जो दावाग्नि से कवलीकृत वृक्ष के कोटर में ही बैठा-बैठा नष्ट हो जाता है।

परिसरगतं त्यक्त्वा वृत्तं य र्दृक्षत् आत्मनः
परमपुरुषस्वाध्यायादिप्रकोष्ठपरिष्क्रियाम् ।
स खलु विहगो, वृक्षे ज्वालाशतैः कवलीकृते
दवदहनजैः, सीदत्येवास्य कोटरमध्यगः ॥[165]

यह राष्ट्र निरन्तर अभूतपूर्व मेधा के धनी विद्वानों से दिशा प्राप्त करता रहा है। वशिष्ठ, वाल्मीकि, परशुराम तथा महर्षि वेदव्यास जो स्वयं परम वैराग्य के धनी थे, ब्रह्मविद्या के उपासक थे, सांसारिक मोहमाया से असंपृक्त थे, उन्होंने भी समय आने पर परमकारुणिक भाव से समाज को शुद्ध करने के लिए नीतिपूर्ण वचनों का प्रकाशन किया -

वसिष्ठो, वाल्मीकिः, स च विशदमेधा भृगुपतिः

[163] सप्त., 3.18
[164] सप्त., 3.19
[165] सप्त., 4.12

स च व्यासो ब्रह्माक्षरनिभृतचित्ता अतितराम्।
अथाप्यद्धा शोद्धु जनमपि महाकारुणिकता-
मिमे काले काले किमु न हि दधुर्नीतिमहिताम्॥[166]

कौटिल्य तो थे परम वैराग्याधिष्ठित मति वाले परन्तु आवश्यकता पड़ने पर क्या उन्होंने नहीं किया शमन अनाचारी नन्दों का और नीतिज्ञ मौर्यों को साम्राज्य नहीं प्रदान किया? अर्थात् अवश्य प्रदान किया। सायणाचार्य द्विज-कुलपति थे, वेदभाष्यों के कर्ता थे, तथापि आवश्यकता पड़ने पर उन्होंने प्रसिद्ध युद्धों का कौक्षेयक धारण कर नेतृत्व अवश्य ही किया था -

विरक्तः कौटिल्यः किमु न नव नन्दान् क्षपितवान्
अथो मौर्य राज्ये विधृतचरणं किं न कृतवान्।
स वेदव्याख्याता द्विजकुलपतिः सायण इति
प्रथावान् किं युद्धान्यकृत न हि कौक्षेयककरः॥[167]

द्रोणाचार्य ब्राह्मण थे परन्तु शस्त्रविद्या में पारंगत परमवीर योद्धा भी थे। 'शिक्षा और भिक्षा' दोनों ही का सामानाधिकरण्य दृढ़तापूर्वक विश्वामित्र में प्रतिष्ठित था -

इतो ब्राह्ममितः क्षात्रं शापादपि शरादपि।
युद्धक्षेत्रे द्विजाद् द्रोणाद् भिन्नः को न्विदमब्रवीत्॥[168]
शिक्षा भिक्षे'-ति यौ शब्दौ एतयोः साम्प्रतं दृढम्।
सामानाधिकरण्यं हि विश्वामित्रे प्रतिष्ठितम्॥[169]

सनातनकवि के अनुसार धर्म और राजनीति दोनों एक दूसरे के पर्याय हैं। धर्म का कार्य है राजनीति को नियमित करना। धर्मनिरपेक्ष राजनीति की परिकल्पना राष्ट्र के विनाश का हेतु है। राजनीति की लोकयात्रा सुखपूर्वक तभी पूर्ण की जा सकती है, जब वह धर्म पर प्रतिष्ठित हो। धोखे से बहुमत सिद्धकर सत्ता का सुख प्राप्त करने वाले नेता को सभी को कर्मों में अनुप्राणित करने वाले परमात्मा का नेत्र अवश्य ही देखता है -

धर्माचार्यप्रबोधेन लोकयात्रा सुखायते।
स एव नेत्रं सर्वेषां विश्वस्मिन् कर्मसंगिनाम्॥[170]

166 सप्त., 4.15
167 सप्त., 4.16
168 सप्त., 4.17
169 सप्त., 4.18
170 सप्त., 4.19

साम्प्रदायिक सौहार्द्र की भावना आज के युग की संस्कृत कविता में हटमूल है। यही मानी जा रही है आवश्यकता आज के युग की। सनातनकवि के अनुसार कोई भी जन्म से नहीं अपितु प्रवृत्ति से हिन्दू या मुसलमान होता है। भारतीय परम्परा में कौरव क्या आततायी नहीं थे मुसलमानों सदृश और क्या मुस्लिम परम्परा में मुहम्मद साहब हिन्दू नहीं थे? अतः इस सम्पूर्ण पृथ्वीतल पर मनुष्य के मध्य सम्प्रदाय व जाति के आधार पर किया जाने वाला विभाजन मतिविभ्रम मात्र है, वस्तुतः सभी ईश्वर की सन्तान हैं, सभी समान हैं तथा सभी को अपने-अपने धर्मों का स्वतन्त्र हो अनुपालन करने का अधिकार है -

कौरवा मुस्लिमानाः किं नाभूवन् हिन्दुदर्शने।
मोहम्मदश्च नासीत् किं हिन्दूर्मुस्लिम-दर्शने॥[171]
तस्मादिदानीं पृथिवीतलेऽस्मिन् मनुष्यभेदो मतिविभ्रमो वः।
ईशस्य सर्वे तनयाः, समानाः सर्वे, स्वधर्मव्रतिनश्च सर्वे॥[172]

कोई भी यवन माता पयोधरों से विष प्रवाहित नहीं करती। यवन होते हुए भी उसके पयोधरों से अमृत की धार ही बहती है। कोई भी हिन्दूमाता गर्भक्लेश को सहे विना सन्तति को जन्म नहीं देती; कोई भी बालक हाथ में शस्त्र या समिधा धारण कर पैदा नहीं होता तब मनुष्य को इन साम्प्रदायिक तुच्छ तीमाओं में क्यों बाँटते हैं राजनेता स्वार्थपूर्ति के लिए। यदि वृत्ति और प्रवृत्ति के इस भेद में कारण माना जायगा तो कोई भी संसार में अभिन्न नहीं हो सकेगा। अतः आवश्यकता है आज के समाज में ऐक्य की स्थापना करने की जो सभी में मनुष्यमात्र की प्रतिष्ठा मानने से ही संभव हो सकती है -

या माता यवनी पयोधरयुगे तस्या विषं नेक्ष्यते
गर्भक्लेशभरं विना प्रसविनी नो हिन्दुमातेक्ष्यते।
नो शस्त्रं समिदेव वा करयुगे जातस्य संदृश्यते
तस्मात् किं ननु तद् यतो वत पुमान् पुंसो हि संभिद्यते॥[173]
वृत्ति प्रवृत्तिभेदाभ्यां भिन्नता यदि कल्प्यते।
को न्वभिन्नस्तदा, को नु भ्राता का च स्वसा नृषु॥[174]

सनातन कवि साम्प्रदायिक विद्वेष का मूल मानते हैं स्वार्थपूर्ति की अन्धी वासना को। मनुष्य ने स्वार्थपूर्ति हेतु पृथ्वीमाता के गर्भ में सम्प्रदाय के दुर्ग बना

171 सप्त., 4.25
172 सप्त., 4.26
173 सप्त., 4.27
174 सप्त., 4.28

रखे हैं जिनकी प्यास रक्त से बुझाते रहते हैं हम (राजनेता) क्योंकि जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त इनकी/हमारी भूख मिटती ही नहीं भले ही सम्पूर्ण पृथ्वी को ही क्यों न ये ग्रास बना ले।

मृत्योः प्रागथ जन्मनः परमसौ जन्तुर्मनुष्याभिधः
सर्वं व्योम समां च भूमिमहहा ग्रासीचिकीर्षत्यलम्।
कामः सोऽयमिमं विभेदयति धिक् तस्यैव जृम्भोदरे
दुर्गस्रग् ग्रथिताऽऽस्तृता च धरणी रक्तैर्नरेणाऽमुना॥[175]

इन समस्त वैपरीत्यों से आक्रान्त राष्ट्रीय राजनीति को दिशा प्रदान करते हैं सनातनकवि -

राष्ट्रं देवः, नीतिरेतस्य पूजा, पूजाद्रव्यं त्याग-सत्याऽऽर्यभावा।
एतत् सर्वं को नु नाद्य ब्रवीति पूजामन्त्रान् किन्तु नो कोऽपि वक्ति॥[176]

यह राष्ट्र एक देवता है जिसकी पूजा है नीति। इस पूजा में द्रव्य सामग्री का कार्य करते हैं त्याग, सत्य और आर्यभाव से परिपूरित मनुष्य की बुद्धि। इन सभी को सभी जानते हैं, परन्तु इस सामग्री से पूजा कराने के लिए मन्त्रोच्चारविधि में कोई भी प्रेरित होता नहीं दिखता।

भारतवर्ष के लोकतन्त्र में राजा प्रजा के सेवक के रूप में प्रजा ही बन जाता है। प्रजा मताधिकार के प्रयोग से राजा बन बैठती है। ऐसी स्थिति में यहां स्वर्ग भी दास बनने को लालायित दिखता है। भारतवर्ष के लोकतन्त्र में जनता ही नेता है और राज्य को माना जाता है स्वधर्मपालनव्रत में दृढ़ समर्पित नागरिकों का समूह। ऐसा करती हुई प्रजा भी स्वयं राजा बन बैठती है -

यत्र प्रजायते राजा राजानति तथा प्रजा।
मेरुपृष्ठायमानेऽस्मिन् राष्ट्रे स्वर्गोऽपि दासति॥[177]
साम्प्रतं वयमेव स्मो नेतारो भारतावनौ।
स्वधर्मपालनं राज्यं राजानोऽपि ततो वयम्॥[178]

नाटक के भरतवाक्य में सनातनकवि कामना करते हैं कि वैपरीत्यों से अध्याक्रान्त इस राष्ट्र में प्रशासन प्रकृतिहित के प्रति सन्नद्ध हों, प्रजाजन स्वयं को अनुशासित रखें, मनुष्य के हृदय में स्थित विराट् की अर्भ्यचना हो तथा मनुष्य राष्ट्रभक्ति से परिपूर्ण हो -

[175] सप्त., 4.29
[176] सप्त., 6.33
[177] सप्त., 10.45
[178] सप्त., 10.46

प्रजाजनं प्रकृतिहितेषु जागृयात् प्रजाजनो निजमनुशास्तु संयतः ।
समर्च्यतां पुरुषहृदि स्थितो विराट् स पूरुषः परिगतराष्ट्रभक्तिभिः ॥[179]

आचार्य द्विवेदी ने 'त्रिपादी', 'कस्य दोषः' तथा 'कोऽसौ' नामक तीन लघु-कथाओं की भी रंचना की है जो साहित्य अकादमी की पत्रिका 'संस्कृतप्रतिभा' में प्रकाशित है।

3.2 यूथिका - आचार्य द्विवेदी ने अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध नाटककार शेक्सपियर के नाटक रोमियो जूलियट का संस्कृत रूपान्तर किया है, 'यूथिका' नामक अपनी चार अंकों की संस्कृत नाटिका में। इसमें यूथिका है नायिका और हर्ष है नायक। आपने शेक्सपियर के नाटक के रूपान्तर के माध्यम में प्रेम को उदात्त भूमिका में प्रतिष्ठित किया है और राजगुरु के चरित में अपेक्षित परिष्कार कर उसके स्वरूप की औचित्यपूर्ण रक्षा की है जो शेक्सपियर से सम्भव नहीं हो सका था। सनातनकवि स्वयं कहते हैं कि इस रूपान्तर में कथा है विदेशी, परन्तु इसकी रचना का शिल्प है भारतीय। सनातनकवि ने नाट्यरूपान्तरण के माध्यम से कृति के सर्जन का उपक्रम ही उचित समझा -

सनातनेन कविना क्लेशः सोऽयं समुद्धृतः ।
आत्मा वैदेशिकी भूम्ना तत्र शिल्पं पुनः स्वकम् ॥[180]

विष्णु भगवान् के वराहावतार की स्तुति की है सनातनकवि ने नान्दीपद्य में। यह अर्थगौरव से मण्डित है। वराहावतार के लिए प्रयुक्त इस नान्दी में नाट्यविषयक अनेक सूचनाएँ प्राप्त होती हैं -

यस्मिन्नास्ते धरित्री गज इव नलिनी दन्तलग्ना त्रिलोकी
यस्योच्छ्वासेषु वीचिष्विव तरलिततां राजहंसीव धत्ते।
यस्य स्तोत्रेषु वाणी श्रयति निपुणतां पंजरस्था शुकीव
स श्रीमान् आदिकोलः घटयतु भवताम् इष्टसृष्टिं महिष्ठाम् ॥[181]

इस नान्दी पद्य में आशीर्वचन, नमस्क्रिया और काव्यार्थसूचन तीनों का समावेश है। इन तीन विशेषताओं के अतिरिक्त सनातनकवि ने इसमें साहित्यिक वैशिष्ट्य को भी समाहित किया है। सनातनकवि कामना करते हैं श्रीमान् आदि-कोल (वराहावतार भगवान् विष्णु) सभी का सर्वविध कल्याण करें। जिनके मुख

[179] सप्त., 10.47
[180] यू., 1.3
[181] यू., 1.1

में हाथी के दांतों में फसीं कमलिनी के समान लगी रहती है पृथ्वी, जिसकी उच्छ्वास रूपी तरंगों में त्रिलोकी राजहंसी के समान विराजमान है और जिसके स्तोत्रों में वाणी पंजरस्थ शुकी के समान आचरण करती दिखाई देती है।

आदिकोल के माध्यम से सनातनकवि ने सामाजिकों के लिए आशीर्वचन प्रस्तुत किया है। पुराणकथाओं में प्रसिद्ध वराहावतार की स्तुति नमस्क्रियात्मक मंगल की सूचक है। सादृश्यमूलक अर्थालंकारों की अद्भुत छटा काव्यशास्त्रीय वैशिष्ट्य से सम्पन्न है। सनातनकवि अभिज्ञानशाकुन्तल के टीकाकार राघवभट्ट के नान्दी लक्षण का अनुकरण करते प्रतीत होते हैं- आशीर्नमस्क्रियारूपः, श्लोकः काव्यार्थसूचकः नान्दीति कथ्यते.....।

नाटिका की रचना प्रक्रिया के विषय में स्वयं सनातनकवि ने इसकी भूमिका में लिखा है कि एक ही वक्तव्य को यदि देखना हो कि कैसे विदेशी मस्तिष्क प्रस्तुत करता है और कैसे भारतीय तो यूथिका में देखा जा सकता है। इसमें वक्तव्य का परिष्कार तो है ही नाट्यप्रस्तुति का भी परिष्कार है जिससे यह नाटिका रुचिकर बन गयी है। अनेक स्थलों पर सूच्य कथानक को दृश्य बना कर अनौचित्य का प्रदर्शन किया गया था विदेशी शिल्पविधान में उसको सनातनकवि ने अपनी इस नाट्यकृति में सूच्य बनाकर औचित्य का निर्वाह किया है। शेक्सपियर को सनातनकवि ने अपनाया है पर वहां नहीं जहां यह भारतीय समुदाचार के अनुकूल नहीं है और जिसको भारतीय चेतना अनुमति प्रदान नहीं करती -

एकमेव कथानकं वैदेशिका भारतीयाश्च कथं वा निबध्नीयुरिति निदर्शयितुं प्रावर्तिषि शेक्सपियरस्य (1564-1616ई0) नायकमृत्युपर्यवसायिषु रूपकेषु वस्तुनि स्वाभाविकतरस्य नातिक्षेपणस्य च 'रोमियो-जूलियट' नाटकस्य कथार्थं सूच्येऽप्यंगे दृश्यतामनाधाय परिहृत्य चानभ्यर्हितं घटनाजातं संस्कृतेन प्रस्तोतुम्। सेयं यूथि-कानाम्नी नाटिका। अस्या रोमियोजूलियटेन प्रायस्तुल्यदेहितैव। शेक्सपियरोऽत्र न न ध्रियते, किन्तु न तथा यथा पराजयेत निलीयेत वास्माद् भारतीया संवित्।

नाटिका के प्रतिपाद्य को सनातनकवि ने एक पद्य में इस प्रकार उपनिबद्ध किया है -

कामाग्निदग्धयोः शान्तिं कामिनोः परतन्त्रयोः।
कालेनात्पेन सिध्यन्ती भावका भावयन्त्विमाम्॥[182]

प्रेम की अग्नि से परतन्त्र प्रेमीयुगल की अल्पकाल में शान्त हुई प्रेमपिपासा की भावना भावक सहृदय इस नाटिका में कर सकते हैं। यहां प्रेमी युगल हैं हर्ष

[182] यू., 1.6

(रोमियो) और यूथिका (जूलियट)। इनका अल्पकालिक जीवन इस नाटिका में प्रेम की प्रगाढ़ता, विवाह, बाधाएं और मृत्यु की परिणति के रूप में विवेचित है। दोनों के ही संभ्रान्त वंशों में परस्पर शत्रुता रही। दोनों ही इनके प्रणय की सिद्धि में बाधक बनते हैं, अपने अहंकार की तृप्ति के लिए।

इस नाटिका में दो सम्भ्रान्त वंश प्रेमी युगल बने दो बच्चों के जीवन से खेलते हैं। विरोध और बाधाओं के बीच खेलते खेलते उन दोनों की मृत्यु हो जाती है। परिस्थितियों से अभिशप्त वे दोनों अपने खरीदे घर में भी एक भी दिन नहीं रह पाते -

क्रीतेऽपि नैवोषिमद्य यावत् प्रेमप्रकोष्ठे मयका, न मेऽहम्।
यस्यामि तेनापि न हन्त भुक्तं बिभर्म्यधीरं युवभावमेनम्॥[183]

यूथिका की प्रत्येक पंक्ति आगामी घटनाचक्र के औत्सुक्य को उत्पन्न करती है। आगे क्या हुआ, कौन सी घटना घटेगी इस प्रकार की जिज्ञासा अध्येता के मन में निरन्तर बनी रहती है। नाटिका को और अधिक ग्राह्य बनाने के लिए सनातनकवि ने कथानक में समाज और संस्कृति के अनुरूप परिवर्तन किए हैं। सनातनकवि का मानना है - पवित्रता हि प्रणयस्य जीवितम् - प्रणय का प्राण होती है हृदय की पवित्रता। रोमियो जूलियट में प्रथम मिलन में ही नायक रोमियो नायिका जूलियट का चुम्बन करता है। सनातनकवि ने इस दृश्य को बदला। उन्होंने रोमियो (हर्ष) के स्थान पर जूलियट (यूथिका) को चुम्बन में सक्रिय दिखाया है। सनातनकवि ने इसको सूच्य कोटि में डाल दिया है। इस सम्पूर्ण दृश्य को सुन्दरक और जानुक नामक दो पात्रों के मध्य संवाद के माध्यम से प्रस्तुत किया है। सुन्दरक जानुक को सूचित करता है कि उसने दो युवकों को परस्पर बातचीत करते सुना कि विवाह प्रस्ताव के लिए आयोजित समारोह में जूलियट का मन नहीं रमता और उसने नृत्य से पराङ्मुख होकर दूर खड़े रोमियो का भरपूर चुम्बन किया। इसके लिए उसने रोमियो को अपनी परिचारिका से अपने पास बुलाया था।

आधुनिक नाट्य के मनीषी सिद्धान्ततः मानते हैं कि भविष्य में होने वाली घटनाओं के प्रति सहृदय की जिज्ञासा का भाव दृढ़तापूर्वक बने रहने पर ही नाट्यप्रस्तुति की सफलता निर्भर करती है। जिज्ञासापूर्ण परिस्थितियों से निकल प्रधान फल की सिद्धि में अग्रसर नाटक ही सफल माना जाता है। यूथिका में हर पल नायक और नयिका के सिर पर मृत्यु की तलवार लटक रही है। दोनों में इतना प्रबल प्रगाढ़ प्रेम है कि उनको मृत्यु स्वीकार्य है पर एक दूसरे से अलग होना नहीं।

[183] यू., 2.8

महल के कड़े पहरे से निकल जब नायक हर्ष नायिका यूथिका के महल के कक्ष में पहुंच जाता है तो यूथिका उससे घबराकर पूछती है -

यूथिका (सावेगम्) - प्राचीरमुल्लंघ्य कथं प्रियाऽस्यां
मद्वाटिकायां कथयावतीर्णः ॥[184]

यूथिका (पर्याकुला) - ननु शत्रवस्ते मत्कुटुम्बिनः। पश्यति
चेत् कश्चिदत्याहितं भवति।

यूथिका कहती है हर्ष से कि उसके महल की विशाल दीवार को लांघ कर वह कैसे उसके कक्ष में पहुंचा। यदि हर्ष को उसके परिवार के लोग देख लेंगे तो बड़ा अपकार हो सकता है। वे सभी हर्ष के खून के प्यासे जो हैं।

यूथिका के इस भय का उत्तर हर्ष देता है -

हर्षः - कामं पश्यतु शत्रुर्मां जिघांसतु च निर्दयम्।
प्रिये त्वद्विरहो वास्तु मृत्युर्वास्तु किमन्तरम् ॥[185]

मेरे शत्रु मुझको यहां हुआ देख लें या फिर देख कर मुझको मार दें फर्क नहीं पड़ता। परन्तु फर्क तब पड़ता है तुम्हारे विरह से। मैं तुमसे होने वाले विरह और मृत्यु में अन्तर नहीं मानता। मेरे लिए तो दोनों ही एकरूप हैं।

यूथिका नहीं चाहती कि हर्ष किसी बड़े संकट में पड़े। अतः वह उसको वहां से लौटने के लिए कहती है -

यूथिका - किन्तु मा भूवं तव प्राणहरेति प्रार्थये निवर्तस्व। ननु प्रभाता रजनी (पृष्ठ 15)।

देखो रात बीत गयी है सबेरा होने को आया है इसलिए तुम लौट जाओ। कहीं मैं तुम्हारी मृत्यु का कारण न बन बैठूं।

यूथिका ऐसा कहने पर भी हर्ष प्राण त्यागने को तैयार है। उसके लिए वियोग जनित दुःख असह्य था। वह कहता है -

हर्षः - मृत्युः प्रियः परमसौ न तवांगसंग-
निर्वाणशान्तिरहितः कठिनो विवासः ॥[186]

मुझको मृत्यु प्रिय है परन्तु कथमपि नहीं प्रिय है तुम्हारा वियोग। इस वियोग को मैं सह नहीं सकता क्योंकि इसमें अभाव है तुम्हारे अंगों के आलिंगन से प्राप्त

[184] यू., 1.34
[185] यू., 1.38
[186] यू., 3.11

होने वाली परम विश्रान्ति का।

रामियो जूलियट का अन्तिम दृश्य जहां खून से लथपथ होने के कारण विरसता उत्पन्न करता है वहीं यूथिका के अन्तिम दृश्य की सरसता को देख सामाजिक चमत्कृत हो उठते हैं। रोमियो जूलियट के अन्तिम दृश्य को यदि सामाजिक देख नहीं पाता तो यूथिका के अन्तिम दृश्य को छोड़ नहीं पाता। सनातन कवि ने न नायक हर्ष को और न हि धर्मगुरु को अपराधी के रूप में प्रस्तुत किया है। यूथिका के अन्तिम दृश्यों में, शेक्सपियर की संरचना के विपरीत, धर्मगुरु नायक हर्ष को निरपराध सिद्ध कराकर उसके राज्य से निर्वासन को समाप्त करा दिया है।

रोमियो जूलियट में पैरिस (नगर रक्षक) का वध कर देता है रोमियो। वह अपनी प्रियतमा की कब्र खोदता है। उसका मुँह देखता है। विषपान कर उसकी कब्र में ही सदा सदा के लिए सो जाता है। इसी समय फ्रायर लारेंन्स (धर्मगुरु) उपस्थित होता है और जूलियट का विष उतार कर उसको जीवित कर देता है। वह जीवित नहीं करता रोमियो को। जीवित हुई जूलियट जब अपने प्रियतम रोमियो को कब्र में मरा देखती है तो वह स्वयं को छुरी मार कर आत्महत्या कर लेती है। इसको देख फ्रायर लारेंस वहां से चला जाता है। राजा के सिपाही उसको पकड कर अपराधी घोषित कर प्रस्तुत करते हैं।

शेक्सपियर के नाटक का यह दृश्य नीरसता का जनक है। विद्रूपता और अनौचित्य इसमें भरा है कूट कूट कर। दर्शक नाटक की समाप्ति के पहले ही सम्भवतः आंखे बन्द कर लें या फिर सभागार को छोड़ कर चले जाएं।

शेक्सपियर की नाट्यप्रस्तुति को सरस और औचित्यपूर्ण बनाने में सनातनकवि ने अपने नाट्यकौशल का भरपूर उपयोग किया है। आलोचकों का मानना है कि यदि शेक्सपियर के अन्तिम दृश्य को सहृदय दर्शक देख नहीं सकते तो यूथिका के अन्तिम दृश्य को छोड़ नहीं सकते।

सनातनकवि यूथिका में न हर्ष को और न ही धर्मगुरु को अपराधी सिद्ध कराते हैं। यूथिका में दृश्य को परिष्कृत किया सनातनकवि ने। उनने हर्ष के पास धर्मगुरु का पत्र भिजवाया कि यूथिका को कब्र से निकाल कर उसके विष के प्रभाव को समाप्त कर उसको जीवित करना है। हर्ष समय पर कब्रगाह पहुंचता है और धर्मगुरु के साथ यूथिका की कब्र को खोदता है। विष के प्रभाव से कब्र में पड़ी यूथिका को मुक्त करना है। धर्मगुरु उसको विष के प्रभाव से मुक्त करता है। वह जीवित हो उठती है। देखती है हर्ष को। प्रसन्न होती है। संयोग शृंगार के अनेक रमणीय संवाद यहां प्रस्तुत किए हैं सनातनकवि ने।

इसके उपरान्त धर्मगुरु हर्ष के निरपराध होने की राजाज्ञा प्राप्त करने चले जाते हैं। पुनः यहां पर सनातनकवि ने संयोग शृंगार के हृदयावर्जक संवादों को प्रस्तुत किया है।

यूथिका नाटिका में सनातनकवि ने धर्मगुरु को निरपराध सिद्ध किया है और लात और मान दोनों ही वंशों में चिरकाल से चले आ रहे वैर को भी समाप्त कराकर सौहार्द्र का वातावरण बनाया है। लात वंश की है नायिका यूथिका और मान वंश का है नायक हर्ष।

यूथिका नाटिका अन्तिम दृश्य में हर्ष जब यूथिका की कब्र खोदने जाता है तो साथ में विष की शीशी भी रख लेता है। उसने सोचा था कि यदि यूथिका को कुछ हो गया तो वह वहीं पर विषपान कर लेगा। यूथिका उससे पूछती है कि उसके हाथ मे क्या है तो वह कहता है संजीविनी औषधि -

यूथिका - ननु किमेतत्।
हर्षः - संजीवनौषधमिदं क्षणजीवितानाम्।
यूथिका - कीदृग्विधं प्रिय!
हर्षः - निरस्यति यद् विभीषाम्।
यूथिका - कस्मात्
हर्षः - इतः परवशंवदताविषाच्च स्वातन्त्र्यहीनसुभगत्वकलंकनाच्च।
यूथिका - अय्येवं तत् पिबामि (बलाद् आकृष्य विषसीसिकां पिबति)।
हर्षः - (त्वरितमाक्षिप्य) अर्धमहपमि (पिबति)।
उभौ - संसार एष सुखमुच्छ्वसितु, स्मरौघः,
नो विप्रतीपमुपधावति, साऽस्य जातिः।
आवाम्, अवाप्त-चरितार्थ-समस्त-भावौ
मुच्यावहे सुखमिमौ, प्रभवे प्रणामाः ॥4.25॥

यूथिका और हर्ष कामना करते हैं कि इस संसार में रहने वाले सभी प्राणी सुख का अनुभव करें। कामदेव के प्रबल प्रभाव का स्वभाव है कि वह कभी भी विपरीत दिशा की ओर नहीं दौड़ता। हम दोनों ने अपने समस्त भावों को चरितार्थ कर लिया है अतः हम इस संसार को प्रसन्नचित्त हो छोड़ रहे हैं। हम प्रणाम निवेदित करते हैं अपने कुल के परम पिता परमेश्वर को जो हमारे जन्मदाता हैं। हम इसी प्रकार प्रणाम करते हैं अपने माता-पिता को भी।

विषपान कर मृत्यु का स्वेच्छया वरण करने वाले प्रेमी युगल उसी कब्र में लुढक जाते हैं जिससे यूथिका को हर्ष ओर धर्मगुरु ने प्रयासपूर्वक निकाला था।

नाटिका की परिणति वही होती है जो शेक्सपियर को मंजूर थी पर वैसे नहीं जैसे शेक्सपियर को मंजूर थी।

आचार्य द्विवेदी के लगभग पचास वर्षों में रचित विशालकाय साहित्य का एक साथ अध्ययन करने पर स्पष्ट दिखाई देता है कि कविकर्म के प्रारम्भिक दौर में जो महाकवि भारतीय आदर्शों के स्वाभिमान से पूरित था, वही कालान्तर में विकास की आँधी में आदर्शों के विलीन हो जाने से, समाज को भविष्य के विनाश से बचने के लिए सतर्क करता दीखता है, अपनी कविता में।

यूथिका में अनेक सूक्तियां हैं जिनसे सामाजिकों को लोक व प्रणय विषयक अनेक आदर्श सूत्र प्राप्त होते हैं। सनातनकवि के अनुसार -
धर्मविवाहं यावत् प्रणयिनामात्मनियन्त्रणम्- कुटुम्बियों की अनुमति से जब तक धर्मविवाह नहीं हो जाता तब तक प्रणयियुगल को आत्मसंयम बरतना चाहिए।
अकीर्तिर्मृत्युसमाना- अपयश मृत्यु के समान होता है।
कन्याविवाहः कृच्छ्रसाध्यः- कन्या का विवाह कठिनाई से साध्य होता है।
प्रजानां वैरकाग्नौ राजापि शलभायते- प्रजाओं के मध्य यदि वैर की अग्नि फैलती है तो राज उसमें पतंगे के समान जल जाता है।
नियतिस्तु फलैकधुक्- विधाता का विधान परिणाम पर्यन्त चलता है।

इस प्रकार की अनेक लोकसम्बन्धी सूक्तियाँ यूथिका में प्रत्यक्ष उपस्थित मिलती हैं। इन सूक्तियों में निहित है समाज को यथार्थ से परिचित कराने की भावना। लोक के प्रति सतर्कतापूर्ण व्यवहार करने की प्रवृत्ति का उपदेश। युवक और युवतियों को प्रणय के अधीन होकर असंयमपूर्ण आचरण से सतर्क करने की प्रबल इच्छा। समाज में आदर्श पूर्ण जीवन जीने की भावना का सन्देश।

संस्कृत में कविता को अरविन्द महर्षि और रवीन्द्रनाथ टैगौर की उच्चता देने का श्रेय आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी को जाता है। पारम्परिक प्रतिमानों पर रचित आपकी कविता न केवल पौराणिक सन्दर्भों को विषय बनाती है अपितु उसमें आज के समाज का स्वरूप व उसकी संवेदना सशक्त रूप से चित्रित है।

आचार्य द्विवेदी की कविता में चित्रित है विगत पचास वर्षों के भारतीय समाज का सच्चा क्रमिक इतिहास। कवि चेतना समाज में घटित होने वाली प्रत्येक घटना को तटस्थ हो परखती है, परन्तु उससे अछूती नहीं रह पाती। आचार्य द्विवेदी का कविहृदय यदि अनुकूलता पर प्रसन्न होता है तो, प्रतिकूलता से उद्विग्न भी होता है। शीघ्र ही हुए निठारी काण्ड पर भी आचार्य द्विवेदी की कविता आ गयी है विद्वानों के सम्मुख जिसमें क्रूरकर्मा नृशंस मानव की घोर भर्त्सना भरी पड़ी है।

इस प्रकार हम कह सकते है कि आधुनिक संस्कृत कविता भारतीय समाज के स्वरूप को प्रतिबिम्बित करने वाला सच्चा दर्पण है और इसीलिए वह जीवित साहित्य है।

शब्दसंकेत

1. अ. - अमेरिका
2. अहम्. - अहमस्म्यहमेव
3. उ.सी. - उत्तरसीताचरितम्
4. ए.या. - एतत्तु याचामहे
5. कु.वि. - कुमारविजयम्
6. ज.स. - जयेन्द्रसरस्वतीपादावदान
7. प्र.क. - 'प्रमथ' कस्त्वं
8. प्र.किं. - 'प्रमथ' किं नु करोमि
9. प्र.न. - 'प्रमथ' नमो विषाय
10. प्र.नि. - 'प्रमथ' निसर्ग
11. प्र.प्र. - 'प्रमथ' प्रलाप
12. प्र. - प्रमथः
13. प्र.भा. - 'प्रमथ' भावा
14. प्र.मृ. - 'प्रमथ' मृत्यो
15. म. - मतान्तरम्
16. यू. - युथिका
17. र.स्व. - रत्नस्वरूपावदानकाव्यम्
18. रा.प. - रामपरिसंख्या
19. रे.पी. - श्रीरेवाभद्रपीठम्
20. वि.नि. - विधेर्होमो निषेधानले
21. वृ.कु. - वृद्धकुमारि
22. श.प. - शतपत्रम्

23. श.भ. - शरभंगम्
24. श. - शकटारम्
25. श.श. - शरशय्या
26. सप्त. - सप्तर्षिकांग्रेसम्
27. सु.ब्र. - सुगतो ब्रवीति
28. सं.ही. - संस्कृतहीरकम्
29. स्वा.सं. - स्वातन्त्र्यसंभवम्
30. ह.ह. - हरिहरावदानकाव्यम्

सन्दर्भग्रन्थसूची

1. अमेरिका (वर्णना-पंचशती संस्कृतकाव्यम्), रचयिता - म.म. रेवाप्रसादो द्विवेदी सनातनः, प्रकाशकं- कालिदाससंस्थानम्, वाराणसी, प्रथम संस्करण - 2008।

2. उत्तरसीताचरितम् (उत्तरे सीताचरिते दशसर्गात्मकं महाकाव्यम्), रचयिता - आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी सनातनकविः, प्रकाशकं - कालिदाससंस्थानम्, वाराणसी-5, प्रथम संस्करण - 1990।

3. प्रमथः (परमाणुयुगीयानि नव काव्यानि), रचयिता - रेवाप्रसाद द्विवेदी, प्रकाशनम् - कालिदाससंस्थानम् वाराणसी-5, प्रथम संस्करण - 1988।

4. मतान्तरम् (युगान्तरनान्दी), रचयिता - रेवाप्रसादो द्विवेदी सनातनः, अनुवादकः डॉ. सदाशिव कुमार द्विवेदी, प्रकाशनम् - कालिदाससंस्थानम् वाराणसी-5, प्रथम संस्करण - 2001।

5. रामपरिसंख्या, रचयिता - म.म. रेवाप्रसादो द्विवेदी सनातनः, प्रकाशकं - कालिदाससंस्थानम्, वाराणसी-5, प्रथम संस्करण - 2008।

6. शकटारम् (मानवप्रताडनाकाव्यम्), कविः महामहोपाध्यायः काश्यपो द्विवेदी रेवाप्रसादः सनातनः, प्रकाशनम् - कालिदाससंस्थानम् वाराणसी-5, प्रथम संस्करण - 2000।

7. शतपत्रम् (कविताविषयकं संस्कृतपद्यशतकम्), रचयिता - रेवाप्रसाद द्विवेदी 'सनातनः', प्रकाशनम् - कालिदाससंस्थानम्, वाराणसी-5, प्रथम संस्करण - 1987।

8. शरशय्या (सुगतो ब्रवीति, शतकत्रयम्), रचयिता - काश्यपो द्विवेदी रेवाप्रसादः सनातनमहाकविः, प्रकाशकं - कालिदाससंस्थानम्, वाराणसी-5, प्रथम संस्करण - 2002।

9. श्रीरेवाभद्रपीठम् (152 पद्यात्मकः श्रीनर्मदास्तवः), कृतिः महामहोपाध्यायस्य सनातनकवे रेवाप्रसादस्य द्विवेदिनः, अनुवादकृत् डॉ. सदाशिवकुमार द्विवेदी, प्रकाशकृत् - कालिदाससंस्थानम्, वाराणसी-5, प्रथम संस्करण - 1988।

10. सनातनस्य काव्यवैभवम्, प्रधानसम्पादकः - प्रो. ए.पी. सच्चिदानन्द, सम्पादक - प्रो. सदाशिवकुमारद्विवेदी, कविसपर्याग्रन्थमाला-1, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम् (मानितविश्वविद्यालयः), नवदेहली, प्रथम संस्करणम् - 2013।

11. सप्तर्षिकाङ्क्षेसम् (दशाङ्क नाटकम्), लेखकः आचार्य श्रीरेवाप्रसाद द्विवेदी महामहोपाध्यायः, प्रकाशकं - कालिदाससंस्थानम्, वाराणसी, प्रथम संस्करण - 2000।

12. स्वातन्त्र्यसम्भवम् (1-75 सर्गात्मकं महाकाव्यम्), रचयिता - आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी सनातनकविः, प्रकाशकं - कालिदाससंस्थानम्, वाराणसी-5, प्रथम संस्करण - 2001।

ब्रह्मर्षि आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी का साहित्यशास्त्रीय अवदान (परम्परा में मौलिकता का अद्भुत समन्वय)

शोभा मिश्रा

परब्रह्म परमेश्वर बाबा विश्वनाथ की पवित्र नगरी काशी के प्रकाण्ड विद्वान् महामहोपाध्याय आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी जी संस्कृत साहित्याकाश में 'सनातन कवि' के नाम से देदीप्यमान नक्षत्र हैं। आपने संस्कृत वाङ्मय को शताधिक मौलिक रचनाओं[1] से अलङ्कृत किया है। इन रचनाओं में से अनेक के इतिवृत्त मौलिक हैं जैसे श्रीरेवाभद्रपीठम्, शतपत्रम्, मतान्तरम्, रामपरिसंख्या आदि। ये सभी जहाँ विषयगत विविधता एवं प्रस्तुतीकरण की रोचकता से परिपूर्ण हैं वहीं आपके ऐतिहासिक महाकाव्य - स्वातन्त्र्यसम्भवम् एवं पौराणिक महाकाव्यों उत्तर-सीताचरितम् तथा कुमारविजयमहाकाव्यम् के इतिवृत्त प्रसिद्ध होकर भी कवि की मौलिक उद्भावनाओं तथा प्रासंगिकता से युक्त होने के कारण सहृदयहृदयावर्जक हो जाते हैं। सनातन कवि समसामयिक घटनाओं को भी झटिति अपनी कृतियों का विषय बनाते रहे हैं जैसे - सप्तर्षिकाङ्ग्रेसम् नामक दशांक समवकार, प्रमथः, शकटारम्, शरशय्या, अयि नीलनदि!, नमोनिर्वाचनम्, अमेरिका आदि। 'सनातन कवि' की कल्पनाशीलता एवं नवीन रचनाधर्मिता उन्हें संस्कृत महाकवियों में सर्वोच्च शिखर पर स्थापित कर देती है। निःसन्देह बीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध तथा इक्कीसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध संस्कृत जगत् में द्विवेदी-युग के नाम से विख्यात रहेगा।

सनातन कवि आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी ने संस्कृतसाहित्य के परिवर्द्धन के साथ ही साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में भी अद्वितीय योगदान दिया है। साहित्यशास्त्र में 'अलं ब्रह्म' के सिद्धान्त की स्थापना करते हुए आपने विश्व के समग्र साहित्य को उच्च दार्शनिक पीठिका पर स्थापित कर प्रकर्ष प्रदान किया है। एतदर्थ आपको ब्रह्मर्षि की उपाधि से अलङ्कृत करना हम संस्कृतज्ञों का परम कर्तव्य है।

ब्रह्मर्षि आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी की साहित्यशास्त्रीय नवीन स्थापनाएँ उनके काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र एवं साहित्यशास्त्र के प्रतिपादक लक्षणग्रन्थों से विगत पाँच दशकों से निरन्तर प्रकाश में आती रही हैं। आपकी क्रान्तिकारी नवीन स्थापनाओं का विधिवत् प्रतिपादन करने के लिए प्रकाण्ड विद्वान्, महान् आलङ्कारिक तथा कुशल समालोचक की प्रतिभा का एकत्र समायोजन अत्यन्त आवश्यक है।

---

[1] सनातनस्य काव्यवैभवम्, प्रधानसम्पादकः प्रो. ए.पी. सच्चिदानन्द, सम्पादक - प्रो. सदाशिवकुमारद्विवेदी, कविसपर्याग्रन्थमाला-1, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम् (मानितविश्वविद्यालयः), नवदेहली, प्रथम संस्करणम् - 2013।

प्रस्तुत शोधपत्र में ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी के देववाणी में उपनिबद्ध प्रकाशित सिद्धान्तों को यथासम्भव आपकी ही शब्दावली एवं दृष्टि से हिन्दी भाषा में उपस्थापित किया जा रहा है, जिससे संस्कृत के साथ ही अन्य भाषाओं के ज्ञाता साहित्यशास्त्रानुरागी विद्वान् द्विवेदीयुग की साहित्यशास्त्रीय स्थापनाओं से परिचित हो सकेंगे तथा आपकी मौलिक उद्भावनाओं एवं तार्किक समीक्षाओं से अवगत होकर साहित्यशास्त्र के उन्नत सैद्धान्तिक पक्ष को विधिवत् आत्मसात् भी कर सकेंगे।

ब्रह्मर्षि आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी के नितान्त मौलिक सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति बीसवीं शताब्दी के मध्य से ही विविध संस्थानों में दिये गये आपके व्याख्यानों में निरन्तर होती रही है, जिनका सागरिका आदि अनेक प्रतिष्ठित शोधपत्रिकाओं में समय समय पर प्रकाशन भी हुआ है। इसी प्रकार आपके द्वारा सम्पादित विविध ग्रन्थों की भूमिकाओं, समीक्षाओं, समालोचनाओं एवं पादटिप्पणियों में भी आपके नवीन दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से प्रकट होते आये हैं।

ब्रह्मर्षि आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी के प्रकाशित मौलिक सन्दर्भ-ग्रन्थों की भी सुमहद् सूची है, जिनमें से निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों को यहाँ विवेचित किया जा रहा है -

1. काव्यालङ्कारकारिका
2. नाट्यानुशासनम्
3. साहित्यशारीरकम्
4. साहित्यालङ्कारः
5. सौन्दर्यपंचाशिका
6. अलं ब्रह्म
7. अहमागमः (अलङ्कारशास्त्रागमः)
8. संस्कृत काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास (ई. पू. 300 से ई. सन् 2005 तक)।

1. काव्यालङ्कारकारिका

काव्यालङ्कारिका आधुनिक काव्यशास्त्र का स्तम्भभूत लक्षण-ग्रन्थ है। इसका तीन संस्करणों में प्रकाशन हुआ है -

- काव्यालङ्कारकारिका का प्रथम संस्करण ई. 1977 में चैखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी से प्रकाशित हुआ था। इस संस्करण में कारिकाओं के साथ संस्कृत में वृत्ति भी प्रकाशित हुई थी। इन कारिकाओं तथा वृत्ति दोनों का अंग्रेजी भाषा में रूपान्तर भी प्रकाशित किया गया था। इस प्रकार

काव्यशास्त्र का यह आधुनिक आगमग्रन्थ अपनी मूलभूत स्थापनाओं के साथ विद्वत् समाज में प्रस्तुत था किन्तु इसमें हिन्दी भाषानुवाद प्रकाशित नहीं था।

- काव्यालङ्कारिका का द्वितीय संस्करण सन् 2001 में महामहोपाध्याय प्रोफेसर रेवाप्रसाद द्विवेदी सनातन के द्वारा Kāvyālankārakārika (Samskrita Poetics with new steps, Fresh logical stand on poetic art in Sanskrta) इस शीर्षक से कालिदास संस्थान, वाराणसी-5 से प्रकाशित हुआ है। इसमें आचार्य द्विवेदी ने अपने काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों को विश्व पटल पर स्थापित करने के लिए आंग्लभाषा में विस्तृत व्याख्या के साथ प्रस्तुत किया है। इस संस्करण में आचार्य द्विवेदी की विषय के प्रवर्तन एवं परिवर्द्धन को सूचित करने वाली संक्षिप्त किन्तु उल्लेखनीय भूमिका प्राप्त होती है। आचार्य द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ के महत्त्वपूर्ण प्रतिपाद्य को इस प्रकार प्रस्तुत किया है -

1. Neither word nor meaning can be called poetry a concept of particular type. Even there the concept of word (and not word itself) plays part of an attribute alone.
2. Alamkara is the Soul of poetry because that only lives in the form of poetry. The sense of term Alamkara is here conveyed by the term 'Adequacy' and it is beyond the reach of expression or abhidha even in the form of Upama, etc.
3. Rasa is an effect of poerty and it does not reside in poetry. Therefore no question of its being soul of poetry is to be faced. I am very much glad to note that Bhoja has also come forward with the same idea in his Srngaraprakasa, if not misinterpreted.
4. **(a)** Language and Utterance are two different things. It is a different matter that latter (utterance) catches and communicates the former (language) well. Hence the fanciful statements as to – word is the origin of meaning, meaning cannot do without word, the word and meaning both are one in their subtlest form like the colours in the water of Peacock's egg (wordmonism) – have no

practical significance. **(b)** Pasyanti and Para are but utopia and Madhyama has no difference from the psychic constitution of language. Last one Vaikhari is the only Fact which is suitable to be called 'word' in practice. Sphota represents the ironic significance of language only but its autonomy is well rejected here, as in Slokavartika and Nyayamanjari.

5. Guna and Dosabhava are identical as Bharata institutes. For this stage of language the term 'perfectness' is proved suitable. Adequacy springs from within in this perectness and is never bereft of it. This way the Samavaya (unseparability) is the only relation which suites between the qualities and qualified (Gunin) in a poetic form.
6. Sabda was never objective and had never possessed any kind of Sakti (even Abhidha) there in to express, to relate its meaning whatsoever.
7. In its subjective form poetry pervades painting and sculpture also.
8. It is only subjectivity of poetry where can be conceptual words and meanings be clubbed or combined, and never in their objectivity.
9. Articulation was never a must for poetry. By this art of articulation one other art is introduced in poetry and that is music. Alliteration and other parts of speech like yamaka are the attributes of this musical touch only and not of poetry itself.
10. **(a)** Poetic creation is a result of Pratibha alone where from it can never and nowhere be separated. Pratibha has both the natures of cause constituent and auxiliary for poetry, which is not possible at all in nonpoetic world. Practice and scholarship are also of pscychic character in literature of every kind. **(b)** Pratibha is also of

two kinds automatic or natural and begotten. For latter one sattvodreka is the only begetter. Here help the Yoga philosophy of Patanjali and the Language-philosophy of Bharthari in their turns.

11. Poetry can be composed by poet without any sort of notion of return and the return may also be of wider nature like the invocation of the greater deity-nation and the World thereby.

आचार्य द्विवेदी अन्त में अपनी समीक्षा शैली के वैशिष्ट्य को भी इंगित करते हैं – Let me be allowed to owe the mercy of the Godess of learning who blessed me with the courage to express, without even a bit of any kind of hesitation, what is true and to turn down at once what is not admissible at any rate to non-sectarian criticism, free of the fusion of the two-percept and perceptible.

इस संस्करण में संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् एवं समालोचक प्रोफेसर तपस्वी नन्दी, गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद का परिचयात्मक एवं समीक्षात्मक उद्बोधन भी संलग्न है जिसका प्रकाशन एशियाटिक सोसायटी बॉम्बे के 1989-91 में प्रकाशित 64-66वें संस्करण में हुआ तथा जिसे एशियाटिक सोसायटी बॉम्बे में 1992-93 में व्याख्यान के रूप में भी प्रस्तुत किया गया था। प्रोफेसर तपस्वी नन्दी जी ने काव्यालङ्कारकारिका के प्रतिपाद्य को 13 शीर्षकों में विभाजित किया है -

We may enumerate the topics or adhikaranas covered by him (Prof. Rewaprasasd Dwivedi) as :

1. काव्यस्य सार्वपारिषद्यं मंगलगर्भलक्षणम्,
2. काव्यकारणम्,
3. काव्यप्रयोजनम्,
4. काव्यस्य आत्मा,
5. काव्यस्य ज्ञानैकरूपत्वम्, काव्ये शब्दज्ञानस्योपाधित्वम्, भाषातत्त्वम्, अर्थस्य ज्ञानैकरूपत्वम्,
6. सहृदयदृशा काव्यविचारः,

7. काव्यत्वस्य महाव्याप्तिः,
8. काव्यतद्धर्मयोर्युगपदुत्पत्तिवादः,
9. काव्यधर्माः,
10. रसे काव्यधर्मत्वाभावः,
11. काव्यलक्षणम्,
12. अस्माकं काव्यदर्शनम्,
13. उपसंहृतिः,

Glance at the above will make it clear that he is interested only in theoretical discussion of the highest order and hardly in the normal pattern as laid down by works of giants such as Mammata Hemachandra or Visvanatha. Perhaps we are justified in placing him with Anandavardhana, Kuntaka, Mahima, and Jagannatha. For him a piece of poem is either poetry or not, with difference in degrees of success even in one and the same poetic work, not to talk of works by different poets.

इस संस्करण में कुल 261 कारिकाएँ हैं। आचार्य द्विवेदी अन्त में वाङ्मय में अलत्व को स्थापित करते हैं -

चतुर्दशत्वं सूत्रेषु भुवनेष्विव भावयन्।
पूर्वमल्त्वं ततोऽलत्वं वाङ्मये भावयेत् सः ॥[2]

May he (Lord Mahesvara) who has created the fourteen sutras like Bhuvana in the form of Altva first and then Alatva after words. A starting from अ and ending with ल् in sutra (1) अइउण् (XIV) हल्. Al is the universe in the form of literature and Ala is the world form. [259]

अलंपदमिदं ब्रह्मवाचकत्वेन भाव्यते।
ब्रह्मभूयमलङ्कारपदेनाप्याद्रियेत तत् ॥[3]

[2] काव्या., 259
[3] काव्या., 260

The term Alam has been regared as the name of Brahma [in Agnipurana], hence the term Alamkara may denote the sense of Alambhava and therefore Brahman. [260]

प्रत्यक्चैतन्यमात्मा चेद् ब्रह्माभिन्नं चमत्कृतिः ।
अलंभावोऽप्यलङ्कारूपो ब्रह्मैव केवलम् ॥[4]

If the self (soul) is regarded as bliss in its identity with Brahman than the term Alambhava may also be [regarded as] standing for the Brahman in the term Alamkara. [261]

काव्यालङ्कारकारिका का तृतीय संस्करण सन् 2014 में कालिदास संस्था-नम्, वाराणसी से प्रकाशित हुआ है। इसमें 188 मूल कारिकाएँ हैं जिनका हिन्दी एवम् अंग्रेजी भाषा में अनुवाद दिया गया है। आचार्य द्विवेदी ने प्रत्येक कारिका की विवेचना में अपने मत की पुष्टि करते हुए अत्यन्त प्रभावपूर्ण वृत्ति भी प्रस्तुत की है, जिसमें लगभग 325 संग्रहकारिकाएँ तथा 76 उदाहरण सन्निहित हैं। इस प्रकार इस संस्करण में प्रतिपाद्य को संवर्द्धित करके प्रस्तुत किया गया है।

काव्यालङ्कारकारिका के मंगलाचरण में कवि ने काव्य के सोपज्ञत्व तथा स्वालक्षण्य को एक साथ प्रस्तुत किया है। कविता है अलङ्कृत अर्थ की संवित्ति। इसमें रहता है - शब्दब्रह्म का विभावन व्यापार जो हुआ करता है 'आनन्दकोष के उल्लास' में लोकोत्तर। लोक में शब्दब्रह्म का विभावन के व्यापार जैसा अन्य व्यापार होता ही नहीं है। कविता का यह स्वरूप सर्वमङ्गल है अर्थात् नास्तिक सहृदय को भी मान्य है -

आनन्दकोषस्योल्लासे शब्दब्रह्मविभाविता ।
अलङ्कृतार्थसंवित्तिः कविता, सर्वमङ्गला ॥[5]

इस मंगलाचरण की वृत्ति में ही आचार्य ने अपने मौलिक सिद्धान्तों को इंगित कर दिया है। आचार्य द्विवेदी ने आनन्दकोष के उल्लास को तीन प्रकार का माना है -

आनन्दकोषस्योल्लासस्त्रिविधः परिकीर्त्यताम् ।
औपम्यादि, रसं, वस्तु वा यतो विसिनोति सः ॥[6]

[4] काव्या., 261
[5] काव्या., 1
[6] काव्या., 1 सं., 1

उपमादिविच्छित्तिविशेष-विषयकत्वेन, शृंगारादिरस -विषयकत्वेन, वस्तु-मात्र - विषयकत्वेन च। आचार्य द्विवेदी का निवेदन है कि इन तीनों उल्लासों को रसत्वेन स्वीकार कर लेना चाहिए -

उल्लासस्त्रिविधोऽप्येष रसत्वेनैव कीर्त्यताम्।
मात्रामात्रकृतं भेदमवलम्ब्य हि भेदवान्॥[7]

1. काव्य का लक्षण -

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी ने सहृदयसापेक्ष्य काव्य को परिभाषित किया है -

ज्ञानात्मकेन शब्दाख्येनार्थेनार्थान्तरात्मकः ।
यः कश्चन चमत्कारी बोधः काव्यं स उच्यते॥[8]

ब्रह्मर्षि आचार्य प्रथम कारिका की संग्रहकारिकाओं में भी काव्य को परि-भाषित करते हैं-

आत्मवानर्थसंघातः शब्दगः काव्यमिष्यते।
आत्मा चालङ्कृतिः, सा च पर्याप्तिः तत्र हेतवः॥[9]

आपने औपम्याद्युक्ति, गुणोक्ति, अर्थान्तरोक्ति तथा वस्तूक्ति नाम से चार उक्तियों का भी निरूपण किया है तथा इनमें से वस्तूक्ति को विभावादिबन्धरूप माना है -

औपम्यादिर्गुणा, अर्थान्तरं, वस्तूक्तिरेव च।
वस्तूक्तिश्च विभावादिबन्धरूपा रसावहा॥[10]

2. काव्य का कारण -

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी ने काव्य का कारण प्रतिभामात्र को माना है। काव्य में कारण बनती है प्रतिभा, वह है अर्थ की अवभासना। यह वैसी ही हुआ करती है जैसी कादम्बिनी अर्थात् मेघमाला के भीतर बिजली की चमक। यहाँ मेघमाला ही है प्रज्ञा -

कारणं प्रतिभा काव्ये, सा चार्थ-प्रतिभासनम्।
प्रज्ञाकादम्बिनी-गर्भे विद्युदुद्योत-सोदरम्॥[11]

---

7 काव्या., 1 सं., 2
8 काव्या., 134
9 काव्या.सं., 3
10 काव्या., 1 सं., 4
11 काव्या., 2

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी ने प्रतिभा के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए अनेक दृष्टान्त दिये हैं -

जगत्प्रभु ने अपनी कृपा से नारद आदि के चित्त में अपना स्वरूप पहली बार प्रकट किया। श्रीमद्भागवत महापुराण के प्रथम स्कन्ध के षष्ठ अध्याय में नारद मुनि का वृत्तान्त आया है। यहाँ नारद मुनि के द्वारा पूर्व जन्म में भगवान का ध्यान किया जाना तथा भगवान का प्रसन्न होकर भक्त के हृदय में अपनी मूर्ति को प्रकट करना वर्णित है। ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी के अनुसार श्रीहरि का यह प्राकट्य प्रतिभा का समकक्ष हो सकता है -

नारदादि-कृपापात्र-चेतोधातौ जगत्प्रभोः।
प्रथमं स्व-स्वरूपस्य दर्शनं यत् तदीदृशम्॥[12]

योगियों के हृदय में समाधि की दशा में उद्भूत विषयान्विता ज्योतिष्मती प्रवृत्ति भी प्रतिभा की स्वसा मानी जा सकती है -

समाधौ योगलग्नानां हृदये विषयान्विता।
ज्योतिष्मती प्रवृत्तिर्या तत्स्वसा प्रतिभा कवेः॥[13]

प्रतिभा को दो प्रकार का माना गया है - स्वयंभू तथा सहेतु। स्वयंभू प्रतिभा आदिकवि वाल्मीकि में दिखाई देती है और सहेतु प्रतिभा अन्य कवियों में -

स्वयंभूश्च सहेतुश्चेत्यसौ लोके द्विधा स्थिता।
आदिमाऽऽदिकवौ दृष्टा द्वितीयान्यत्र दृश्यते॥[14]

सहेतु प्रतिभा में हेतु अर्थात् करण अनेक होते हैं किन्तु प्रधान कारण सत्त्वोद्रेक ही होता है -

द्वितीया या भवन्त्यत्र करणानि बहून्यपि।
कारणं तु भवत्यत्र सत्त्वोद्रेको हि केवलः॥[15]

सत्व का यह उद्रेक भी अनेक प्रकार का होता है क्योंकि इसमें अनुवेध रहता है संख्यातीत रजस् एवं तमस् का। इसी कारण सम्भव है एक ही कवि की कविताओं में बन्धवैविध्य तथा प्रतिभाओं में वैविध्य -

रजस्तमोऽनुवेधानां संख्यातीता तु या स्थितिः।

---

12 काव्या., 3
13 काव्या., 4
14 काव्या., 5
15 काव्या., 6

उद्रेकोऽप्यनया सोऽयमतिवैचित्र्यमश्नुते ॥[16]
एकस्यापि कवेः काव्य-प्रबन्धे येन दृश्यते।
बन्धभेदो मधूद्याने वृक्ष-श्री-भेदसोदरः ॥[17]
ततश्च प्रतिभाभेदोऽप्येकस्मिन्नपि दृश्यते।
कवौ, किं विद्युदुद्योतः स्यात् सदैवैक-सौभगः ॥[18]

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी के अनुसार प्रतिभा ही काव्य के प्रति उपादान और निमित्त दोनों प्रकार के कारण बनती है -

उपादानं निमित्तं च काव्याय प्रतिभैव सा।
द्वितयं गर्भमात्रे यत् तस्यास्तिष्ठति तत् सदा ॥[19]

3. काव्यप्रयोजन -

प्राचीन आचार्यों ने काव्य के निर्माण में प्रयोजन को कवि, सहृदय तथा कवि एवं सहृदय दोनों का मानते हुए तीन प्रकार का बतलाया था किन्तु ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी काव्य के निर्माण में कवि का कोई भी प्रयोजन स्वीकार नहीं करते हैं- जैसे प्रभातवेला में चटका की चुङ्कार। आपके अनुसार कवि का स्वाभाविक आत्माविष्कार ही है काव्य क्योंकि पुत्र, वित्त तथा लोक रूप त्रिविध एषणाओं से रहित आदि कवि वाल्मीकि ने श्रीमद्वाल्मीकिरामायण नामक अपने आदिकाव्य के निर्माण में व्यक्तिगत किस प्रयोजन को सिद्ध करना चाहा होगा? निश्चय ही यहाँ हेतु है स्वाभाविक आत्माविष्कार ही, जो कथमपि प्रयोजन नहीं बन सकता -

प्रयोजनं कवेः काव्ये नापि किंचन दृश्यते।
चुङ्कृतौ कलविङ्कस्य यथा प्राभातिके क्षणे ॥[20]
एषणा त्रितयोत्तीर्णे रामायणमहाकवौ।
आत्माविष्कार-नैष्कर्म्य-नैसर्गी किं प्रयोजनम् ॥[21]

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी की दृष्टि में प्रयोजन यदि माने भी जायें तो वे होंगे -

युगावश्यकतापूर्त्ति-मन्त्र-व्यक्तिरपि क्वचित्।
प्रयोजनं, रघुव्यक्तौ रघुवंशे यथा कवेः ॥[22]

16 काव्या., 7
17 काव्या., 8
18 काव्या., 9
19 काव्या., 10
20 काव्या., 11
21 काव्या., 12
22 काव्या., 13

- युगावश्यकतापूर्ति-मन्त्र की अभिव्यक्ति। जैसे-रघुवंशमहाकाव्य में रघु की अभिव्यक्ति।

अधर्मोत्थानवेलायां धर्मरक्षापि दृश्यते।
काव्यार्थस्तुलसीकाव्ये यथा यवन-शासने॥[23]

अधर्मोत्थानवेला में धर्मरक्षा करना जैसे- यवनों के शासनकाल में गोसाईं तुलसीदासजी द्वारा श्रीरामचरितमानस की रचना।

राष्ट्र-देव-प्रबोधोऽपि विश्वदैवत-साक्षिकः।
काव्यप्रयोजनं पुंभ्यः पुमर्थांश्चतुरो दुहन्॥[24]
इदं प्रयोजने नाट्याचार्यस्य भरतस्य नः।
वेदशास्त्रे प्रयोगाश्च तदाश्रित्य प्रवर्त्तिताः॥[25]

- पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति हेतु राष्ट्रदैवत की साक्षी में राष्ट्रदैवत का प्रबोधन। जैसे सनातन कवि का उत्तरसीताचरितम्।

न स्यात् प्रयोजनं स्याद् वा कवेः, सामाजिकस्य तु।
मातृस्तन्यं यथा काव्यं हन्त सर्वार्थ-साधनम्॥[26]

- शिशु के लिए मातृस्तन्य की भाँति काव्य सामाजिक के लिए तो सभी प्रयोजनों का साधक है।

4. काव्य का आत्मतत्त्व -

आचार्य द्विवेदी ने पूर्ववर्ती आचार्यों के काव्यात्म से सम्बद्ध - रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा औचित्य इन छः प्रस्थानों का सूक्ष्मेक्षिकया अध्ययन करके उनकी गहन समीक्षा प्रस्तुत की है, जो इन विविध प्रस्थानों को समझने के लिए उपादेय है तथा उनके औचित्य की समीक्षा के लिए भी अपरिहार्य है।[27]

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी का उद्घोष है -

---

[23] काव्या., 14
[24] काव्या., 15
[25] काव्या., 16
[26] काव्या., 17
[27] काव्या., 18-25

काव्येऽलङ्कार एवात्मा स एवास्मिन् स्थितो यतः ।
अन्यकायस्थितो धर्मः किमन्यत्रात्मतां व्रजेत् ॥[28]

काव्य में विद्यमान रहता है केवल अलंकार। अतः वह ही काव्य के आत्मतत्त्व के रूप में मान्य है। चूँकि 'रस' काव्य में न रह कर सामाजिक की चेतना में विद्यमान रहता है अतः वह काव्य के अंग के रूप में स्वीकार्य ही नहीं है अन्यकायस्थित धर्म अन्य की आत्मता को कैसे प्राप्त हो सकता है?

एवं सति न कोऽपि स्यान्मृतोऽस्मिन् मर्त्यभूतले ।
यावत् सर्वेऽपि निष्प्राणा न भवेयुः शरीरिणः ॥[29]

ब्रह्मर्षि आचार्य स्पष्ट रूप से घोषणा करते हैं कि सहृदयादि में रहने वाला धर्म काव्य में आत्मा नहीं बन सकता यदि ऐसा हो तो मर्त्य भूतल पर किसी को भी मृत नहीं माना जा सकेगा जब तक कि सभी शरीरी मृत न हो जायें।

5. अलंकार का लक्षण -

ब्रह्मर्षि आचार्य की दृष्टि में वास्तविक अलंकार है अलंभाव, जो सौंदर्य और सौंदर्य के निष्पादक तत्व दोनों में रहता है जैसे जीव और ब्रह्म दोनों में रहता है चिद्घन -

'अलं-भावो ह्यलङ्कारः' स च सौन्दर्यतत्कृतोः ।
विभक्तात्मा विभुर्जीवब्रह्मणोश्चिद्घनो यथा ॥[30]

अलंकार की तीन व्युत्पत्तियाँ प्रधान हैं -

(i) करणव्युत्पत्ति - अलंक्रियतेऽनेनेति अलंकारः

(ii) भावव्युत्पत्ति - अलंङ्कृतिरलङ्कारः

(iii) कर्त्तृव्युत्पत्ति - अलंकरोतीत्यलङ्कारः

अमरकोष की 'अलं भूषण' - पर्याप्ति-शक्ति-वारण-वाचकम् इस परिभाषा के अनुसार यहाँ अलं शब्द पर्याप्ति का वाचक है-अलमेवालङ्कारः अलं च ब्रह्मेत्यागमः ।[31]

अलंभाव के अनेक दृष्टांत हो सकते हैं जैसे -

[28] काव्या., 26
[29] काव्या., 27
[30] काव्या., 28
[31] काव्या., 29-30

- सैकड़ों शाखाओं से आवृत वटवृक्ष और उसका चित्र,
- पर्वत और उसकी शिला,
- मिट्टी और उससे बनी मूर्ति या घटादि[32]।

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी के मत में काव्यात्मस्थानीय अलंकार को किसी भी स्थिति में अभिधेय नहीं माना जा सकता है। यदि ऐसा होता तो केवल सौंदर्य कहने पर चमत्कार की भी अनुभूति होती। अलङ्कार मिलता है केवल वाक्यार्थ में जो होता है समन्वय पदार्थों का और समन्वय है संसर्गमर्यादामात्रगोचर।

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी ने काव्यालङ्कारकारिका (पृष्ठ 37-38) में प्रतिभा के षड्विधत्व का प्रतिपादन किया है -

- स्वाभावोपपादिता,
- चरणोपपादिता,
- अभ्यासोपपादिता,
- योगोपपादिता,
- अदृष्टोपपादिता,
- विशिष्टोपपादिता का प्रतिपादन करते हुए बतलाते हैं कि वाक्यार्थ प्रतिभा भी होता है।[33]

जैसे रस आस्वाद रूप होने के कारण वाच्य नहीं होते वैसे ही अलंकार भी वाच्य नहीं हो सकते। इव आदि शब्दों के द्वारा उपमादि अलंकारों की वाच्यता सम्भव नहीं है। ये शब्द उपमा आदि को केवल स्पष्ट करते हैं। तत्परत्व भी वाच्य-वाचक भाव नहीं है। इसीलिए उपमादि में लुप्तात्व, आर्थीत्व और प्रतीयमानत्व माने गये हैं। रूपक आरोपाश्रित है तथा अतिशयोक्ति अध्यवसायाश्रित इनमें अरोप तथा अध्यावसाय का वाचक कोई नहीं होता। इसी प्रकार अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्त, समासोक्ति और काव्यलिङ्ग में जिस अर्थान्तर की प्राप्ति होती है उसका भी वाचक कोई नहीं होता है[34]।

काव्ये सर्वेऽप्यलंकारा वाक्यार्थविधया विदाम्।
सम्वित्कुटीषुकायन्ते न लभन्ते च वाच्यताम्॥[35]

---

32 काव्या., 31-32
33 काव्या., 33-36
34 काव्या., 37-41
35 काव्या., 42

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी का उद्घोष है कि अलंकार वाक्यार्थ के समान ही केवल बुद्धि में स्थित हुआ करते हैं -

द्वैरूप्यं वस्तुमात्रस्य दृश्यते व्यवहारिभिः ।
बाह्यत्वेन स्थितस्यास्य ज्ञानत्वेन स्थितस्य च ॥[36]
काव्यं ज्ञानैकरूपं हि बाह्यत्वं तत्र न क्षमम् ।
प्रतिभा ज्ञानरूपा यत् काव्यत्वेन प्रकाशते ॥[37]

काव्य ज्ञान विशेष रूप होता है और उसमें प्रकाशित होती है ज्ञानरूपिणी प्रतिभा। अतः काव्य का बाह्य स्वरूप कथमपि मान्य नहीं हैं। चूँकि शब्द सर्वथा बाह्य है इसलिए उसका अकाव्यत्व स्वतः सिद्ध हो जाता है। अर्थ काव्य में शब्द संकेत लभ्य होता है और यह संकेत है शब्द और अर्थ इन दोनों के ज्ञानों का ग्रन्थिबन्ध। फलतः संकेत भी ज्ञानरूप ही सिद्ध होता है। शब्द अपने ज्ञान में विषयित्व सम्बन्ध से और ज्ञान अपने ज्ञानात्मक संकेत में तादात्म्य सम्बन्ध से पहुँचता है। जब संकेत चित्परामर्श का विषय बनता है तो अर्थ के ज्ञान का स्पर्श करता है। यह ज्ञान अन्य अर्थों के ज्ञानों की सन्तति को जन्म देता हुआ जब रसिक के प्रत्यक् चैतन्य में चमत्कारामृत का प्रोक्षण करता है तब बनता है काव्य। इस क्रम में बाहर तो शब्द बाह्य ही होता है किन्तु ज्ञान रूप काव्य में वह उपाधि की सहायता से अपने ज्ञानात्मक आभ्यंतर रूप से जुड़ता है। अतीत के काव्य अपनी लिपि आदि से संवाद करते हुए वर्तमान के सहृदय के आस्वाद का विषय बन पाते हैं और इसीलिए मौनी कवि के काव्यरत्न भी मधुवर्षा कर पाते हैं[38]।

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी अभिहितान्वयवाद तथा अन्विताभिधानवाद दोनों का परम्परागत स्वरूप प्रस्तुत करके उनके विषय भेद को वाङ्मय के क्षेत्र में स्थापित करते हैं - प्रमाता की दृष्टि से बुद्धि की जो यात्रा शब्द से आरम्भ होकर अर्थ की ओर चलती है वह है अभिहितान्वय और कवि के सृष्टिक्रम में जो यात्रा अर्थ से शब्द की ओर होती है उसे कहा जाता है अन्विताभिधान। आचार्य शब्द तथा अर्थ दोनों के समुच्चय तथा अखण्डार्थवाद दोनों मतों का निषेध करते हैं[39]।

6. शब्द का ज्ञानरूप से काव्य में उपाधित्व -

काव्य में शब्द भी ज्ञानात्मक ही होता है तब भी वह काव्य के शरीर में उपाधि ही हुआ करता है जैसे-बिम्ब और प्रतिबिम्ब शरीरों में अभेद दिखलाने में

[36] काव्या., 43
[37] काव्या., 44
[38] काव्या., 43-52
[39] काव्या., 53-61

दर्पण आदि। अनुप्रास आदि जो शब्द धर्म हैं वे सुवर्ण पात्र में स्वर्ण की भाँति हैं। इसी कारण ये अनुप्रास आदि काव्य के उपाधिमात्र के धर्म हैं न कि सीधे उपाधिमान काव्य के -

ज्ञानात्मकोऽपि शब्दः स्यादुपाधिः काव्यवर्ष्मणि।
पत्रं रसे पानकाख्ये दर्पणो वा तौ यथा॥[40]
अनुप्रासादयश्चात्र पात्रे हैमत्वसन्निभाः।
उपाधिमात्रधर्माः स्युर्न तूपाधिमतः स्वतः॥[41]

ब्रह्मर्षि आचार्य ने काव्यालङ्कारकारिका - 63 की वृत्ति में तेरह संग्रहकारिकाओं (25 से 37 तक) द्वारा अपने मत को विधिवत् पुष्ट भी किया है। आचार्य द्विवेदी ने सुन्दरार्थ-समुल्लेख रूप काव्य की स्वाभाविक विशेषता को ध्यान में रखते हुए काव्यात्मक पुत्र के लिए शब्द को पितामह और शब्दज्ञान को पिता सिद्ध किया है तथा स्पष्ट किया है कि पौत्र के राजा बन जाने पर जैसे पिता और पितामह दोनों ही राजा कहलाने लगते हैं वैसे ही सुन्दरार्थ समुल्लेख स्वरूप काव्य का पिता शब्दज्ञान और पितामह शब्द भी काव्य कहलाने लगते हैं।

कविः सहृदये येन स्वं काव्यं क्रामयत्यसौ।
उच्चारणात्मा शब्दोऽपि, किन्त्वेष तु पितामहः॥[42]
पिता तु काव्यपुत्रस्य शब्दज्ञानं हि विद्यते।
सुन्दरार्थ-समुल्लेख-स्वरूपस्य स्वभावतः॥[43]
पौत्रस्य राज्यलाभेन राज्यलाभः पितुर्यथा।
पितामहस्य चेत्येवं शब्दे काव्यमिति श्रुतिः॥[44]

आचार्य द्विवेदी ने माना है कि वैयाकरणों के प्रत्येक ज्ञान में शब्द के अनुवेध तथा मीमांसकों के शब्द और शब्दज्ञान में अभेद इन दोनों सिद्धान्तों का उद्देश्य अर्थ के ज्ञान में शब्द का उपाधि मात्र होना ही है। यदि ऐसा न माना जाये तो व्योमयान रूपी उपाधि से आकाश में उड़ने वाले सभी यात्रीगण पक्षी माने जायेंगे और उनका व्योमयान के साथ अभेद भी मानना पड़ेगा।

पदवाक्यविदां शब्दानुवेधाऽभेदयोः कथा।
उपाधिमात्रतामेव शब्दस्यार्थे प्रसाधयेत्॥[45]

---

40 काव्या., 62
41 काव्या., 63
42 काव्या., 64
43 काव्या., 65
44 काव्या., 66
45 काव्या., 67

नो चेत् स्युर्व्योमयानेन गच्छन्तोऽपि हि पक्षिणः ।
विमानेन भवेत् तेषामभेदस्तदुपाधिना ॥[46]

अर्थ में शब्द के अनुवेध एवं शब्द तथा शब्दज्ञान में अभेद इन दोनों सिद्धान्तों की विशद विवेचना करते हुए ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी ने अनुवेध के नित्यत्व और शब्द और शब्दज्ञान में अभेद दोनों मतों का विविध तर्कों द्वारा निषेध किया है -

- अर्थ के साथ शब्द का अनुवेध यदि नित्य है तो अन्य प्रमाणों की क्या आवश्यकता ?
- अर्थ के साथ शब्द का अभेद मानने पर अग्निशब्द का उच्चारण करते ही मुख अग्नि से जलने लगेगा।
- शब्दों का उच्चारण काव्य की अभिव्यक्ति का साधन नहीं है - क्योंकि हो सकता है कि काव्य को बनाने के बाद कवि उसका उच्चारण न करे या दूसरों को नहीं सुनाए। वैदिक मंत्रों की भी मन ही मन आवृत्ति की जाती है।
- कभी-कभी अपने अर्थबन्ध को कवि शब्द विद्वान् द्वारा शब्दबन्ध में निहित कराता है और कारुओं द्वारा स्तर आदि में। वहाँ अर्थ है प्रतिभा कवि की जबकि शब्द किसी अन्य के।
- चमत्कार से युक्त अर्थबन्ध में कारुत्व और कवित्व एक साथ सन्निविष्ट मिल जाते हैं।
- वस्तुतः कवित्व और शिल्पित्व एक ही अधिकरण में आते हैं तो गुणोत्कर्ष होता है। जैसे दूध में मधु का मिश्रण।
- कवि की प्रतिभा या बुद्धि में अवस्थित काव्य भी काव्य ही होता है जैसे दूध देने वाली गाय के ऐन में विद्यमान दूध।

कभी-कभी कवि उपजीव्य काव्य को अपने काव्य में प्रतिबिम्बित कर देता है जैसे भास के दरिद्रचारुदत्त को महाकवि शूद्रक ने मृच्छकटिक में।

अतः कवि की बुद्धि में विद्यमान काव्य भी चमत्कारयुक्त होने पर काव्य अवश्य माना जायेगा यहाँ शब्द के उच्चारण का कोई प्रश्न ही नहीं है[47]।

काव्य में शब्द के शरीर का कभी भी ग्रहण नहीं किया जा सकता है उसका केवल ज्ञान ग्रहण किया जाता सकता है, वह भी उपाधि रूप में ही। ज्ञानरूप काव्य है शब्द सिद्ध नहीं हो सकता। यदि शब्द को ज्ञान मान लिया जाए तो उसका

[46] काव्या., 68
[47] काव्या., 69-84

शब्दत्व ही नष्ट हो जायेगा। अतः काव्य में उपाधि माना जा सकता है शब्द का केवल ज्ञान, क्योंकि पौरुषेय वाङ्मय में साम्राज्य रहता है प्रातिभत्व का -

काव्ये शब्दस्य देहस्तु नैव गृह्येत जात्वपि।
तस्य ज्ञानं तु गृह्येत किन्तूपाधित्वमात्रतः ॥[48]
काव्यस्य ज्ञानरूपत्वे शब्दत्वं नोपपद्यते।
शब्दस्य ज्ञानतायां च शब्दतैव विनश्यति ॥[49]
उपाधिमात्रता काव्ये शब्दज्ञानस्य कथ्यताम्।
प्रातिभत्वस्य साम्राज्यात् पौरुषे वाङ्मयाध्वनि ॥[50]

अपने मत के समर्थन में ब्रह्मर्षि आचार्य पुनः कहते हैं कि -

- भाषान्तर में अनूदित काव्य ध्वनियों के परिवर्तित हो जाने पर भी आस्वाद्य बना रहता है।
- वैखरी का अनुवाद न होकर उसका अनुनाद ही होता है बच्चों, वृद्धों तथा शुकादि में।
- अनुवाद में अनुप्रासाद्याश्रित संगीत ही बदलता है काव्य तो तब भी तद्वत् ही रहता है।
- लिपि के बदलने पर जैसे भाषा नहीं बदलती वैसे भाषा के बदल जाने पर काव्य नहीं बदलता। जैसे वस्त्र के बदल जाने पर देह।
- अनेक वैखरियों के अभ्यास से युक्त कवि उन सब में एक जैसा काव्य प्रस्तुत कर देता है।
- वैखरियों के अनेक होने पर उन सबमें काव्य के एक होने से सिद्ध होता है कि वैखरी और काव्य भिन्न-भिन्न हैं , अभिन्न नहीं।
- भाषा के स्वरात्मक (ध्वनिरूप) तथा ज्ञानात्मक दोनों रूप होते हैं, जबकि वैखरी केवल ध्वनिरूप होती है। ध्वनि होती है स्वरस्वरूप और स्वर होता है गीतात्मक। गीत काव्य से सर्वथा भिन्न कला है।
- वैखरी भाषा का एक अंश है,जो वाक्यरूप (न कि पदरूप) में ही काव्य की उपाधि बन पाता है।
- मध्यमा तथा पश्यन्ती भी संविद् अर्थात् ज्ञान हैं। मध्यमा में अर्थ का परामर्श रहता है किन्तु पश्यन्ती में नहीं।

[48] काव्या., 85
[49] काव्या., 86
[50] काव्या., 87

- वाणी का पूर्वार्द्ध है- वैखरी सहित मध्यमा तथा परार्द्ध है- संविद् जो सर्वोकृष्ट है[51]।

इन विविध स्थापनाओं के अनन्तर ब्रह्मर्षि आचार्य उद्घोषित करते हैं कि मध्यमा संविद् ही काव्य बनती है यदि वह है अलंभावात्मक अलंकार से युक्त अर्थात् अलङ्कृत। यह आश्रित रहती है परम ईश्वरी 'परा' की जीवात्मा रूपी छाया पर -

परायाः परमेश्वर्याश्छायां जीवात्मरूपिणीम्।
आश्रिता मध्यमैवैका संवित् काव्यमलङ्कृता॥[52]

काव्य में पश्यन्ती का कोई स्थान नहीं है पश्यन्ती को निर्विशेषात्मचर्वणा से युक्त रसोल्लेखसमाधि ही माना जा सकता है जिसे - समस्तालम्बनविस्मृति, आनन्दसम्प्लव, लय, तृप्ति या प्रत्यभिज्ञान नाम दिये गये हैं। पश्यन्तीजन्य इस आनन्द को भी यदि शब्दरूप उपाधियों से स्पष्ट माना जायेगा तो यह निर्विशेषत्व-रत्यादिभिन्नविषयराहित्य से ही जानना पडेगा जो सम्भव ही नहीं है। स्पष्ट है कि काव्य में पश्यन्ती की अवस्था तक आनन्दमात्र शेष रहता है, वाणी का वहाँ कोई भी स्थान नहीं रहता[53]।

7. अर्थ की ज्ञानैकरूपता -

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी मध्यमा संवित् के शब्द तथा अर्थ रूप दो भाग मानते हैं। इनमें से काव्य में शब्द की ज्ञानात्मकता सिद्ध करने के बाद आचार्य अर्थ को भी ज्ञानमात्र ही मानते हैं अन्यथा -

- अतीत, अनागत, श्रौत, प्रौढोक्तिप्रतिपादित तथा कवि समय से सिद्ध अर्थ सभी बुद्धि मात्र में अवस्थित होते हैं। अतः ज्ञानात्मक ही हैं।
- ध्वनिवादियों के स्वतःसम्भवी अर्थ भी ज्ञानात्मक माने जायेंगे अन्यथा अग्नि शब्द के उच्चारण से मुख जलने लगेगा और महाकवि कालिदास के कुमार-सम्भवमहाकाव्य में निरूपित रूप में पहुँच कर हिमालय सम्पूर्ण विश्व को चूर चूर कर देगा।
- केवल काव्यपाठ से सभी अभीष्ट पदार्थ सुख से मिल जायेंगे तो सारे संसार में निष्क्रियता आ जायेगी।

---

51 काव्या., 88-89
52 काव्या., 100
53 काव्या., 101

- ईश्वर, ब्रह्म, धर्म, अधर्मरूप अदृष्ट तत्त्व, परलोक आदि परोक्ष नहीं रह जायेंगे।
- संसार को कविता का रस पढ़कर ही मिठाई के रस की प्राप्ति होने लगेगी।
- ध्वनिवादियों के प्रतीयमानार्थ को सम्वित्स्वरूप काव्यार्थ मान लेने पर ही प्रतीयमानता सिद्ध होती है अन्यथा प्रतीयमानार्थ को भी प्रत्यक्ष अर्थ मानना पड़ेगा।
- इसीलिए वैय्याकरणों ने अर्थ को बौद्ध माना है और उसका ज्ञान माना है स्फोट नामक चिदात्मा से, न कि श्रूयमाण शब्द से।
- इससे सिद्ध हुआ कि शब्द और अर्थ दोनों वाङ्मय मात्र में ज्ञानैकरूप होकर ही प्रस्तुत मिलते हैं[54]।

8. शब्दशक्ति का प्रत्याख्यान -

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी ने मंगलाचरण की संग्रहकारिका में शब्द में शक्ति का प्रत्याख्यान करते हुए पूर्ववर्ती आचार्यों के शब्दशक्तिवाद को खण्डित किया है -

अर्थान्तरं च यत् सोऽयमवाच्योऽर्थः, स च क्वचित्।
लक्ष्योऽपि प्रोच्यते सद्भिर्व्यङ्ग्यश्चापि, परन्तु नः ॥[55]
शब्दवृत्तेरमान्यत्वादासु संज्ञासु नो रतिः।
प्रतीयमानतामेकां त्रितयन्न तु मन्महे ॥[56]

अपने शब्दशक्ति विषयक सिद्धांतों को आचार्य 114 से 123 कारिकाओं तक विस्तारपूर्वक स्थापित करते हैं तदनुसार -

- शब्द को कारण और अर्थज्ञान को कार्य माना जाय तो दोनों में सामानाधिकरण्य देखना पड़ेगा क्योंकि कारण रूपी मिट्टी और उसके कार्य रूपी घट दोनों का अधिकरण एक ही होता है- चक्का। किन्तु काव्यरूप ज्ञान रहता है आत्मा में जबकि शब्द आकाश में अतः शब्द एवं अर्थज्ञान में सामानाधिकरण्य नहीं बनता।
- शब्द को ज्ञानरूप मान लेने पर ही यह समानाधिकरणता सिद्ध होती है अतः शक्ति को शब्द के ज्ञान में मान लेना चाहिए क्योंकि कभी शब्द रहता है

54 काव्या., 102-113
55 काव्या., 1 सं., 5
56 काव्या., 1 सं., 6

किन्तु उसका ज्ञान नहीं रहता तब अर्थ का ज्ञान नहीं हो पाता और कभी शब्द नहीं रहता किन्तु भ्रान्ति आदि के द्वारा उससे ज्ञान हो जाता है जैसे रुचिङ्कुरु में चिङ्कु शब्द का अभाव होने पर भी भ्रान्ति से अश्लील अर्थ का बोध होना।

9. शब्दशक्ति का बौद्धत्व -

अस्मात् शब्दात् एतस्य अर्थस्य बोधः स्यात् - यह है शक्ति का स्वरूप। यह भी शब्द और अर्थ के बोधों की संविद्ग्न्थि है। अतः वह भी बोध या ज्ञानरूप ही है। इस कारण शक्ति सिद्ध होती है ज्ञान में, ज्ञान रहता है चित् में और चिति शब्द नहीं है तब शब्द में शक्ति सम्भव नहीं है। सूर्य के शरीर में प्रकाश की भाँति यदि शब्द के शरीर में शक्ति होती तो विश्व की भाषा भी एक ही होती -

यदि शब्दस्य देहे स्याच्छक्तिः सूर्ये प्रकाशवत्।
तदा विश्वस्य भाषाऽपि भवेदेकैव केवला॥[57]

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी स्पष्ट रूप से घोषित करते हैं कि काव्य की भाषा, अर्थ और दोनों के ज्ञान की शक्ति ये सब सम्वित्स्वरूप ही हैं -

एवं काव्यस्य या भाषा, यश्चार्थो, या च तद्द्वियोः।
शक्तिः, सर्वमिदं सम्वित्स्वरूपं, न ततः पृथक्॥[58]

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी को शब्द की अभिधा नाम की शक्ति भी मान्य नहीं है। उनके अनुसार जिन महामति (व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट) ने यह माना कि शब्द की एकमात्र अभिधा ही शक्ति है वह भ्रान्ति के गड्ढे में गिरा राजा नृग बन गया, जिसमें कारण बना 'वेद का अपौरुषेयत्व'। वेद अपौरुषेय हैं अर्थात् उनका निर्माण किसी पुरुष ने नहीं किया यह मानने पर प्रश्न उठता है कि तब वेद के शब्द से अर्थ कैसे निकला? तो इसका उत्तर देते हुए मीमांसक आचार्य कह देते हैं कि 'वेद के शब्दों में अपने अर्थ को प्रकाशित करने की एक शक्ति रहती है' उसी से वेद के शब्दों से उनके अर्थ प्रकट होते रहते हैं। इस प्रकार मीमांसक बाध्य हैं वेद के शब्दों में शक्ति मानने हेतु। किन्तु उक्त परम्परा के पालन के लिए लौकिक भाषा में भी शब्द में शक्ति मानी जाने लगी यह वस्तुतः हमारी भूल थी।

काव्यालङ्कारकारिका की 122वीं कारिका की वृत्ति में आचार्य ने अपने मत का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया है -

[57] काव्या., 120
[58] काव्या., 121

शब्दशक्तिविचारो यः कवितादर्शने विदाम्।
सोऽयं रेवा-तटे मत्स्यवेधो धीवरताजुषाम्॥[59]
रसस्य या च निष्पत्तिप्रक्रिया सापि सत्स्वसा।
तद्विचारः पयोऽपीत्वा तत्पात्रे तक्रपातनम्॥[60]
काव्ये स्फटिकपात्रे नु रसान् रश्मीन् यथा विधोः।
लेढुं व्यवसिताः क्षीरभ्रान्त्या वैडालिका बुधाः॥[61]
क इमान् वारयेदद्य वर्षाणां शतकानि ये।
व्यतिचक्रुर्मरीचिस्थैर्जलैरात्माभिषेचने॥[62]

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी ने उच्च स्वर में स्थापित कर दिया है कि शब्द के शरीर में न तो शक्ति रहती है और न ही रस -

एवं नास्त्येव शब्दस्य देहे शक्तो रसो यथा।

10. अलंकार का ज्ञानत्व -

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी ने अलंभावात्मक अलंकार को भी ज्ञानरूप ही माना है क्योंकि जब काव्य ज्ञान रूप है तो उसमें विद्यमान प्रत्येक वस्तु भी ज्ञानात्मक ही होगी। काव्य में धर्म-धर्मी और उनके बीच का सम्बन्ध समवाय ये सब सदा ही ज्ञानरूप बने रहते हैं[63]।

अलङ्कारोऽप्यलम्भावरूपो ज्ञानात्मकः परम्।
ज्ञानरूपे यतः काव्ये नाज्ञानात्मा भवेद् गुणः॥[64]

काव्यालंकारकारिका की प्रथम कारिका की वृत्ति में आचार्य द्विवेदी ने भोज-देव के सरस्वतीकण्ठाभरण (5.8) तथा श्रृंगारप्रकाश में वर्णित रसोक्ति, वक्रोक्ति तथा वस्तूक्ति नामक भेदों में शब्द से उक्ति का निषेध किया है -

रसोक्तिरिति या संज्ञा सा न युक्ता यतो रसः।
कदापि नोच्यते शब्दैर्विभावाद्यर्थवाचकैः॥[65]
वक्रोक्तिरिति शब्दश्च हन्त निर्विषयस्ततः।[66]

---

59 काव्या., 122 सं., 50
60 काव्या., 122 सं., 51
61 काव्या., 122 सं., 52
62 काव्या., 122 सं., 53
63 काव्या., 124-125
64 काव्या., 124
65 काव्या., 1 सं., 7
66 काव्या., 1 सं., 8

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी औपम्याद्युक्ति, गुणोक्ति, अर्थान्तरोक्ति तथा वस्तूक्ति में वक्रोक्ति का अन्तर्भाव निदर्शित करते हैं -

चतसृष्वासु सोक्तिष्वेवाश्नुते विलयं यतः ॥[67]

आपने वस्तूक्ति में वस्तु शब्द से विभावादि को ही बोध्य माना हैं न कि शब्द से सम्बद्ध इतिवृत्त को -

वस्तूक्तौ वस्तुशब्दस्तु विभावाद्येकतत्परः ।
वस्तुनोऽन्यस्य कस्यापि काव्यत्वेनापरिग्रहात् ॥[68]

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी के अनुसार काव्य के साथ रूपक आदि का सम्बन्ध सहज है -

- भूषा, लावण्य और अङ्ग देह में भले ही एक के बाद एक करके क्रम से आएँ, किन्तु प्रतिबिम्ब में ये सब एक साथ पैदा होते हैं।
- समाजिक के हृदय में जिस क्षण काव्य उतरता है उसी क्षण उसी के साथ औपम्य आदि भी।

यदि निर्वचन किया जाए सुन्दर शरीर का तो जैसे भूषणादि भी उसके अंग बनते ही हैं वैसे ही काव्य में साम्य आदि अंग बन जाते हैं[69]।

11. काव्य एवं भाषा में सम्बन्ध -

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी के अनुसार कवि की प्रातिभी अतएव संविन्मात्ररूप-सृष्टि ही है काव्यकला। इसमें भाषा बनती है दर्पण -

प्रातिभी या कवेः सृष्टिः संविन्मात्रैकविग्रहा।
सैव काव्यकला, तत्र भाषा भवति दर्पणः ॥[70]

भाषा ही काव्यरूपी कृष्ण के लिए राधा बनती है -

---

67 काव्या., 1 सं., 8
68 काव्या., 1 सं., 9
69 काव्या., 142-144
70 काव्या., 126

किन्तु राधायते काव्यकृष्णे भाषैव केवला ॥[71]

12. काव्यकला के साथ मूर्ति, चित्र, संगीत एवं नाट्य का सम्बन्ध -

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी की दृष्टि में काव्य-मूर्ति-चित्रादि में कलात्व सामान्येन विद्यमान रहता है, किन्तु इनमें कुछ भेद भी अवश्य रहते हैं -

- संविन्मात्र काव्यकला ही मूर्ति और चित्र में भी पायी जाती है।
- राधाकृष्णरूपी काव्य में गीत-नृत्य-वादित्रात्मक संगीत बनता है मुरली। संगीत काव्य से भिन्न है जो रहता है अर्थहीन स्वरों में भी,जबकि काव्य सदा अर्थात्मक रूप में अवस्थित मिलता है।
- काव्य नाट्य अथवा अभिनय से भी भिन्न है, क्योंकि अभिनय होता है क्रियारूप जबकि काव्य केवल ज्ञानरूप होता है। ज्ञान का क्रिया से अभेद तत्त्वतः सम्भव ही नहीं हो सकता है[72]।

13. काव्य एवं सहृदय -

काव्य के ज्ञानैकरूप होने पर वाच्यमान रघुवंश आदि को महाकाव्य किस लिए कहा जाता है? इस पर विचार करते हुए ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी कहते हैं कि -

काव्यं कला, कलानाथो जीवात्मा, ये च भेदकाः।
ते कलायामलङ्कारः, कलानाथे च ते रसः ॥[73]
कलानाथावुभावत्र कविः सहृदयस्तथा।
मध्येऽनयोः पदं धत्ते वैखरी-ध्वनि-सन्ततिः ॥[74]

- काव्य है कला। कलानाथ है जीवात्मा। इसकी जो विशेषताएँ हैं, वे सब कला में अलङ्कार होती हैं और कलानाथ में रस। काव्यक्षेत्र में कलानाथ दो होते हैं कवि और सहृदय। इनके बीच रहता है वैखरीरूप ध्वनियों का प्रवाह।
- आचार्य मानते हैं कि काव्य-मूर्ति-चित्रादि में सामान्यरूप से विद्यमान कलात्व विच्छित्ति में अर्थप्रतिभासस्वरूपा प्रतिभा समान रहती है, इनमें जो विशेष रहता है वही है अलंकार।

71 काव्या., 127
72 काव्या., 128-130
73 काव्या., 131
74 काव्या., 132

- शब्द नामक ज्ञानात्मक अर्थ से जो अन्य अर्थों का चमत्कारकारी बोध है वही कहलाता है काव्य ।
- कवि की बुद्धि में, वाक्य और वाक्यज्ञान में स्थित जो अलङ्कृत अर्थसमुदाय है उसे कहा जाता है काव्य। इनमें वाक्यज्ञान भी बदलते जाते हैं और वाक्य भी, किन्तु जिनकी बुद्धि तीक्ष्ण और सूक्ष्मग्राहिणी होती है उनके लिए काव्य प्रत्येक कवि में सदैव एक रूप ही रहता है।
- संवादतत्त्व केवल काव्यात्मक बुद्धियों में ही रहता है। वह (संवादतत्त्व) बदलते वाक्यज्ञान और वाक्य में कैसे संभव है? मुख में पद्मत्व का ज्ञान है काव्य। जो किसी भी भाषा के कवि को हो सकता है।
- काव्यों में भेद भासित होता है रूपक आदि विच्छित्तियों के भेद से। उसका कारण है धर्मों का भेद। धर्मी तो सभी कवियों में एक रूप से ही स्थित मिलता है[75]।

14. साहित्य शब्द का अर्थ -

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी साहित्यदर्पण, साहित्यसारादि ग्रन्थों में प्रयुक्त 'साहित्य' शब्द को भी स्पष्ट करते हुए अपनी नवीन स्थापनाएँ प्रस्तुत करते हैं -

काव्यं तद्दर्शनं चेति द्वितयं हि परम्परा।
साहित्यशब्दाद् गृह्णाति संस्कृते काव्यदर्शने॥[76]

- साहित्य कहलाता है शब्द और अर्थ का सम्बन्ध या शब्दार्थ और उनके विशेषों का सम्बन्ध- सहितयोः शब्दार्थयोः सहितानां वा शब्दार्थतद्गतविशेषाणां सम्बन्धः साहित्यम्।
- यह सम्बन्ध द्वादश प्रकार का है जो चार चतुष्टयों से युक्त तीन स्कन्धों में विभक्त है –
- प्रथम स्कन्ध है - वक्तृधर्मरूप जिसमें वृत्ति, विवक्षा, तात्पर्य और प्रविभाग आते हैं।
- द्वितीय स्कन्ध है - उक्तिरूप जिसमें व्यपेक्षा, सामर्थ्य, अन्वय तथा एकार्थीभाव आते हैं।

[75] काव्या., 132-139
[76] काव्या., 18

- तृतीय स्कन्ध है - अलंकाररूप जिसमें दोषहान, गुणादान, उपमादिपरिग्रह तथा रसावियोग आते हैं।

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी ने काव्यालङ्कारकारिका की 18वीं कारिका की वृत्ति में इन सबको काव्यभाषा के लिए आवश्यक माना है। उनके अनुसार प्रथम आठ सम्बन्ध भाषात्वमात्र की निष्पत्ति के लिए अपिरिहार्य हैं तथा शेष चार भाषा में काव्यत्व लाने के लिए। यह अनिवार्य नहीं है कि भाषा में काव्यत्व होवे ही। अतः प्रथम आठ सम्बन्धों को भाषा के भाषात्वमात्र के निष्पादन हेतु ही स्वीकार किया जाना चाहिए।

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी ने काव्यालङ्कारकारिका में साहित्यविद्या का भी विस्तार से निरूपण किया है -

धर्माणां धर्मिभिः सार्धं, धर्माणां धर्मिणां तथा।
परस्परं च सम्बन्धः काव्ये साहित्यमुच्यते॥[77]
शक्त्या काव्यं च साहित्यं, काव्यशास्त्रं तु दर्शनम्।
'साहित्यविद्या'- शब्दस्तु द्वितयेऽपि प्रयुज्यताम्॥[78]

अर्थात्

- धर्मों का धर्मियों के साथ और धर्मों का धर्मों तथा धर्मियों का धर्मियों के साथ जो परस्पर में सम्बन्ध है, काव्य में उसी को कहा जाता है साहित्य।
- लक्षणाशक्ति के द्वारा काव्य को भी साहित्य कह दिया जाता है।
- काव्यशास्त्र है काव्य का दर्शन। साहित्यविद्या शब्द इन दोनों के लिए युक्त हो सकता है - साहित्यविद्याशब्दः पुनः काव्यं काव्यशास्त्रं चेति द्वयोरपि कृतेऽप्रतिहतगतिकम्, साहित्ययुक्ता विद्या, साहित्यप्रतिपादयित्री विद्या चेति व्युत्पत्तिद्वयेन।

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी ने काव्यालङ्कारकारिका की 140-141 कारिकाओं की वृत्ति में द्वादश सम्बन्धों में से प्रथम आठ सम्बन्धों को व्याकरण से सम्बद्ध माना है -

अस्मन्मते पुनः व्याकरणमिदं यदष्टौ सम्बन्धाः। तच्च सर्वविधवाङ्मयसाधारणमिति न काव्यमात्रनियतम्। ततश्च - धर्माणामलंभावजनकानां तत्त्वानां धर्मिभिः

[77] काव्या., 140
[78] काव्या., 141

सह यः सम्बन्धः, यश्च धर्माणां धर्मैः धर्मिणां च धर्मिभिः सम्बन्धस्तत्रितयमपि साहित्यपदेन काव्ये व्यपदेष्टुमुचितम्। धर्मी चात्र चमत्कार्यर्थबन्ध एव ज्ञानात्मकः। य इमेऽलंभावजनका धर्मास्ते काव्य एव तिष्ठन्ति न काव्यशास्त्र इति काव्यमेव वस्तुतः साहित्यपदव्यपदेश्यम्, न काव्यशास्त्रम्।

ननु सम्बन्धपरं साहित्यपदं सम्बन्धिरूपेणार्थेन कथङ्कारमभिन्नार्थकं स्यादिति चेद् अर्ष आदित्वात्, उपादानलक्षणया या कुन्ताः प्रविशन्तीतिवत् इति गृहाण। तदुक्तं 'शक्त्या काव्यं च साहित्यमि'ति।

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी की दृष्टि में साहित्य त्रिविध है -

अयमत्र निर्गलितोऽर्थः - काव्ये हि त्रिविधा उक्तिः - 1. वक्रोक्तिः, 2. स्वभावोक्तिः, 3. वस्तूक्तिश्चेति। तत्र रूपकाद्युक्तिर्वक्रोक्तिः, माधुर्यप्रसादाद्युक्तिः स्वभावोक्तिः, विभावाद्युक्तिश्च वस्तूक्तिरिति। तत्र 'मुखकलम्' इत्यत्र धर्मा रूपकं माधुर्यं प्रसादश्च, धर्मिणौ च द्वौ मुखं कमलं चेति। अत्र रूपकप्रसादमाधुर्याणां ज्ञानात्मकाभ्यां मुखकमलरूपकाव्यात्मकधर्मिभ्यां यः सम्बन्धः स प्रथमं साहित्यम्, रूपक-प्रसाद-माधुर्याणां च परस्परं यः सम्बन्धः स द्वितीयं साहित्यम्, तृतीयं च साहित्यं मुखकमलयोः। एवमत्र त्रिविधमपि साहित्यं कृतपदम्। तत्र चान्तर्भूतं भोजराजादीनां साहित्यं द्वादशसम्बन्धात्मकम्। तथाहि प्रथमेऽष्टौ सम्बन्धा धर्मिभिः धर्मिणां साहित्येऽन्तर्भूताः, चरमाश्च चत्वारः प्रथमद्वितीययोः। ततश्चाहत्य त्रिविधमेव साहित्यमत्र प्रतिष्ठितम्। यच्च कुन्तकस्य साहित्यं तदपि नातिवर्ततेत-मामस्माकमलंभावरूपम् अलङ्कारतत्त्वम्। तथाहि वाच्यस्य वाच्यान्तरेण वाचकस्य च वाचकान्तरेण यः परस्परस्पर्द्धितामयः सम्बन्धः सोऽलंभावरूपालङ्कारतत्प्रभवा-न्यतररूपत्वाद् विलीयतेतमामस्माकमेव प्रथम-द्वितीययोः साहित्यभेदयोः[79]।

15. काव्य के धर्म-दोष, गुण, अलंकार एवं लक्षण -

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी की दृष्टि में शब्द और अर्थ की जो योजना है उसमें अभ्यास के बिना पूर्णता नहीं आती। पूर्णता का अभाव ही है दोष। इसीलिए दोषाभाव हुआ पूर्णतारूप।

शब्दार्थ-योजनेऽभ्यासं विना नो पूर्णता भवेत्।
अपूर्णतैव दोषः, तद् दोषाभावश्च पूर्णता॥[80]

इस पूर्णता को ही भरतमुनि ने गुण कहा और वामनाचार्य ने गुण के अभाव

[79] काव्या., 140-141
[80] काव्या., 148

को दोष। जब पूर्णता पर पहुँच जाया गया तब दोष का स्थान नहीं रह जाता। आपके अनुसार काव्य में दोषाभाव का स्वरूप है प्रागभाव। काव्य के निर्माण के पहले ही अपेक्षित है दोष का परिहार। इसलिए यहाँ दोषसामान्य या दोषविशेष के अभाव का प्रश्न ही नहीं उठता। यह प्रश्न प्रध्वंसाभाव में कदाचित लागू हो सकता है जहाँ तक काव्य के शरीर में आ चुके दोषरूपी पङ्क के प्रध्वंस का प्रश्न है, वह होना संभव नहीं। वैसा होने पर काव्य भी नया बन जाएगा[81]।

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी ने गुण की उन परिभाषाओं को भी अमान्य कर दिया जिनमें कुछ आचार्यों ने गुणों को रस का धर्म भी माना तथा इस रसधर्मरूपी गुण की अभिव्यक्ति में सक्षम वैखरी रूप ध्वनि में परुषता आदि धर्मों को शब्दगुण और अर्थ-संयोजन से सम्बद्ध गुणों को अर्थगुण मान लिया था [82]। आपके मत में पूर्णता को प्राप्त काव्य का एक ही धर्म होता है - अलङ्कार जिसका अर्थ है अलंभाव -

पूर्णतामीयुषो धर्मः काव्यस्यैको हि विद्यते।
अलम्भावाभिधः कश्चिदलङ्कारः परात्परः ॥[83]

अलंकार ध्वनि, गुण, उपमादि और रसों को काव्य शरीर में अपनाए रहता है। यह अलंभावात्मक अलंकार उपमादि के रूप में भी वाच्य नहीं बनता अन्यथा इव आदि शब्दों के प्रयोग से चमत्कार की अनुभूति होनी चाहिये थी -

यथा सनातनो धर्मो दर्शनं सम्विधानकम्।
दण्डनोपासने चेति चतुष्पात्त्वेन गाहते ॥[84]
तथैव भगवानेषोऽप्यलङ्कारो ध्वनिं गुणान्।
उपमादीन् रसांश्चापि काव्य-काये वगाहते ॥[85]
उपमादिस्वरूपेऽपि वाच्यतां न स्पृशत्यसौ।
अन्यथा स्यादिवादिभ्यः केवलेभ्यश्चमत्कृतिः ॥[86]

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी ने पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित लक्षणों का विशद विवेचन करने के उपरान्त स्थापित किया है कि लक्षण नामक तत्त्व गुणों की निष्पत्ति हो जाने के पश्चात् और अलंकारों के आने से पहले संधिवेला में ही स्थान प्राप्त कर सकते हैं। अपूर्णता दोष है, अपूर्णता का निरास अर्थात् पूर्णता

81 काव्या., 149-153
82 काव्या., 154-155
83 काव्या., 156
84 काव्या., 157
85 काव्या., 158
86 काव्या., 159

गुण है। इसका साथ देती है अलङ्क्रिया सखी। पूर्णता तक पहुँचने की स्थिति ही लक्षण तत्त्व के रूप में मानी जा सकती है -

लक्षणान्यपि भूयांसि तामियां गुणतः परम्।
अलङ्कारादथो पूर्वं सेवन्ते जातुचिच्छुभाम्॥[87]
अपूर्णतानिरासेन दोषाभावात्मनोदिताम्।
पूर्णतां गुणरूपां तु सेवतेऽलङ्क्रिया सखी॥[88]
अलङ्क्रियासखी चैषाऽप्यनवाप्त-प्रपूर्णता।
लक्षणत्वेन वीक्ष्येत भरतादिमनीषिभिः॥[89]

काव्य के धर्मों के निरूपण के उपरान्त ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी ने काव्य को समग्र रूप में चित्रित किया है -

या चैषा पूर्णता युक्ता सम्विन्नाम्नी नवा वधूः।
सैव विच्छित्तिसम्पन्ना काव्यभावं प्रपद्यते॥[90]

16. रस के काव्यधर्मत्व का अभाव -

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी की दृष्टि में रस को काव्य का धर्म नहीं माना जा सकता है, आपके अनुसार काव्य का जो प्रभाव सामाजिक की चेतना पर पड़ता है वह ही है, उसको काव्य का धर्म नहीं कहा जा सकता। काव्य और सामाजिक ये दोनों दो भिन्न रूप वाले हैं।सामाजिक होगा द्रव्य जबकि काव्य होगा ज्ञान या गुण। अन्य में विद्यमान धर्म अन्य का धर्म कैसे बन सकता है?

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी ने कुछ पूर्व पक्षों को उपस्थापित करते हुए अपने उत्तरपक्ष में इनका समाधान प्रस्तुत किया है [91] जिसका निष्कर्ष देते हुए स्पष्ट किया गया है कि आपका दर्शन प्रमेयमात्र की दृष्टि से है, प्रमाताओं में जो आनन्दकोष के उल्लास हुआ करते हैं उनकी कथा कुछ अलग ही है -

प्रमेयं च प्रमाता चेत्यनयोर्भिन्नता दृशम्।
आश्रयाणैर्न संमिश्रव्यामोहे विनिपत्यते॥[92]
प्रमातृनिष्ठा ये धर्मास्ते प्रमातरि केवले।

87 काव्या., 160
88 काव्या., 161
89 काव्या., 162
90 काव्या., 163
91 काव्या., 164 -173
92 काव्या., 174

ये च प्रमेये ते सर्वे प्रमेयैकपरायणाः ॥[93]
तामिमां प्राज्ञ-मर्यादां पालयन्तो मनीषिणः ।
काव्यालङ्कारविज्ञाने नैव मुह्यन्ति जात्वपि ॥[94]
रसः प्रमातृ-मात्रैकनिष्ठोऽलङ्करणं च नः ।
प्रमेयमात्रनिष्ठात्मकलालोके परात्परे ॥[95]
काव्यं ज्ञानम्, अलङ्कारस्तस्यात्मा, मध्यमाभिधा ।
संविदव्यभिचारेण तत्रोपाधिश्च वाग्विदे ॥[96]

ग्रन्थ का समापन करते हुए ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदीजी का अनुरोध है कि यह जो अलं पद है यह ब्रह्मतत्त्व का भी नाम है[97]। अतः अलङ्कार पद को ब्रह्मीभाव के लिए भी अपना लिया जाना चाहिए। यदि ब्रह्म से अभिन्न प्रत्यक् अर्थात् भीतरी चैतन्य ही चमत्कार है तो अलङ्कार रूप अलंभाव भी केवल ब्रह्मरूप क्यों न मान लिया जाए? ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी की दृष्टि में स्थूलतारहित काम है काव्य का शृङ्गार इसलिए भी काव्य शिवस्वरूप बन जाता है -

अलंपदमिदं ब्रह्मवाचकत्वेन भाव्यते ।
ब्रह्मभूयमलङ्कारपदेनाप्याद्रियेत तत् ॥[98]
प्रत्यक्चैतन्यमात्मा चेद् ब्रह्माभिन्नं चमत्कृतिः ।
अलम्भावोऽप्यलङ्काररूपो ब्रह्मैव केवलम् ॥[99]

काव्यालंकारकारिका के तृतीय संस्करण में ग्रन्थ के पुस्त पर छपे परिचय में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कलासंकाय में संस्कृत-विभाग के प्रोफेसर सदाशिव कुमार द्विवेदी जो आचार्यजी के सुयोग्य पुत्र भी हैं ने अत्यन्त सारगर्भित विवेचन प्रस्तुत किया है -

काव्यालङ्कारकारिका में उपस्थित प्रश्न ग्रन्थकार के मन में 1953 से ही उठ रहे थे जिन्हें प्रथम बार ई. 1977 में तथा द्वितीय बार ई. 2001 में मुद्रित रूप में उपस्थित होने का अवसर मिला था। सम्प्रति तृतीय संस्करण उपलब्ध है जिसमें मूल संस्कृत कारिकाएँ, वृत्ति, हिन्दी तथा अंग्रेजी में अनुवाद और संग्रह कारिकाएँ हैं।

93 काव्या., 175
94 काव्या., 176
95 काव्या., 177
96 काव्या., 178
97 अग्नि., 399.1
98 काव्या., 187
99 काव्या., 188

संस्कृत काव्यशास्त्र में वैदिक युग में ब्रह्मरूप अंलकार को काव्य की आत्मा माना जाता रहा। रस को भी अलंकार के अन्तर्गत माना जाता था। यह परम्परा आठवीं शती तक जीवित थी। ई. 850 से आनन्दवर्धन ने जो ध्वनिवाद प्रस्तुत किया उसे बल दिया कश्मीरी आचार्यों विशेषतः अभिनवगुप्त और मम्मट ने। इस बीच शब्दवृत्तियों की धूम भी मची, जिसे समकालीन भोजराज और पूर्ववर्ती राजशेखर, क्षेमेन्द्र ने आदर नहीं दिया। यहाँ तक कि क्षेमेन्द्र तो अभिनव के ही शिष्य थे। महिमभट्ट भी अभिनवगुप्त के समकालीन ही थे। उन्होंने ध्वनिवाद को अनुमान से गतार्थ दिखलाया। इन सबके तर्कों को जयरथ जैसे प्रौढ़ पण्डित ने कारिकाओं में संगृहीत किया, किन्तु परम्परा आँखों में धूल झोंकती रही। इस ग्रन्थ तक आते आते यह हट गयी और इसके साथ पूरा साहित्यशास्त्र - कांची, शारदा (कश्मीर), महाकाल (धारा) तथा काशी इन चार धामों तथा पूर्णता गुण, लक्षण और अलंकार इन चार कल्पों में विभक्त माना गया। अलंकार का अर्थ किया गया अलंभाव और 'अलं' का अर्थ मान्य माना गया ब्रह्म और आधार माना गया है आगम को जो अग्निपुराण में उपलब्ध था इसी प्रकार -

अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमलं विभुम्।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यज्योतिरीश्वरम्॥

अलंकार को ध्वनिवादियों ने वाच्य भी माना था, जिसको अमान्य घोषित किया गया। अंलकार को काव्य की आत्मा माना गया। कविहृदय की प्रतिभोत्थित सहज अभिव्यक्ति है कविता। किसी प्रयोजन को लक्ष्य कर कवि काव्यरचना में प्रवृत्त नहीं होता। शब्द में कोई शक्ति नहीं होती अपितु शब्दज्ञान में शक्ति होती है, वह भी आहित। इस सत्य को स्वीकार किया गया है कि काव्य एक ज्ञानात्मक विकल्प शक्ति है। कला की मनीषा भी वहीं पहुँच कर विराम लेती है जहां उपनिषद् और वेदान्त की। यह इस कारिका ग्रन्थ की महती उपलब्धि है। उधर ध्वनिवादियों को बौद्ध भामह का अनुयायी मान लिया गया, साथ ही दण्डी का विरोधी। प्राचीन साहित्यग्रन्थों के नाम तक बदल दिए गए थे, उन्हें दृढ़तापूर्वक सही किया गया। कारिका में भी वैचारिक स्तर वही रखा गया जो आनन्दवर्द्धन आदि में प्राप्त था।

साहित्यशास्त्र की परम्परा में विचार के इस नवीन युग का काव्यालङ्कार-कारिका सही प्रतिनिधि ग्रन्थ है।

2. साहित्यशारीरकम् -

ब्रह्मर्षि आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी का साहित्यशास्त्रीय लक्षण ग्रन्थ है साहित्यशारीरकम्। यह सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से सन् 1998

में प्रकाशित हुआ है। आचार्य द्विवेदी ने इस ग्रन्थ में गद्यपद्यात्मक शैली का प्रयोग किया है तथा अपने प्रतिपाद्य को गद्यात्मक व्याख्यानों में स्पष्ट करके कारिकाओं में उपस्थापित किया है। इस ग्रन्थ में चार अधिकरण हैं, जो आम्नायों में विभक्त हैं -

1. प्रथममधिकरणम्

    1. पूर्णताम्नायः
        (a) संस्तवः
        (b) संकल्पः
        (c) पूर्णाताम्नायः

2. द्वितीयमधिकरणम् :

    1. शारदाम्नायः
        (a) काव्यशरीरम्

3. तृतीयमधिकरणम् :

    1. धाराम्नायः
        (a) अलङ्कारसामान्याह्निकम्
        (b) गुणाह्निकम्
        (c) अलङ्कारविशेषाह्निकम्
        (d) लक्षणाह्निकम्
        (e) रीतिवृत्त्याह्निकम्
        (f) शब्दशक्त्याह्निकम्
        (g) पाकः
        (h) शय्या
        (i) धाराम्नायः
        (j) ध्वनिव्रज्या
        (k) रसव्रज्या
    2. कांचीधामाम्नायः - साहित्यव्रज्या, साहित्यतत्त्वकथा
        (क) सम्बन्धसामान्यपरत्वम्
        (ख) पारिभाषिकत्वम्

i. कुन्तकस्य
ii. भोजस्य
iii. साहित्यमीमांसाकृतः
iv. काव्यनाट्यसमष्टिः
v. काव्याभेदः
vi. नाट्याभेदः
vii. काव्यशास्त्राभेदः

4. चतुर्थमधिकरणम् :

1. काशीधामाम्नायः
   (a) प्रस्थानभेदः
   (b) काव्यालङ्कारकारिका
   (c) नाट्यानुशासनम्
   (d) भरतदर्शनम्
   (e) नाट्यशारीरकम्
   (f) कलासमाधिः
   (g) रसभोगः
   (h) ईक्षा (ग्रन्थसूची)
   (i) कारिकासूची

साहित्यशारीरकम् में मुख्यरूप से साहित्यशास्त्र के इतिहास को प्रस्तुत किया गया है। आचार्य द्विवेदी ने प्रथम अधिकरण में संस्तव में साहित्यविद्या को सभी शास्त्रार्थों की आद्या विभूति माना है। इसमें श्रव्य एवं दृश्य दोनों प्रकार के काव्य आते हैं -

अन्नानि याष्टादशधा पचन्ती, पराऽन्नपूर्णा प्रचकास्ति काश्याम्।
तां सर्वशास्त्रार्थविभूतिमाद्यां, साहित्यविद्यां हृदि भावयामः ॥[100]
काव्यं श्रुतेर्नाट्यमथाऽभिनीतेः, साहित्यमाभास्यतयाऽन्वयस्य
यस्याः श्रवस्तां प्रतिभां प्रमातृ-चैतन्य-निष्ठां हृदि भावयामः ॥[101]

[100] सा.शा., 46
[101] सा.शा., 59

साहित्य वह कला है जिसमें चैतन्य प्रकाशित होता है। जिसके बिना यह सम्पूर्ण चराचरात्मक जगत् आनन्द से रहित हो जाता है। यह चित् और अचित् का साहित्य है -

सा कला यत्र बाभाति तां चिद्वित्तिमपि स्तुमः।
विना यया निरालोकानन्दमेतच्चराचरम्॥[102]
एकत्र वाक्यमन्यत्र वाच्यमेतदिति द्विधा।
चकास्ति ब्रह्म, चिदचित्साहित्यात्म नुमस्तु तत्॥[103]

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी की दृष्टि में वैखरी के दर्पण में शब्द रूपी प्रतिबिम्ब दिखलाई देते हैं। भाषा के भेद से साहित्य नहीं बदलता है। साहित्य है -

- अनेक गोपाङ्गनाओं में प्रकाशित यशोदानन्दन,
- श्रीकृष्णार्जुनसंवाद में ब्रह्मविद्या,
- महानट में महाकालेश्वर काशिकानाथ विश्वनाथ।

इसी प्रकार साहित्यविद्या है -

- रस और रसिक का अद्वैत
- श्रीभागवत-संज्ञानधारिणी रसेश्वरी
- सनातनी परम्परा में अमृतवर्षा

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी ने साहित्यशारीरकम् में संकल्प प्रस्तुत किया है -

देशकालपरिकीर्तनमेतत्, सभ्यसभ्यतरसभ्यतमानाम्।
युज्यते गणयितुं रसिकानां, ब्रह्मनिष्ठमतिवाग्विभवानाम्॥[104]

आप साहित्यशारीरकम् के पृष्ठ-24 पर काव्य, नाट्य तथा साहित्य तीनों को संक्षेप में परिभाषित करते हैं, तदनुसार -

काव्यपदे शब्दनक्रियैव प्रधानति।
नाट्यपदं च क्रियां प्रमुखयति (शब्दमिव काव्यपदम्)।
साहित्यपदं काव्य-नाट्य-पदाभिधेययोः सम्बन्धं विसिनोति।

[102] सा.शा., 62
[103] सा.शा., 63
[104] सा.शा., 135

आपने साहित्यशारीरकम् में भारतीय काव्यशास्त्र को चार धामों में विभक्त किया है। आपने अपने इस नितान्त मौलिक विभाजन को पुष्ट एवं स्पष्ट करते हुए विस्तृत विवेचन पूर्वक हिन्दी भाषा में सन् 2007 में प्रकाशित "संस्कृत काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास" नामक अपने समीक्षा ग्रन्थ में उपस्थापित किया है। इस अत्यन्त विस्तृत एवं प्रौढ ग्रन्थ के समग्र प्रतिपाद्य को संक्षेप में प्रस्तुत कर पाना अत्यन्त जटिल कार्य है किन्तु इसके कुछ महत्त्वपूर्ण प्रतिपाद्य को निम्नलिखित विभाजन में समझा जा सकता है -

प्रथम कांचीधाम -

यह पूर्णताम्नाय के नाम से स्तुत है। इसका समय प्रथम सहस्राब्दी है (ई०पूर्व 300 से ई० सन् 650)। इसमें प्रमुख आचार्य हैं -

- नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि (ई.पू. 300)
- काव्यादर्शकार दण्डी (ई. 650)
- साहित्यमीमांसाकार राजशेखर (ई. 900-980)
- शृङ्गारप्रकाशकार भोजराज (ई. 1005-1050)

साहित्य के क्षेत्र में आपके स्थापित सिद्धान्त हैं -

- धर्मी - काव्य (शब्द)
- धर्म - दोषाभाव, गुण तथा अलङ्कार (यहाँ रस को भी अलङ्कार माना गया है)

साहित्यशारीरकम् में इसे साहित्यव्रज्या के नाम से कहा गया है। साहित्यतत्त्वकथा को यहाँ सम्बन्ध- सामान्यपरत्वम् तथा पारिभाषिकत्वम् इन दो शीर्षकों में निरूपित किया है। यहाँ कुन्तकाचार्य के काव्यैकधर्मतावाद, भोजराज के द्वादशसम्बन्धात्मकतावाद, साहित्यमीमांसाकार आचार्य राजशेखर के अष्टसम्बन्धात्मकतावाद, काव्यनाट्यसमष्टिवाद, काव्याभेद, नाट्याभेद तथा काव्यशास्त्राभेदादि का निरूपण किया गया है।

द्वितीय शारदाधाम -

इसका दूसरा नाम कश्मीरधाम भी हो सकता है। इसका समय द्वितीय सहस्राब्दी (701 से 1700 ई० तक) माना गया है। इसमें प्रमुख आचार्य हैं -

- भामहालङ्कारकार आचार्य भामह (ई० 700),
- काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिकार आचार्य वामन (ई० 800),

- काव्यालङ्कारसारकार आचार्य उद्भट (ई० 800),
- काव्यालङ्कारकार आचार्य रुद्रट् (नमिसाधु की टीकासहित) (ई० 850),
- ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्द्धन (ई० 855 से 883 तक),
- लोचन एवं अभिनवभारतीकार आचार्य अभिनवगुप्त (ई० 990 से 1015 तक),
- काव्यालङ्कार एवं वक्रोक्तिजीवितकार आचार्य कुन्तक (ई० 950 से 1000 तक),
- काव्यप्रकाश एवं शब्दव्यापारविचारकार आचार्य मम्मट (ई० 1050 से 1100 तक)।

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी ने आचार्य भामह के काव्यालङ्कार नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ को भामहालङ्कारकार संज्ञा दी है, इसी प्रकार आचार्य आनन्दवर्द्धन के ध्वन्यालोक नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ का काव्यालोक नाम दिया है तथा अपने प्रबल तर्कों से इन्हें सिद्ध भी किया है।

इस धाम के प्रमुख सिद्धान्त हैं -

- धर्मी - शब्दार्थयुग्मः काव्य
- धर्म - वक्रोक्ति/अलङ्कार (भामह), गुण (वामन)

तृतीय महाकालेश्वरधाम -

साहित्यशारीरकम् में इसको धाराम्नाय कहा गया है। इसका क्षेत्र धारा नगरी है। इसका समय एकादश शताब्दी है। इसमें प्रमुख आचार्य हैं -

- दशरूपककार आचार्य धनंजय (ई० 1000),
- दशरूपकावलोककार आचार्य धनिक (ई० 1000),
- सरस्वतीकण्ठाभरणालङ्कारकार एवं शृङ्गारप्रकाशकार आचार्य भोजराज (ई० 1000 से 1050)।

इस धाम के प्रमुख सिद्धान्त हैं-

- अलङ्कारसामान्य
- गुण
- अलङ्कारविशेष
- लक्षण

- रीतिवृत्ति
- शब्दशक्ति
- पाक (राजशेखर की काव्यमीमांसा में)
- शय्या (पदों की पदो के साथ परस्पर मैत्री प्रतापरुद्रयशोभूषण में)
- धाराम्नाय
- ध्वनिव्रज्या
- रसव्रज्या

चतुर्थ विश्वेश्वरधाम -

इस विश्वेश्वरधाम का क्षेत्र बाबा विश्वनाथ की पवित्र नगरी काशी है। इसका समय 16वीं शताब्दी से लेकर वर्तमान काल तक है। इस काल के प्रमुख आचार्य हैं -

- अर्थचित्रमीमांसा, कुवलयानन्द तथा वृत्तिवार्तिककार आचार्य अप्ययदीक्षित (ई0 1554 से 1626)
- श्रीभगवतद्भक्तिरसायनकार आचार्य मधुसूदन सरस्वती (ई० 1650)
- रसगंगाधरकार आचार्य पण्डितराजजगन्नाथ (ई० 1620 से 1660 तक)
- भक्तिरसार्णवकार आचार्य स्वामी करपात्रीजी (ई० 1940)

- काव्यालङ्कारकारिका, नाट्यानुशासनम् (1 से 5 खण्ड), साहित्यशारीरकम्, सौन्दर्यपंचाशिका, तथा साहित्यालङ्कारकार ब्रह्मर्षि आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी (ई० 1931 से 2021 तक)।

इस धाम के प्रमुख सिद्धान्त - ब्रह्मर्षि आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी के मौलिक चिन्तन से पूर्णतः प्रभावित हैं।

3. नाट्यानुशासन-

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी ने नाट्यशास्त्र से सम्बन्धित अपने मौलिक विचारों को नाट्यानुशासनम् नामक लक्षण ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है। इसका प्रथम संस्करण 21 सितम्बर 1996 को कालिदाससंस्थानम्, वाराणसी से नाट्यानुशासनम्, भरतदर्शनम्, नाट्यशारीकम्, कलासमाधिः तथा रसभोगः नामक पाँच उन्मेषों में पृथक् पृथक् प्रकाशित किया गया था। सन् 2008 में इसके द्वितीय संस्करण में नाट्यानुशासनम् : अभिनवं नाट्यशास्त्रम् नाम से इन पाँचों उन्मेषों को

एक साथ पुनः प्रकाशित किया गया है। नाट्यशास्त्रमर्मज्ञ ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी के वर्तमान परिप्रेक्ष्य में नितान्त व्यावहारिक नाट्यशास्त्रीय सिद्धांतों को सर्वजन सुगम बनाने के लिए आपके विद्वान् पुत्र प्रोफेसर सदाशिव कुमार द्विवेदी ने इन सारगर्भित कारिकाओं का हिन्दी भाषा में सरल एवं सटीक अनुवाद प्रस्तुत किया है।

1. नाट्यानुशासनम् -

नाट्यानुशासनम् के आरम्भ में आचार्य अपने उद्देश्य को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि नाट्यवेद के क्षेत्र में योग (कर्मकाण्ड) ने उसके सांख्य (दर्शन) में विपर्यय ला दिया है अतः नाट्य का वर्तमान में व्यवहारिक स्वरूप निर्धारित करने के लिए नाट्यानुशासनम् का निर्माण किया जा रहा है - मैं सनातन नाट्यानुशासन बना रहा हूँ वर्तमान युग के लिए -

दृष्ट्वा योगेन सांख्यस्य नाट्यवेदे विपर्ययम्।
सनातनो युगायाऽस्मै कुर्वे नाट्यानुशासनम्॥[105]

महर्षियों ने रङ्गपीठ के दो भेद बतलाए हैं किन्तु उन्हें निश्चित परिभाषाओं से परिभाषित नहीं किया है। वर्तमान मनीषी उन्हें 'ब्राह्म' और 'वैष्णव' इन दो परिभाषाओं से पुकार सकते हैं।

आम्नातं द्विविधं यत् तु रङ्गपीठं महर्षिभिः।
ब्राह्मं च वैष्णवं चेति तद् द्वयं परिभाष्यताम्॥[106]

इनमें से प्रथम ब्राह्म पीठ है - केवल वेदिका। इसके ऊपर छाया रहता है आकाशब्रह्म। इसमें न भित्ति होती है, न स्तम्भ, न द्वार, न शीर्ष और न मण्डप आदि जो वैष्णव पीठ में निर्धारित रहते हैं -

ब्राह्मं तु वेदिकामात्रमाकाशब्रह्मणि स्थितम्।
भित्ति-स्तम्भ-द्वार-शीर्ष-मण्डपादिविवर्जितम्॥[107]

इसे ब्राह्म इसलिए कहा गया है कि यह स्थित रहता है आकाशरूपी ब्रह्म के गर्भ में। इसे विद्वज्जन मुक्त पीठ भी कह सकते हैं और दिगम्बर पीठ (खुला) भी -

[105] ना.शा., 1
[106] ना.शा., 2
[107] ना.शा., 3

आकाशब्रह्मगर्भेऽस्य स्थितेर्ब्राह्मत्वकल्पनम्।
मुक्तं दिगम्बरं चेति वक्तुमेतत् क्षमं बुधैः ॥[108]

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी की दृष्टि में इसका प्रिय नाम होगा दिगम्बर। यही वह पीठ है जिस पर कोई मुक्त दिगम्बर (शिव) ताण्डव करते हैं। विश्व का प्रत्येक व्यक्ति इसको देखने में अधिकृत है किसी भी प्रकार के भेद के बिना वह ब्राह्मण आदि वर्ण का हो या स्त्री/पुरूष लिंगकृत हो, या बाल-यौवन आदि वयः जनित अथवा वंश, पद के भेद से निर्मित हो। यह वह दिगम्बर खुला पीठ है जिसपर हर युग में दिगम्बर शिव के नाट्यों को देखते आ रहे हैं चाहे वे पार्थिव रज हों या ज्योतिर्मय। मुनि भरत ने भी इस ब्राह्मपीठ पर डिम का प्रयोग किया था और यही था वह पीठ जिस पर उन्हें वर्षा, आँधी आदि के उपद्रव सहने पड़े थे। यह पीठ वस्तुतः जनमंच है। यह स्वयम्भू है। इसकी निष्पत्ति अपने आप होती रहती है। सभी मानवों ने इस पीठ की पूजा न केवल देश में, अपितु विदेशों में भी पहले भी की है आज भी कर रहे हैं। आज कल भी विभिन्न पर्वों पर जो मेला लगते हैं उनमें जनता इसी पीठ का उपयोग करती है। जननेता और कथावाचक व्यासादि भी इसी ब्राह्मपीठ का आश्रय लेते हैं। यह पीठ यायावर है अतएव यह मानवजाति जहाँ कहीं है वहाँ सर्वत्र सुलभ रहता है। स्मर (काम) के ही समान यह पीठ भी संकल्पयोनि है अर्थात् इसका निर्माण संकल्प करते ही संभव हो जाया करता है। इस ब्राह्मपीठ का संबन्ध अर्थ/द्रव्य से नहीं है। इसे फूटी कौड़ी की भी अपेक्षा नहीं रहती। इतने पर भी यह तीनों लोकों को व्याप्त किए रहता है।

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी के अनुसार दूसरा जो वैष्णव नामक पीठ है वह हुआ करता है भित्ति और मण्डप से वेष्टित। वह होता है स्थावर (यायावर नहीं), इसका निर्माण प्रयत्न से संभव हो पाता है अर्थात् यह स्वयंभू नहीं होता है। विष्णु ब्रह्म का ही नाम है जब वह माया से वेष्टित हो जाया करता है अर्थात् घिर जाता है। इस वेष्टित पीठ को विष्णुपीठ कहना उचित ही है। मण्डप और आकार के भेद से इसके क्रमशः तीन भेद माने गए हैं -

1. विकृष्ट में चौड़ाई से लम्बाई दुगनी होती है।
2. चतुरस्र में लम्बाई और चौड़ाई बराबर (चौकोर) होती है।
3. त्र्यस्र में चतुरस्र के पिछले भाग में चौड़ाई न रखी जाती अर्थात् तिकोना होता है।

[108] ना.शा., 4

वैष्णव पीठ है विष्णु की डगों के समान। तीनों प्रकार का यह (पीठ) पुनः ज्येष्ठ, मध्य तथा अधम तीन प्रकार का माना जाता है प्रमाणों के इन तीन प्रकारों के आधार पर।

ज्येष्ठ प्रमाण में यह पूरा त्रैलोक्य ही रङ्गमण्डपता को प्राप्त हो सकता है, यदि दृश्य दृश्य बना रहे और श्रव्य श्रव्य। लम्बाई में 108 हस्त और चौड़ाई उससे आधी यह है ज्येष्ठ प्रमाण स्वयं मुनि भरत के अनुसार। किन्तु यह तो दिङ्मात्र है। वस्तुतस्तु मुनि का दर्शन इस विषय में अतीव व्यावहारिक है। वे रङ्गशाला में उतनी लम्बाई और चौड़ाई अपनाने के पक्ष में है जिससे दृश्य दृश्य बने रहें और श्रव्य श्रव्य। प्रमाण के विषय में यही है मुनि भरत का दर्शन।

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी ने माना है कि पीठ दुगना बड़ा भी बनाया जा सकता है और तिगुना तथा चौगुना भी हस्तों के आधार पर या दण्डों के आधार पर यदि प्रयोग की हानि न हो -

द्विगुणं त्रिगुणं पीठं चतुर्गुणमथापि वा।
हस्तैः क्रियेत दण्डैर्वा प्रयोगो हीयते न चेत्॥[109]

भारतीय मनीषियों को अभीष्ट है लोकसंग्रह, इसलिए उनका दर्शन सदा से स्फीत (उदार/साफ) रहा है। उसमें किसी ग्राह्य की वर्जना कैसी? हम भारतीय हैं। हमारे यहाँ चेतना अमर होती है, मरती नहीं वह सदा बनी रहती है क्योंकि करती चलती है वह स्वागत वर्तमान का -

नास्माकं भारतीयानां चेतना म्रियते क्वचित्।
सा सदा वर्तमानस्य स्वागतादेव जीवति॥[110]

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी मानते हैं कि यह सदा से देखा जा रहा है जो ठीक और मांगलिक भी है कि पितामह नाचा करते हैं, कन्धे पर बिठलाकर पौत्र को। क्या पिता पुत्र के विवाह में दिखाई नहीं देता- पैरों में आलता लगाए, पीले वस्त्रधारण कर मुख में पान दबाए और सिर पर फैंटा बाधे। 'वर्तमान अतीत का पुत्ररत्न है' यह वेदमन्त्र इस भारत देश के इतिहास के किस पृष्ठ पर अंकित नहीं है? वाल्मीकि और व्यास के प्रति श्रद्धायुक्त कालिदास मानते हैं नवीनता को अपने ललाट का तिलक। इसी प्रकार श्रीश्रीहर्ष और पण्डितराज जगन्नाथ भी। आचार्य शंकर या आचार्य अभिनवगुप्त ने क्या माता शारदा को उन पुष्पों से नहीं पूजा जो बने थे पुराने नए के संवाद से? यदि पुराना साहित्य भी आज मुद्रणालय की सहायता

[109] ना.शा., 22
[110] ना.शा., 24

से नई नई पुस्तकों में सुलभ हो तो उसकी निन्दा नहीं की जाती है। आज से नाट्यप्रयोग में प्रयोगकर्ता क्या बिजली और ध्वनियन्त्र का उपयोग पुराने कवियों की नाट्यकृतियों के प्रयोग में नहीं करते? हम इतिहास-नामक प्रेत (मुर्दे) को करते तो हैं भस्म ही, परन्तु भूलते नहीं उसकी भस्म को प्रवाहों को अर्जित करना। पण्डित लोग स्वस्तिक को कङ्कण तो बना लेना चाहते हैं, परन्तु वे सोने को लोहा भूलकर नहीं बनाते। कौन चाहेगा मक्षिका के स्थान पर मक्षिका का निवेश जिसकी बुद्धि की आँख तत्त्वविज्ञान पर केन्द्रित हो? साथ ही कोई भी समझदार मूल का विच्छेद भी कैसे चाहेगा? अपनी पहचान के बिना शिल्पियों की प्रतिष्ठा ही क्या? इसलिए सभी मनीषियों को चाहिए कि वे एक ओर परम्परा की रक्षा रखें और दूसरी ओर नवीनतम सामग्री के संग्रह में आदर दिखलाएँ -

तस्मात् परम्परा सर्वैः पालनीया मनीषिभिः।
नवीनतमसामग्री-संग्रहे दर्शितादरैः॥[111]

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी की दृष्टि में इस युग में तो मनुष्य भी देवत्व को प्राप्त हो चुके हैं बड़े से बड़े बिजली के लट्टुओं, ऊँची ध्वनि के ध्वनियन्त्रों ओर वास्तुकला तथा स्थापत्यकला की सूक्ष्मता तथा श्लक्ष्णता के कारण। इसलिए अब शाला के बडे हो जाने पर भय नहीं होना चाहिए यदि उसमें श्रव्यता और दृश्यता का सुरक्षित रहना संभव हो।

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी मानते हैं कि उस दर्शन (अवलोकन) का नाम है नाट्य जिसमें दृश्य (जिसे देखा जा सके) ओर दृश्येतर (जिसे देखना उचित न हो) का प्रविभाग रहे (ये मिश्रित न हो जाएँ)। यह उद्देश्य जिस भी विधि से सिद्ध हो वह भरतमुनि को मान्य है। यही है भारत का नाट्यदर्शन -

दृश्यादृश्यप्रविभागपूर्वा दृङ् नाट्यमिष्यते।
येनापि विधिना तस्य निष्पत्तिः स मुनेर्मतः॥[112]

आपके अनुसार भित्ति, स्तम्भ, द्वार, पीठ, नेपथ्य, प्रेक्षकनिवेश आदि सब गौण हैं। प्रधान केवल प्रयोग ही होता है -

भित्तिस्तम्भद्वार-पीठ नेपथ्य प्रेक्षणादिकम्।
गौणमेव, प्रधानत्वं प्रयोगस्यैव सर्वथा॥[113]

---

111 ना.शा., 36
112 ना.शा., 39
113 ना.शा., 40

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी मानते हैं कि जो गौण है उसे अच्छी तरह से बदला जा सकता है इसमें कोई क्षति नहीं है। प्रकाशेच्छु प्रदीपों के आकारों में नहीं भरमाता। इन दिनों रंगशाला की भाँति-भाँति की रचना दिखलाई दे रही है किन्तु उन सब में दृश्यादृश्य विभाग सुरक्षित बना रहता है। इसलिए वे भी भरतमुनि के नाट्य के दर्शन से बाहर नहीं हैं। यदि प्राचीन स्थापत्य का आग्रह किया जाए तो वह होगा वक्री शनैश्चर।

प्रेक्षकों का निवेश, रंगपीठ और नेपथ्यगृह इन तीनों का नाम है नाट्यमण्डप-

प्रेक्षकाणां निवेशश्च रंगपीठं तथैव च।
नेपथ्यगृहकं चेति त्रयं वै नाट्यमण्डपः॥[114]

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी के मत में नाट्यशाला को भी महापुरुष रम्य से रम्य बनाना चाहिए। यह हम भारतीयों का महान् मन्त्र है, मन्त्र ही नहीं हमारे लिए कल्पलता है कि त्याज्य और संग्राह्य के भीतर ग्राह्य तथा त्याज्य अंश की खोज कर लें। हम भारतीय लोग करणीय कर्म में अकर्म अर्थात् अकरणीय या वर्जनीय को देखते चलते हैं और अकर्म मे कर्म को, इसीलिए सदा ही सभी क्षेत्रों मे होते जाते हैं विजेता -

कर्मण्यकर्म पश्यामः कर्म तद्वदकर्मणि।
भवामश्च विजेतारः सर्वक्षेत्रेषु सर्वदा॥[115]

आज यदि मण्डप का धारण स्तम्भों के बिना भी सम्भव है तो उन स्तम्भों के निवेश की शिल्पियों की रट कैसी। प्राचीन नाट्यकारों ने तिरस्करिणी के नाम से जिस पर्दे का उपयोग अनेक प्रकार से किया है उसको हटाने में हम लोगों का जो हठ है वह उचित नहीं। रूपकों के निर्माता और उसी प्रकार शास्त्रकार प्रयोक्ताओं की स्वतन्त्रता को समान रूप से महत्व देते आए हैं -

रूपकाणां विधातारो यथा शास्त्रकृतस्तथा।
स्वातन्त्र्यं तु प्रयोक्तृणां प्रमाणीकुर्वतेतराम्॥[116]

विद्वानों द्वारा शुक्लसूत्र से (रङ्ग) शाला के लिए भूमि का विभाजन इस प्रकार किया जाना चाहिए कि प्रयोगकर्ता और प्रेक्षकों के लिए सब कुछ सुखावह ही रहे। रङ्गशाला के मण्डप में यदि अधिक लम्बाई अभीष्ट हो तो शुक्ल सूत्र से रङ्गभूमि को चौड़ाई से तीन भागों में बाट लिया जाए -

[114] ना.शा., 44
[115] ना.शा., 52
[116] ना.शा., 57

मण्डपस्य यदीष्टा स्यादायामेऽधिकता तदा।
कार्यं भागत्रयं भूमेः शुक्लसूत्रेण विस्तरात्॥[117]

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी मानते हैं कि इन तीनों को पश्चिम में पीठ की तरफ एक भाग नाट्य के लिए और पूर्व में सामने की ओर दो भाग प्रेक्षकों के बैठने के लिए इस प्रकार बाँटा जाना चाहिए, किन्तु यह विभाग ऐसा हो कि दृश्यता और श्रव्यता बनी रहे। पश्चिम अर्थात् पिछले भाग में पहले बनाए रंगपीठ अर्थात् मंच,उसके पीछे बनाए परिक्रमाभूमि और उसके पीछे नेपथ्य। पश्चिम में बनाए वेदिका अर्थात् ऊँचा चबूतरा। जिसकी ऊँचाई हो प्रेक्षकनिवेश की लम्बाई के बाइसवें भाग की -

प्रतीच्यां वेदिका कार्या तस्या उत्सेध इष्यते।
प्रेक्षकाणां निवेशस्य दैर्घ्याद् द्वाविंशभागवान्॥[118]

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी मानते हैं कि इस वेदिका में अगले भाग की चौड़ाई के चार भाग बनाए और बीच के दो भागों का बनाए रङ्गपीठ। पिछले भाग को रङ्गशीर्ष कहा गया है। अगला भाग रङ्गपीठ के लिए नियत किया जाता है। रङ्गशीर्ष का पिछला भाग नेपथ्य कहलाता है। रङ्गपीठ और रङ्गशीर्ष इन दोनों का विभाग करने हेतु चौड़ाई में पट्टी लगाई जाती है, किन्तु नेपथ्य और रङ्गशीर्ष का अन्तर करने हेतु बनाई जाती है भित्ति ही। पट्टी के उपयोग से रङ्गशीर्ष दृश्य भी बना दिया जाता है, क्योंकि पट्टी के हटाने के बाद रङ्गशीर्ष केवल दृश्य ही बचेगा यदि उसमें अन्धकार न हो।

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी के अनुसार कुतप दो प्रकार के होते हैं -

- नियतस्थान - पूर्वरङ्गविधि में नियतस्थान नामक कुतप अर्थात् वाद्यवृन्द रङ्गशीर्ष के बीचों बीच बिठाया जाता है। यह केवल पूर्वरङ्ग के चित्र विधि से किए जाने वाले प्रयोग में ही अपनाया जाता है। चित्रविधि यानी काव्य, नृत्य और संगीत से मिश्रित प्रयोग।
- अनियतस्थान - अनियतस्थान कुतप पार्श्वभागों मे दाएँ-बाएँ भी बिठाया जा सकता है। इसको जानकार लोग पूर्वरङ्ग में भी अपना लेते हैं और मुख्यरङ्ग में भी। मुख्यरङ्ग या पूर्वरङ्ग के प्रयोग की जो शुद्ध अर्थात् चित्र से भिन्न अर्थात् काव्य, नृत्य, गीत से अमिश्रित विधि है उसमें पूरा कुतप अपनाने का विद्वान् निषेध करते हैं, क्योंकि उससे रस क्षति होती है।

[117] ना.शा., 59
[118] ना.शा., 62

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी ने नाट्यवेदी की चार भूमियाँ/कक्षाएँ बनाने का प्रस्ताव रखा है -

1. पीठ/रङ्गमंच
2. दोनों पार्श्व भाग (बाजुओं की भूमियाँ)
3. रङ्गशीर्ष
4. नेपथ्य

नाट्यशास्त्र में नाट्यमण्डप को द्विभूमि माना गया है। पार्श्वभूमि के लिए नाट्यशास्त्र में मत्तवारिणी पद का प्रयोग किया गया है। दोनों पार्श्वभूमियाँ और रङ्गशीर्ष मिलकर परिक्रमा भूमि बनते हैं[119]।

किन्तु ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी ने नाट्यशाला की चार भूमिकाएँ मानी हैं -

1. पीठ/रङ्गमंच
2. परिक्रमाभूमि
3. नेपथ्य
4. प्रेक्षकस्थान

आप नाट्यवेदि को त्रिभूमि तथा रङ्गपीठ को द्विभूमि भी मान लेते हैं। आपके अनुसार वर्तमान में बिना स्तम्भ के भी रङ्गमण्डप बनाए जाते हैं अतः स्तम्भों की अनिवार्यता अब नहीं मानी जाती किन्तु वेदी भाग को भव्य, आकर्षक और मनोरम होना चाहिए।

आप प्रेक्षकसन्निवेष को दो मंजिल बनाने का प्रस्ताव देते हैं जिनमें ऊपरी मंजिल में स्त्रियों एवं दम्पतियों के बैठने का विधान था। प्रेक्षकसन्निवेष की भूमि पूर्वभाग में ऊँची तथा पिछले भाग में रङ्गपीठ की ओर नीची होनी चाहिए। प्रेक्षकों के लिए नर्तक और नट श्रव्य और दृश्य होने चाहिए। अतएव रङ्गमण्डप ऐसे बनाने चाहिए जिनमें दृश्यता एवं श्रव्यता बनी रहे।

आप कलाओं को धर्म से जोड़ने का समर्थन करते हैं। यहाँ धर्म है लोक। कलाओं का काम है सहृदय के चित्त से रूक्षता को हटाकर उसमें माधुर्य की प्रतिष्ठा करना। यहाँ कला की धर्मनिष्ठा गृहपति के मनोरम दृष्टांत द्वारा प्रस्तुत की गयी है।

---

[119] नाट्य., 2.33-81

2. भरतदर्शनम् -

यह नाट्यानुशासनम् का द्वितीय उन्मेष है। इसमें नाट्यानुशासनम् के विषयों को ही रूपान्तर से प्रस्तुत किया गया है किन्तु इसमें लेखन की शैली का अन्तर है। इसे आख्यायिका अथवा पुराण की शैली पर लिखा गया है - एक बार उज्जयिनी के अन्ताराष्ट्रीय कालिदास समारोह के समय हरिप्रबोधनी एकादशी के अवसर पर आयोजित समारोह में सम्मिलित सभी विद्वान् भगवान् महाकाल के दर्शनार्थ महाकालधाम पहुँचे। उन्होंने प्रार्थना की और नाट्यप्रयोग की नवीनतम विधि की जिज्ञासा भी। महाकालेश्वर भगवान् शिव ने आँखे बन्दकर भरतमुनि का स्मरण किया। वे उपस्थित हुए तो विद्वानों की जिज्ञासा उनके समक्ष प्रस्तुत कर आदेश किया कि अपना नाट्यदर्शन भरतमुनि स्वयं अपने शब्दों में प्रस्तुत करें। भरतमुनि ने यह दर्शन 116 पद्यों में प्रस्तुत किया।

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी नवीनता का समर्थन करते हुए कहते हैं कि - हम आदर करते हैं सन्तति अर्थात् प्रवाह का, जिसमें रहता है अद्वैत प्राचीन और नवीन का जिसमें बना रहता है प्रवाह, क्योंकि हमारा आदर्श न्याय है काण्ड (तना) पत्र और वृक्ष की समष्टि। वृक्ष में काण्ड भी आ जाता है और पत्र आदि भी। शेषशेषिभाव, अङ्गाङ्गिभाव या व्यष्टिसमष्टि की दृष्टि से ये सभी हैं वृक्ष क्योंकि वृक्ष का रस इन सभी में व्याप्त रहता है। उस दर्शन को नाट्य माना जाता है जिसमें दृश्य और अदृश्य का प्रविभाग रहे। यह उद्देश्य जिस भी विधि से पूर्ण हो वही है आपको अभिमत। नाट्यमण्डप के विषय में यहाँ वे ही सिद्धांत स्वीकृत हैं जो नाट्यानुशासन में स्थापित हैं। रङ्गप्रयोग में सभी देशों और सभी युगों को तथा सभी छोटे या बड़े प्रयोगों को आदर दिया जाना आपको मान्य है।

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी कलाओं में अन्य कलाओं का अलङ्करण के रूप में प्रयोग स्वीकार करते हैं किन्तु तीव्र ध्वनियों से युक्त कर्णकटु संगीतध्वनियों के अतिशय प्रयोग का विरोध करते हैं। आपने उचित विधि से किए गए नाट्यप्रयोग का फल राष्ट्र, सहृदय और नट में अदृष्ट (पुण्य) उत्पन्न करना बतलाया है।

3. नाट्यशारीरकम् -

यह नाट्यानुशासनम् का तृतीय उन्मेष है। इसमें नाटक के शरीर- अवस्था, अर्थप्रकृति और सन्धि इन तीनों तत्त्वों को अत्यन्त स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया गया है - अवस्था है नायक के यत्न की अवस्था। अर्थप्रकृति है फल की अवस्था और सन्धि है काव्य/नाट्य की अवस्था।

इस प्रकार इन तीनों में कोई विरोध नहीं है और न ही इनकी शास्त्रीय प्रस्तुति में असम्बद्धता। ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी के अनुसार नाट्य का शरीर माना जाता है इतिवृत्त, जो बनता है लोक में घटित हो रहे घटना चक्र से। विद्वज्जन इसी को नाट्य का कथानक बना लेते हैं। परम्परा से यह कथानक आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम इन पाँचों से विस्तार को प्राप्त करता है। इन्हें अवस्था, संस्था या समवस्था भी कहा जाता है। इस क्रम में फल का विपाक बीज, काण्ड (बिन्दु), पताका, प्रकरी और फल नाम से पुकरा जाता है। इन्हें अर्थप्रकृतियाँ कहते हैं। आचार्य अर्थप्रकृति के अर्थ को स्पष्ट करते हैं - अर्थ अर्थात् प्रयोजन। उसकी प्रकृति अर्थात् स्वाभाव। इस प्रकार प्रयोजन हुआ अर्थप्रकृति शब्द से कथित। यत्न दो प्रकार का होता है मानसिक और शारीरिक। मानसिक यत्न ही आरम्भ कहलाता है। शारीरिक यत्न की यत्न से लेकर फलागम तक चार स्थितियाँ देखी जाती हैं। यत्न तीन प्रकार का होता है शुद्ध, पाकाभिमुख और पक्व। शुद्ध उपाय योजना तक सीमित होता है। अपाय से मिश्रित किन्तु पाक के लिए उन्मुख यत्न की दो स्थितियाँ होती है नैराश्य और आशा बढ़ने की। जब निराशा मुख्य होती है तब यत्न को प्राप्त्याशा माना जाता है और जब आशा मुख्य होती है तो नियताप्ति। आप नियाताप्ति को निरुद्धाप्ति मानने का विरोध करते हैं तथा इस दुविधा से बचने के लिए आपने नियाताप्ति के लिए निश्चिताप्ति पद का प्रयोग किया है -

यत्नस्य पंचधाऽऽयामः फलपर्यन्तमीक्ष्यते।
आरम्भ-यत्न-प्राप्त्याषा-निश्चिताप्ति-फलाप्तिभिः ॥[120]

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी अमुख्य वस्तु का समायोजन बीजांकुरन्याय तथा नदीनद्यन्तरन्याय से करते हैं। आपके अनुसार मुख्य कथा में अमुख्य कथाएँ मिल जाती हैं किन्तु उनके स्रोत भिन्न होने चाहिए। आपने वृक्ष की उपमा से अर्थप्रकृतियों को स्पष्ट किया है - बीज ही फल बनता है किन्तु इस प्रक्रिया में वह पहले बनता है बिन्दु (काण्ड या तना), पताका (शाखा) और प्रकरी (पुष्प)।

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी ने कुल तीन अवस्थाएँ, तीन अर्थप्रकृतियाँ तथा तीन सन्धियाँ मानी है।

तिस्र एव त्ववस्थाः स्युः प्रमुखास्तद्वदेव च।
अर्थप्रकृतयस्तिस्रस्त्रय एव च सन्धयः ॥[121]
बीजारम्भमुखं बिन्दुयत्नप्रतिमुखं तथा।

[120] नाट्य.शा., 23
[121] नाट्य.शा., 43

सोपसंहृतिकौ सन्धित्रयं कार्यफलागमौ ॥[122]
परस्मिँल्लीयते पूर्वं पूर्वमत्रेति चान्तिमे।
समेषामेव संहारः प्रकृतौ विकृतेर्यथा ॥[123]

4. कलासमाधि -

यह नाट्यनुशासनम् का चतुर्थ उन्मेष है। यह लघुकाय रचना है जिसमें कुल 42 कारिकाएँ हैं। इनमें बतलाया गया है कि सभी कलाओं का परिणाम होता है चित्त की एकाग्रता - जिसे योगशास्त्र में प्रत्याहार और समाधि कहा जाता है। कला के सन्दर्भ में अनुकूलता एवं प्रतिकूलता कैसे सम्भव होती है? इस प्रश्न के उत्तर में आपने महर्षि पतंजलि के चित्त सहित इन्द्रियों के प्रत्याहार की मात्रा को कारण माना है -

वदतीह पतंजलिः 'सचेतः-करणप्रत्यवहार'-मात्रयाऽस्मिन्।
क्रियते व्यतिभेद आत्मनीनः सकलानामपि गात्रचेष्टितानाम् ॥[124]

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी के मत में चित्त सामाजिक से सम्बन्धित है। प्रस्तुत ग्रन्थ में आपने सौन्दर्य को भी परिभाषित किया है - सुन्दर वह है जो चित्त में समाधि लाए अर्थात् बिखराव को दूर करके एकाग्रता उत्पन्न करे। एकाग्रता सामाजिक की आत्मा के साथ सम्बद्ध है। निष्कर्षतः कला सामाजिक के चित्त को आत्मतत्त्व में डुबा दिया करती है। कला का यह सामर्थ्य ही है कलागत सौन्दर्य, जिससे उसमें स्पृहणीयता आती है।

कवि, नट, नर्तक तथा गायक ये सभी क्रमशः वाणी, अभिनय, अंगहार और रागों के माध्यम से कलाओं के द्वारा समाधि का आदान करते हैं। वाणी काव्य में, अभिनय नाट्य में, अंगहार नृत्य में और राग संगीत में समाधि का माध्यम बनता है -

कविना नटनेन नर्तकेन यदि वा गायनकेन शिल्पयोगात्।
वचनाभिनयाङ्गहार-रागैः स समाधिर्हि निधीयते कलाभिः ॥[125]

इन सभी कलाओं में 'अनुकूलता और प्रतिकूलता' का नियामक है समाधि ही और यह समाधि ही है भिन्नता और विविधताओं के बीच 'एकरूपता' नामक वह

122 नाट्य.शा., 44
123 नाट्य.शा., 45
124 क.स., 9
125 क.स., 28

गुण जो सेतु बनता है। नाट्य आदि के प्रयोगों में सभी कलाओं की संगति इसी समाधि-तत्त्व को लेकर दिखलाई देती है।यही है योगसिद्धि जो मिलती है यमों (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह) से समृद्ध योगियों, नृत्यवेत्ताओं और उत्तम कवियों में नाट्य, नृत्य, संगीत और काव्य के जनक भी हैं ये यमीजन ही -

अयमेव समाधिरासु सर्वास्वनुकूल-प्रतिकूलभावभूमिः ।
अयमेव च भिन्नता-विचित्रास्वविचित्रैक्यगुणाभिधोऽस्ति सेतुः ॥[126]
इयमेव हि संगतिः समासामपि नाट्यादिषु दृश्यते कलानाम्।
इयमेव च कापि योगसिद्धिर्यमिनां नृत्यविदां स-सत्कवीनाम् ॥[127]

महिमभट्टाचार्य ने सौन्दर्य को ही रस माना है, जिसे वामनाचार्य ने काव्य की आत्मा कहा है। कलासमाधि में नाट्य, नृत्य और गीत में आन्तरिक सूत्र रस को ही माना गया है।

5. रसभोगः -

यह नाट्यानुशासनम् का पंचम उन्मेष है। इसमें रसभुक्ति को निरूपित करने वाली 78 कारिकाएँ हैं। काव्य, नाट्य, नृत्य, गीत और चित्र जिससे सौन्दर्य प्राप्त करते हैं वह केवल रस ही है -

काव्यं नाट्यं च नृत्यं च गीतमालेख्यमेव च।
यदौपयिक-सौन्दर्यं स एकः स रसः परम् ॥[128]

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी ने भावों की संख्या बयालीस मानी हैं। आपके अनुसार बयालीस भावों में व्यभिचारित्व मानकर स्थायित्व केवल चिति में माना जाता है। अनुभाव, विभाव, स्थायिभाव और सात्त्विकभाव सभी में भावत्व है क्योंकि ये सब चित्तवृत्ति-स्वरूप हैं। आचार्य द्विवेदी ने रस का सार्वभौम लक्षण प्रस्तुत किया है "भावसंयुक्त चित् ही है रस" -

एवं च भाव इत्युक्ते गृह्येरन् निखिला इमे।
रसश्चिद् भावसंयुक्तेत्यतः सद् रसलक्षणम् ॥[129]

126 क.स., 30
127 क.स., 31
128 रस., 1
129 रस., 39

आपके अनुसार शुद्ध रसों में सभी भाव छूट जाते हैं जैसे सुषुप्ति या समाधि में किन्तु शृङ्गारत्वादि विशेषता से युक्त रसों में भावों की सुयुति मानी जाती है।

4. साहित्यालङ्कार -

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी की नवीन कृति साहित्यालङ्कार सन् 2015 में कालिदाससंस्थानम्, वाराणसी से प्रकाशित है। इसके आरम्भ में प्रोफेसर राधावल्लभ त्रिपाठी जी का आङ्ग्ल भाषा में अत्यन्त भावपूर्ण परिचायात्मक निबन्ध भी प्रकाशित है। इसके बाद साहित्यालङ्कारे आसनबन्धः के अन्तर्गत साहित्यविद्या, रसालङ्कार तथा काव्यधर्मों से सम्बन्धित विषयों का 22 पद्यों में महत्त्वपूर्ण प्रतिपादन है। आपने साहित्यशास्त्र में अलङ्कारों की स्थिति पर सतत् गहन चिन्तन किया तथा अनेक नवीन स्थापनाएँ प्रस्तुत की हैं। साहित्यालङ्कार के आसनबन्ध में आचार्य ने स्पष्ट किया है कि -

अलङ्कारे तु कारार्थः स्वरूपं प्रकृतेस्ततः।
रसवद् ब्रह्मणस्तत्र पर्यायत्वं प्रसिद्ध्यति॥[130]

काव्यालङ्कारकारिका में काव्य शब्द का जो अर्थ है वही साहित्यालङ्कार में साहित्य शब्द का अर्थ है। इसमें सर्वप्रथम साहित्यागमः - अहमागम का निरूपण है। तदनन्तर पाँच कल्पों को बतलाया गया है -

1. पूर्णताकल्पः
2. गुणकल्पः
3. अस्फुटालङ्कारात्मा लक्षणकल्पः
4. अलङ्कारकल्पः
5. एतच्चतुष्टयसम्मिश्रकल्पः

अलङ्कारात्मवादी आचार्य (अलंब्रह्मवाद) का निरूपण करने के उपरान्त धाम चतुष्टय - कांची, कश्मीर, धारा और काशी का वर्णन किया गया है। इसमें तीन क्रान्तियाँ निरूपित हैं -

1. प्रथमा क्रान्ति - ध्वन्यात्मवाद प्रतिक्रान्ति अभिधैकशक्तिवाद
2. द्वितीया क्रान्ति - शब्दशक्तिवात्या
   धारासंप्रदाय साहित्यकल्प
   शृङ्गारप्रकाशकथा

[130] सा.आ., 4

3. तृतीया क्रान्ति- विकल्पवाद

इसके बाद शब्दशक्तिविखण्डनम्, स्वात्मैव रसः, कवितादर्शनम्, ग्रन्थसम्पादनविधिः, कवितास्वरूप, प्रकीर्णाः श्लोकाः तथा साहित्यालङ्कारकारिकानुक्रमः निरूपित हैं। यहाँ ब्रह्मर्षि आचार्य का संक्षिप्त जीवन परिचय भी दिया गया है। 639 कारिकाओं में उपनिबद्ध साहित्यालङ्कार सनातनकवि का नवीनतम चिन्तन प्रस्तुत करता है। इसके अन्त में आचार्य ने अपने सम्पादन कार्य के वैशिष्ट्य का भी निदर्शन किया है।

आपके अनुसार ध्वनिवादियों के द्वारा स्वीकृत चमत्कार युक्त व्यंग्यार्थ काव्य की शोभा का वर्द्धक माना जाने के कारण काव्य का अलङ्कार ही है - ध्वनिवादियों के अनुसार व्यंजना नाम की शब्दशक्ति से प्रतीत हुए अतः व्यङ्ग्य अर्थ में ही सर्वाधिक चमत्कार है, परन्तु उसकी प्रतीति से उक्ति या काव्य का कोई लाभ हुआ या नहीं? यह विचारणीय है - यदि नहीं हुआ तो उसे प्रथम स्थान पर कैसे रखा गया? यदि उस अर्थ की प्रतीति के कारण ही भम धम्मिअ आदि ग्राम्योक्ति को उत्तम काव्य की कोटि में रखा गया तो सिद्ध हुआ कि इससे काव्य का उपकार हुआ, तो वह काव्य की शोभा का वर्द्धक यानी अलङ्कार हुआ या नहीं? साहित्यालङ्कार में ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी ने कहा कि ध्वनि भी काव्य का एक अलङ्कार है। ध्वनिवादी उसे उत्तमोत्तम अलङ्कार घोषित नहीं करते तो न करें, किन्तु सभी विचारकों को कैसे रोक सकते हैं? साहित्यालङ्कारकार की दृष्टि में वह (ध्वनि) उत्तमोत्तम अलङ्कार घोषित हो सकता है -

अथवा, ध्वनिसंज्ञोऽयमलङ्कारोत्तमोत्तमः।
अलङ्कारत्वजात्याभिव्याप्यजाति- विशेषितः॥[131]

5. सौन्दर्यपंचाशिका -

ब्रह्मर्षि आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी का काव्यशास्त्र में सौंदर्य का निरूपण करने वाला सौन्दर्यपंचाशिका नामक एक स्वतन्त्र लक्षण-ग्रन्थ है। 21 सितम्बर, 2015 को कालिदास संस्थानम्, वाराणसी 5 से प्रकाशित यह ग्रन्थ 51 कारिकाओं में उपनिबद्ध है। ग्रन्थकर्ता आचार्य ने काव्यशास्त्र में सौंदर्य प्रतिपादक इन सारगर्भित कारिकाओं का स्वयं हिन्दी भाषा में अनुवाद भी प्रकाशित करवाया है, जिससे इनके निहितार्थ को सरलता से समझा जा सकता है।

ब्रह्मर्षि आचार्य ने माना है कि जिस विशेषता को सौन्दर्य शब्द के द्वारा प्रकाशित किया जाता है, वह या तो जाति है या गुण, जो अङ्गों की संघटना में

[131] सा., 98

मिलता है -

सौन्दर्यमिति शब्देन यो विशेषः प्रकाश्यते।
अङ्गसंघटनानिष्ठा जातिरेषा गुणोऽथवा॥[132]

इस सौन्दर्य के दिखलाई देते ही सिद्ध योगियों के स्ववश अन्तःकरण भी आहृत कर लिए जाते हैं - अन्तःकरणाहरणनिष्ठकार्यतानिरूपितकारणतावच्छेदकोऽङ्गसंघटनानिष्ठो जातिविशेषो गुणविशेषो वा सौन्दर्यमिति यावत्॥

सौन्दर्य से लग जाती है समाधि, जो हुआ करती है परिणति प्रत्याहार की। अतः सौन्दर्य का केवल अनुमान किया जा सकता है प्रत्याहार को हेतु बनाकर। ऐसा इसलिए कि इसी से आती है चित्त में एकाग्रता[133]। समाधि और प्रत्याहार दोनों ही एकाग्रता की स्थितियाँ हैं। समाधि में केवल स्वतत्त्व का स्पर्श रहता है जबकि प्रत्याहार में अन्य विषयों का भी। सौन्दर्य का केवल अनुमान हो सकता है और इस अनुमान में हेतु बनता है केवल प्रत्याहार। इसका जो यह हेतुत्व है यह भी सिद्ध होता है प्रत्याहाररूपी फल से अर्थात् प्रत्याहार हुआ ही नहीं यदि सौन्दर्य की अनुमति या अनुभूति नहीं हुई। इस प्रकार सौन्दर्य का केवल तटस्थ लक्षण ही किया जा सकता है। सौन्दर्य में जो स्वरूप है उसका लक्षण सम्भव नहीं हो पाता अर्थात् सौन्दर्य का स्वरूपलक्षण करना सम्भव नहीं है। इसमें उपपत्ति है - मुसकुराती सुन्दरियाँ अपने लुभावने अंगों से नाना प्रकार की चेष्टाएँ कर रही हैं, परन्तु विरक्त योगी उन पर दृष्टि भी नहीं डालता किन्तु, जो अनुरक्त संसारी होते हैं उनका तो ये ही सुन्दरियाँ सर्वस्व हर लेती हैं। दूसरी ओर ये जो विरक्त हैं इनके अन्तःकरण में भी निश्छल राग छिपा बैठा है भले ही वह हो परात्पर नित्य तत्त्व के प्रति। यह नीति भी है तो विषय-प्रीति ही, परन्तु इसमें विषय और प्रकार का द्वैत नहीं होता और जो स्वभिन्न से भिन्न हुआ करता है।

यहाँ स्व का अर्थ है आत्मा। उससे भिन्न हुआ अनात्मा अर्थात् भूतसंचय। उससे भिन्न हुआ यही स्वात्मा। इस प्रकार परिणाम में हाथ लगा अद्वयत्व ही[134]।

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी के अनुसार प्रत्येक शरीरधारी की प्रत्येक चेष्टा आत्मा के लिए ही होती है। अतः आत्मा को प्राप्त कराने वाला तत्त्व ही अभीष्ट है, सौन्दर्य के रूप में -

---

132 सौ.पं., 1
133 सौ.पं., 3
134 सौ.पं., 2-11

आत्मनस्तु कृते सर्वे समारम्भाः शरीरिणाम्।
आत्मोपलम्भकं तत्त्वं तस्मात् सौन्दर्यमिष्यते॥[135]

इस प्रकार सौन्दर्य का स्वरूप लक्षण है - आत्मोपलम्भकं तत्त्वं सौन्दर्यम् इति यावत्।

मधुमास और शिशिर का सन्धिकाल बहुत अधिक मीठा है क्यों? इसलिए कि इसमें बिखर उठता है सुरभित पवन, जिसे मलयानिल कहा जाता है। इसके विरुद्ध ग्रीष्म लगता है भीष्म। क्यों? इसलिए कि उसमें उड़ती है धूल, जिसमें सामने उपस्थित वस्तु को भी देखना तक सम्भव नहीं होता। यह है वस्तुओं का स्वगत वैशिष्ट्य जिससे भौतिक द्रव्यों में परस्पर अन्तर प्रतीत होता है। इसी में बैठा रहता है सुन्दरीकरणरूपी संस्कार। यही कारण है कि प्रशान्त महासागर अधिक प्रिय लगता है, अटलाण्टिक महासागर से। सौन्दर्य ज्ञाता का स्वगत धर्म भी है और वस्तुगत धर्म भी। इस प्रकार सौन्दर्य की गंगा प्रमाता और प्रमेय दोनों तटों को छूकर बहती है -

सौन्दर्यमित्थं स्वगतं प्रमातुः, प्रमेयगं चापि विभाव्यते ज्ञैः।
सौन्दर्य-गंगा तटयुग्ममेतन्मेयं च मातारमथो श्रितास्ति॥[136]

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी ने काव्य के अर्थ, स्वरूप एवं विशेषताओं को सौन्दर्यपंचाशिका में अत्यन्त सरल भाषा में प्रस्तुत किया है -

शब्दशक्तेस्तु माहात्म्याच्छब्दानां च गतिक्रमात्।
प्रतिक्षणपरीणामसुन्दरोऽर्थस्तु काव्यगः॥[137]
काव्यस्य प्रातिभत्वेन प्रकाशत्वमवस्थितम्।
प्रकाशमनुधावन्ती शब्दशक्तिर्हि दृश्यते॥[138]
एकस्यैव तु भावस्य पर्यायैर्बहुभिर्मुहुः।
मुहुरामे्रडनं तत् तु काव्यमात्रेऽवलोक्यते॥[139]
एषा विभूतिः काव्यस्य यदेका पार्वतीतनुः।
अष्टसर्गात्मके काव्ये पंचधा परिवर्ण्यते॥[140]

[135] सौ.पं., 12
[136] सौ.पं., 15
[137] सौ.पं., 21
[138] सौ.पं., 22
[139] सौ.पं., 27
[140] सौ.पं., 28

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी सौन्दर्यपंचाशिका में काव्य का चित्र, मूर्ति तथा लौकिक व्यवहार से भेद सिद्ध करते हुए कहते हैं कि स्त्री-पुरुष सम्बन्धी जो व्यवहार मूर्ति आदि में दृश्य होने के कारण घृणा का विषय बनते हैं वे ही काव्य में श्रव्य होने के कारण आदृत हो जाते हैं। इसी प्रकार वाक् रूपी पटी से आवृत्त होकर देवताओं की रतिक्रिया भी उद्वेग का विषय नहीं बनती[141]।

आचार्य मानते हैं कि विभाव और अनुभाव अनेक प्रकार के होते हैं, परन्तु उनसे मिलने वाले आस्वादरूप रस में अणुमात्र की भिन्नता नहीं रहती है। जिस प्रकार मनुष्यधाम में प्रयोग अनेक प्रकार के हैं उसी प्रकार सम्प्रयोग भी, परन्तु उन सबके बीच जो भोक्ता रूप 'स्व' है उसमें उनमें से किसी में भी भेद नहीं दिखलायी देता है[142]।

सौन्दर्य के प्रति ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी का निष्कर्ष है - सौन्दर्य हुआ तो करता है वस्तुनिष्ठ, किन्तु होता है वह प्रत्यगानन्दरूप ही। उसी के भीतर बैठा मिलता है वह भगवान् रासेश्वर भी और जो ये गोपियाँ हैं, जो कृष्ण है और जो उनका मण्डल तथा नृत्य है। वस्तुतः सौन्दर्य वह है, जिस पर चलते मिलते हैं सुन्दर जन, किन्तु जिससे समाधि के इच्छुक योगी तृप्ति का अनुभव करते रहते हैं -

सौन्दर्यं वस्तुनिष्ठं भवदपि भवति प्रत्यगानन्दरूपं
प्रत्यासीनश्च तस्मिन् भवति स भगवान् कोऽपि रासेश्वरोऽपि।
या गोप्यो यश्च कृष्णो भवति च यदिदं मण्डलं नर्तनं च
सौन्दर्यं सुन्दराणामयनमथ समाधित्सुषु प्रीतिकृत् तत्॥[143]

6. अहमागमः (अलङ्कारशास्त्रागमः) -

अहमागमः (अलङ्कारशास्त्रागमः) साहित्यशास्त्रसमुच्चयः की शृङ्खला में सप्तम भाग है जो कालिदास संस्थानम् वाराणसी से सन् 2017 में प्रकाशित है। इसके द्वारा ब्रह्मर्षि आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी ने अलङ्कारशास्त्र विधिवत् आगममूलक शास्त्र है इस युगीन स्थापना को प्रस्तुत किया है। आपको आगम के दो स्रोत मिले -

- अग्निपुराण के एकादश अध्याय (अध्याय 337 से 347 तक) तथा

141 सौ.पं., 29-41
142 सौ.पं., 42-44
143 सौ.पं., 51

- विष्णुधर्मोत्तरपुराण के चार अध्याय (तृतीय खण्ड अध्याय 14 से 17 तक)

(क) अग्निपुराण -

यहाँ ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी ने अग्निपुराण के निर्णयसागर संस्करण को आधार बनाया है साथ ही आपने 14वीं शताब्दी के बाद निर्मित संस्कृत टीका काव्यप्रभा को भी प्रस्तुत किया है जो सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से सन् 1985 में हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित है। इस टीका का हस्तलेख स्थानीय सरस्वतीभवन में क्रमांक 57 पर उपलब्ध है जिसकी लिपि देवनागरी है तथा मातृका बङ्गीय लिपि में है। अग्निपुराण में साहित्यशास्त्र से सम्बन्धित कुल मिलाकर बारह अध्याय हैं किन्तु इन्हें एकादश गिना गया है। षष्ठ अध्याय निर्णयसागर संस्करण में अधिक है, जो सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से प्रकाशित काव्य-प्रभा टीका से युक्त संस्करण में पंचम अध्याय में ही सन्निहित कर दिया गया है। इसके स्थान पर काव्यप्रभा संस्करण में नाट्यसामान्याध्याय और नाट्यविशेषाध्याय नाम से दो अध्याय दिये गये हैं। ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी ने इन दोनों अध्यायों को नाटकादिलक्षणम् इस एक ही शीर्षक के साथ दो अनुच्छेदों के रूप में रख दिया है - नाट्यसामान्य तथा नाट्यविशेष। इस प्रकार दोनों संस्करणों में अध्यायों की संख्या 11 हो जाती है -

1. काव्यादिलक्षणभेदाः - 38 कारिकाएँ
2. नाटकादिलक्षणम् -
   (क) नाट्यसामान्यम्- 1-32 कारिकाएँ
   (ख) नाट्यविशेषः - 33-112 कारिकाएँ
3. रसादिनिरूपणम्/रसविवेकः - 70 कारिकाएँ
4. रीतिवृत्तिलक्षणम् - 19 कारिकाएँ
5. नृत्यादावङ्गकर्मनिरूपणम् - 17 कारिकाएँ
6. अभिनयादिनिरूपणम् - 29 कारिकाएँ
7. शब्दालङ्कारविवेकः - 89 कारिकाएँ
8. अर्थालङ्कारविवेकः - 31 कारिकाएँ
9. उभयालङ्कारविवेकः - 19 कारिकाएँ
10. काव्यगुणविवेकः - 26 कारिकाएँ
11. काव्यदोषविवेकः - 40 कारिकाएँ

अलङ्कारशास्त्र का विवेचन अग्निपुराण के चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली से सन् 2014 में प्रकाशित संस्करण में भी एकादश अध्यायों में प्राप्त होता है किन्तु इसके अध्यायों में कारिकाओं की संख्या भिन्न है जिनका विवरण निम्नलिखित है -

1. काव्यादिलक्षणम्- 38 कारिकाएँ
2. नाटकनिरूपणम्- 27 कारिकाएँ
3. शृङ्गारदिरसनिरूपणम् - 54 कारिकाएँ
4. रीतिनिरूपणम् - 10 कारिकाएँ
5. नृत्यादिरङ्गकर्मनिरूपणम् - 20 कारिकाएँ
6. अभिनायादिनिरूपणम् - 33 कारिकाएँ
7. शब्दालङ्कारः - 65 कारिकाएँ
8. अर्थालङ्कारः - 32 कारिकाएँ
9. शब्दार्थालङ्कारः - 18 कारिकाएँ
10. काव्यगुणविवेकः - 25 कारिकाएँ
11. काव्यदोषविवेकः - 40 कारिकाएँ

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी काव्यप्रभाकार का स्मरण अपने ग्रन्थ अलङ्कारशास्त्रागम की परिचयात्मक भूमिका के आरम्भ में ही अत्यन्त सम्मानपूर्वक करते हैं - "इस साहित्यशास्त्रीय आगम पर एक संस्कृत टीका भी 14-वीं शताब्दी के बाद बनाई गई है जो ध्वनिवादी सभी आचार्यों को आगमविरोधी, प्रमादी और उनकी कृतियों को बारम्बार अनार्ष तथा त्याज्य घोषित करती है। उनकी तथ्यप्रियता और 'आगम-अनागम' की पहचान तथा दार्शनिक एवं आध्यात्मिक निष्ठा के आधार पर हमने लिखा है कि साहित्याचार्य की जो विशेषताएँ अभिनवगुप्त में देखी गई थी उनमें काव्यप्रभाकार उनकी अपेक्षा साहित्यक्षेत्र में अग्रज हैं, अभिनवगुप्त भटके लगते हैं, काव्यप्रभाकार स्थिर।"

अहमागमः (अलङ्कारशास्त्रागमः) इस ग्रन्थ की अत्यन्त सारगर्भित सुविस्तृत भूमिका आचार्य द्विवेदीजी के मौलिक चिन्तन को जानने के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

(ख) विष्णुधर्मोत्तरपुराण -

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी को विष्णुधर्मोत्तरपुराण के चित्रसूत्र के विधिवत् अध्ययन से यह ज्ञात हुआ कि यह पुराण शास्त्रीय विषयों के गम्भीर चिन्तन में प्रवृत्त है

तथा परम्परागत सिद्धान्तों के प्रस्तुतीकरण के साथ ही यथास्थान मौलिक चिन्तन भी उपस्थापित करता है। अतः आपने साहित्यशास्त्र के आगम के अन्वेषण के समय साहित्यशास्त्रीय विषयों के प्रतिपादन हेतु इसका पुनः अध्ययन किया तथा अनेक महत्वपूर्ण तत्त्वों को खोज निकाला। इस पुराण के तृतीय खण्ड के अध्याय 14 से 17 तक चार अध्यायों में साहित्यशास्त्रीय तत्त्वों को प्रस्तुत किया गया है, तदनुसार -

- 14वाँ अध्याय अलङ्कारनिरूपणम् - 18 कारिकाएँ
- 15वाँ अध्याय महाकाव्यलक्षणम् - 15 कारिकाएँ
- 16वाँ अध्याय प्रहेलिकालक्षणम् - 15 कारिकाएँ
- 17वाँ अध्याय द्वादशरूपकवर्णनम् - 63 कारिकाएँ

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी ने दिल्ली के नाग पब्लिशर्स द्वारा प्रकाशित विष्णु-धर्मोत्तरपुराण के 14 से 17अध्यायों तक के वर्ण्यविषयों एवं विशेषताओं को अपनी भूमिका में स्वतः स्पष्ट किया है तदनुसार -

- प्रथम अध्याय में 18 अलंकार वर्णित हैं।
- द्वितीय अध्याय में महाकाव्यलक्षण, नायक-प्रतिनायक, काव्यदोष और काव्यदोषपरिहार बतलाते हुए शान्त सहित आठ रसों का निरूपण तथा नायक के अभ्युदय के साथ काव्य की पूर्ति का निर्देश है।
- तृतीय अध्याय में 21 प्रहेलिकाओं का निरूपण है - समागता, वन्दिता, वृत्तान्तगोपिकान्ता, दुःखिता, परिहासिका, प्रकीर्त्तिता, परुषा, संख्याता, कल्पिता, नामान्तरिता, निभृता, तुल्यशब्दा, व्यामूढा, गुच्छा, संकीर्णा, व्यभिचारिणी, स्थापिता, वृत्तबन्धनिदर्शिता, नष्टाक्षरा, अन्यार्थदा, लेशरूपा।
- चतुर्थ अध्याय में नाटक की प्रयोग विधि पर अधिक ध्यान दिया गया है।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण में प्रतिपादित रूपकादि के प्रयोग विधान की ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी ने अत्यन्त सूक्ष्मेक्षिकया समीक्षा करते हुए विवेचना प्रस्तुत की है -

- नाटक में कम से कम 5 अंक और अधिकतम 10 अङ्कों के विधान पर बल दिया गया है। यहाँ मंच पर मृत्यु, राज्यभ्रंश, नगर पर चढ़ाई के दृश्य दिखाये जाने का निषेध किया गया है। इनकी सूचना प्रवेशक के द्वारा दी जानी चाहिए।

- यहाँ चार अंक की नाटिका और उत्पाद्य वस्तु का प्रकरण नामक नाट्य प्रकार बतलाये गये हैं।
- नाटिका के समान प्रकरणी का भी यहाँ उल्लेख है। नाटिका के ही समान प्रकरणी भी चार अङ्कों और श्रृङ्गार रस को लेकर रची जाती है, उसमें केवल कथावस्तु कल्पित होती है और नायक ब्राह्मण या वणिक्।
- भाण भी ऐतिहासिक या स्वकल्पित कथावस्तु पर आश्रित होता है, इसमें वृत्ति केवल भारती होती है और रस करुण। विष्णुधर्मोत्तरपुराण में एक दूसरा पक्ष भी प्राप्त होता है जिसमें चार अंक तथा दिव्य योनि का कोई प्राणी नायक माना गया है तथा कथा एक दिन की ऐतिहासिक होती है। ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी के अनुसार यह पक्ष कदाचित् पहली बार प्राप्त है।
- यहाँ भाण, समवकार, ईहामृग, व्यायोग, वीथी, डिम तथा प्रहसन का भी विवेचन है।
- नाट्यप्रयोग का आरम्भ, भाषा का नियम, संज्ञा शब्द, शर्मा, वर्मा और धन से युक्त नाम पर भी ध्यान दिया गया है।
- आभाषण (सम्बोधन) में किसे क्या कह कर पुकारा जाय यह भी निश्चित किया गया है।
- सन्धियों के नाम बतलाये गये हैं।
- नायक के गुणों में शौर्य औदार्य आदि को न छोड़ने का भी निर्देश दिया गया है।
- शौर्य औदार्य आदि को छोड़ सकता है तो केवल प्रतिनायक।
- विष्णुधर्मोत्तरपुराण में छोड़ने की बात 'राजन् यजेत्' शब्दों में छापी गयी है। यजेत् को त्यजेत् ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी ने बना दिया है।
- विमर्श सन्धि को विष्णुधर्मोत्तरपुराण में विसर्ग सन्धि लिखा गया है। उसमें स्पष्टीकरण के लिए आपने विसर्ग के बाद (विमर्श) ऐसा शब्द दे दिया है।
- ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी ने नायिकाओं के आठ भेदों में से अभिसारिका नामक अष्टम भेद जो छूट गया था का भी कारिका द्वारा निरूपण कर दिया है।

इस प्रकार विष्णुधर्मोत्तरपुराण में साहित्यशास्त्र के विविध पक्षों का अनेक विशेषताओं के साथ महत्त्वपूर्ण प्रतिपादन प्राप्त होता है।

7. अलं ब्रह्म -

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी का ग्रन्थ "अलं ब्रह्म" सन् 2005 में कालिदास संस्थानम्, वाराणसी से प्रकाशित है। यह आपके नितान्त मौलिक चिन्तन का परिचायक है। यह वस्तुतः आपके निबन्धों का संग्रह है। 'अलं ब्रह्म' ग्रन्थ के काव्यखण्ड में निम्नलिखित विषयों पर कुल बाइस निबन्ध प्रकाशित हैं -

- काव्यलक्षण पर तीन
- शब्द पर एक
- साहित्य पर दो
- रस के विषय में चार
- ध्वनि के विषय में तीन
- व्यंजना के विषय में एक
- लक्षणा के विषय में एक
- काव्यशास्त्रों की आलोचना पर दो
- अलङ्कार के विषय में चार
- भारतीय व्याख्या पद्धति के विषय में एक में निबन्ध है।

इस ग्रन्थ के नाट्यखण्ड में निम्नलिखित पाँच विषयों पर एक एक निबन्ध प्रकाशित हैं -

- भरत के नाट्यशास्त्र की सम्पादन विधि
- कालिदास
- अवस्था तथा अर्थप्रकृति
- नाट्यप्रयोग में कुतपविधान
- संस्कृत काव्यशास्त्र में ब्रह्मविद्या

इस प्रकार काव्यखण्ड में अत्यन्त सारगर्भित 22 तथा नाट्यखण्ड में 5 निबन्ध मिलाकर कुल सत्ताईस निबन्ध हैं। इसके प्रथम निबन्ध में ही प्रकाशित है काव्यशास्त्र के क्षेत्र में बीसवीं शताब्दी का साहित्यशास्त्र का महावाक्य माना जाने वाला वचन 'अलं ब्रह्म'। इसका प्रतिपादन आपके प्रायः प्रत्येक काव्यशास्त्रीय व्याख्यानों में होता रहा है किन्तु इस विषय पर स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना करना अपेक्षित था अतः आपने इससे सम्बद्ध प्रतिपाद्य का विस्तार करके 'अलं ब्रह्म' नामक निबन्ध-संग्रह तैयार किया है।

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी ने 'अलं' पद के अनेक अर्थों पर विचार किया है -

- सामान्य रूप से 'अलं' शब्द एक अव्यय पद है - अमरकोष में अलं पद को भूषण, पर्याप्ति, शक्ति, वारण (निषेध) इन अर्थों में प्रयुक्त बताया गया है –
- 'अलं' भूषणपर्याप्ति-शक्तिवारणवाचकम्।[144]
- विश्वकोष में अलं पद पूर्वोक्त भूषण, पर्याप्ति, शक्ति तथा वारण (निषेध) अर्थों के साथ-साथ निरर्थक के रूप में भी कथित है -

  अलं भूषणपर्याप्तिवारणेषु निरर्थके।
  अलं शक्तौ च निर्दिष्टम्।[145]

- अलं शब्द ब्रह्म का भी वाचक है ऐसा अग्निपुराण के वचन से ज्ञात होता है। अग्निपुराण का पद्य इस प्रकार है -

  अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमलं विभुम्।
  वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यज्योतिरीश्वरम्॥[146]

  ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी को अग्निपुराण के इस पद्य का यह पाठ (जिसमें अलं पद छपा है) आचार्य विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' के निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई से 1936 ईस्वी में प्रकाशित संस्करण के परिशिष्ट में छपे 'अग्निपुराण' के मूल पाठ से प्राप्त हुआ। चूँकि निर्णयसागर प्रेस के संस्करण की विश्व-सनीयता सभी विद्वान् पूर्णतया स्वीकार करते हैं, इसलिए यह पाठ पूर्णरूप से प्रामाणिक पाठ माना जा सकता है। सम्प्रति प्रकाशित अग्निपुराण के सभी संस्करणों में 'अलम्' के स्थान में 'अजम्' पाठ प्रकाशित है जिसका उल्लेख ब्रह्मर्षि आचार्य ने अपने निबन्ध में पूर्ण सत्यता से किया है।
- ताण्ड्य ब्राह्मण में अलम् शब्द का प्रयोग 'अलम्मः' शब्द के निर्वचन में आया है जो इस प्रकार है- तम् (ऋषयः) अब्रुवन् को न्वयं कस्मा अलम् इत्यलन्नु वै मह्यमिति (सामाब्रवीत्) तदलम्मस्यालम्मत्वम्।[147]
  इस वैदिक वचन में प्रयुक्त अलं शब्द पर्याप्ति अर्थ में प्रयुक्त है, क्योंकि कस्मै अलम्, मह्यम् अलम् इन दोनों स्थलों में चतुर्थी विभक्ति है जो अलम् के योग में होती है और वहाँ अलम् शब्द पर्याप्ति अर्थ में ही गृहीत है। यदि कौमुदी ग्रन्थ के अनुसार 'अलम्' शब्द को पर्याप्ति अर्थ का वाचक माना जाय तो यह 'प्रभु' अर्थात् परमात्मा का वाचक भी माना जा सकता

144 अमर., 3.4.252
145 अमर.रामा.
146 अग्नि., 339.1
147 ताण्ड्य., 13/10/8

है। फलतः यहाँ पर प्रयुक्त अलम् शब्द भी अग्निपुराण के अलं के समान परब्रह्म का वाचक माना जा सकता है।

अलं ब्रह्म निबन्ध के प्रारम्भ में ही ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी ने सभी विदित दर्शन सम्प्रदायों में प्रचलित 'अहं ब्रह्म' इस महावाक्य के समान साहित्यशास्त्र में 'अलम् ब्रह्म' इस महावाक्य का अवतरण दिया है जिसमें जहाँ आपने 'अलं' शब्द से अकार से लेकर हकार पर्यन्त सम्पूर्ण वर्ण राशि का ग्रहण करके साहित्यशास्त्र में अभिनव शब्द ब्रह्म की अवधारणा की है, वहीं माहेश्वर सूत्रों में सम्पूर्ण वर्णसमाम्नाय अल् प्रत्याहार, अइउण् सूत्र के अ से लेकर हल् सूत्र के ल् पर्यन्त गृहीत होता है। इससे सम्पूर्ण वर्ण राशि का ग्रहण कर शब्द ब्रह्म के वाचक अहम् और अलम् को परस्पर पर्याय के रूप में सिद्ध करने का सफल प्रयास किया है।

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी ने भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से भी अलं पद की सिद्धि करते हुए लिखा है - अस्य हि निष्पत्तिर्वैदिकाद् 'अरम्' पदादुत्प्रेक्षामहे। अरम् इति अव्ययपदं संहितास्विवारण्यकेषु सुलभमेव। तस्यैवास्य विकासः 'अलम्' इति भाषाविज्ञानवित्सु विदित एव पन्थाः। अस्य स एवार्थो यो हि 'अरम्' इत्यस्य। पर्याप्तिरेवान्यतमोऽर्थः।

अलम् शब्द व्याकरणशास्त्र के अनुसार भ्वादिगण में पठित 'अल-पर्याप्ति-भूषण-वारणेषु' धातु के 'अलति = समर्थो भवति, भूषयति, वारयति इति अलम्' इस विग्रह में औणादिक 'अम्' प्रत्यय का बाहुलकात् विधान करने पर तथा उसकी 'कृन्मेजन्तः' सूत्र से अव्यय संज्ञा करने पर निष्पन्न होता है। यद्यपि उणादि प्रकरण में 'अम्' प्रत्यय का विधान करने वाला सूत्र नहीं है जिसका उल्लेख रामाश्रमी टीकाकार ने किया है तथापि 'उणादयो बहुलम्' सूत्र के द्वारा बाहुलकात् अल् धातु अम प्रत्यय का विधान करके अम में म घटक अनुनासिक अकार का लोप करने पर 'अलम्' शब्द सिद्ध होता है।

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तवादियों में अलङ्कारवादी परम्परा के संवाहक आचार्य हैं। आप ध्वनि सिद्धान्त का पूर्णतया निराकरण करके महिमभट्ट के सिद्धान्त के अनुसार अलङ्कारवाद के पोषक हैं। अलं ब्रह्म ग्रन्थ में आप लिखते हैं -

यो हि साम्राज्यसिंहासनात् प्रच्यावितस्तस्य कीदृशो न्वधःपातोऽसुलभः। सैवेयं कथा अलङ्कारपरिभाषायाः कटककुण्डलादितुल्यतां प्रापित एव प्रमुखतमं रसरूपमर्थं सर्वथैव परित्यज्य। आग्रहग्राहिलास्तिष्ठन्त्यत्र ध्वनिमार्गिणः। अलङ्कारत्वं रसत्वं चान्धकारप्रकाशयोरिव विप्रतिषिद्धमेव सर्वथेति॥

ब्रह्मर्षि आचार्य साहित्यशास्त्र का प्राचीन नाम अलङ्कारशास्त्र मानते हैं। आप

अलङ्कार शब्द को 'अलम्' का पर्याय भी मानते हैं - ननु ब्रूमः अलमित्येवालङ्कार आगतमेवं ब्रह्मार्थकत्वमेवाल-शब्दस्य।

अलङ्कार शब्द यदि ब्रह्म अर्थ का वाचक है तो अकार से अ के ग्रहण के समान अलङ्कार शब्द से अलं का ग्रहण किया जाय तो यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यह कार शब्द किस प्रकार का है? क्या यह 'कार' स्वार्थिक प्रत्यय है अथवा कृ धातु से घञ् प्रत्यय का विधान करके निष्पन्न 'कारः' शब्द। 'कार' इस स्वार्थिक प्रत्यय का विधान वर्णात्कारः इस वार्तिक से होता है। जो वर्ण के निर्देश अर्थ में विहित होने से उस वर्णमात्र का बोध कराता है। 'कार' प्रत्यय का वर्ण का निर्देश करने के अलावा अन्य कोई अर्थ नहीं होता। प्रयोग में एवकार में एव शब्द मात्र का बोध कराने में, वषट्कार में वषट् शब्द मात्र का बोध कराने में जैसे एवकार व वषट्कार शब्द हैं उसी प्रकार ओम् मात्र के बोध में 'ओङ्कार'। इस प्रकार कार शब्द का प्रयोग प्राचीन शास्त्रों में हुआ देखा जाता है। व्याकरणशास्त्र का सिद्धान्त है - प्रयुक्तानामन्वाख्यानं नाप्रयुक्तानाम्। अतः एव, वषट्, ओम् में वर्णत्व का आरोप करके 'कार' इस प्रत्यय का विधान जैसे माना जा सकता है वैसे ही 'अलम्' शब्द में भी वर्णत्व का आरोप करके 'कार' प्रत्यय मान सकते हैं। लघुशब्देन्दुशेखर के 'कारप्रत्ययोऽपि न, बाहुलकात्' इस ग्रन्थ के विवेचन में लघुशब्देन्दुशेखर की अभिवनचन्द्रिका टीका के लेखक आचार्य विश्वनाथ दण्डिभट्ट ने इस विषय पर लिखा है -

न 'चाल्लोपोऽनः' इति सूत्रोदाहृतोऽन्कारः अस्कारः इत्यादौ कारप्रत्ययानुपपत्तिरिति वाच्यम् अनिनस्मनग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन इति परिभाषया अनादिषु वर्णबोधकत्वातिदेशात्। अन्ये तु 'एवकार' 'वषट्कार' इत्यादाविव कारप्रत्ययादन्य एव कश्चित्कार शब्दः तेन समास इत्याहुः।[148]

'अन्ये तु' शब्द के द्वारा प्रतिपादित तर्क के आधार पर एवकार, वषट्कार, ओम्कार शब्द प्रयोग के द्वारा 'एव, वषट्, ओम्' का बोध कैसे करेंगे। यदि 'कार' शब्द से समास करते हैं और 'कार' शब्द को भाव घञन्त मानते हैं तो एवक्रिया, वषट्क्रिया, ओम्क्रिया अर्थ होगा, क्योंकि भाव शब्द क्रिया का वाचक है। इसी प्रकार 'कर्मणि करणे वा घञ्' के अनुसार कर्म अथवा करण अर्थ में घञ् प्रत्यय का विधान मानने पर भी अभिलषित अर्थ की प्राप्ति नहीं दिखाई देती। अतः प्रश्न उठता है कि उपाय से एवकार, वषट्कार, ओम्कार शब्द 'एव, वषट् और ओम् मात्र के बोधक होंगे। इस विषय में 'प्रयोग एव शरणम्' इस मार्ग का आलम्बन करना पड़ेगा। महाभाष्यकार ने परस्पशाह्निक में लिखा है -

148 लघुश., पृ.14

'अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते। तद्यथा शब्दं कुरु मा शब्दं कार्षीः शब्दकार्ययं माणवक इति' (महाभाष्य परस्पशाह्निक)। इस प्रकार कृ धातु 'धातूनामनेकार्थकत्वात्' इस सिद्धान्तानुसार उच्चारणार्थक और ज्ञानार्थक भी माना जा सकता है। परिणामस्वरूप - 'एव, वषट्, ओम्, अलम् इति वा क्रियते = ज्ञायते गृह्यते वा अनेन असौ एवकारः, वषट्कारः, ओम्कारः, अलङ्कारः' इस प्रकार करण अर्थ में कृ धातु से घञ् प्रत्यय करने पर एवकार शब्द एव का, वषट्कार शब्द वषट् का, ओम्कार शब्द ओम् का तथा अलङ्कार शब्द ब्रह्मर्षि आचार्य रेवा प्रसाद द्विवेदी अभिप्रेत अलम् शब्द का बोधक बन सकता है। इस व्युत्पत्ति से अलङ्कार शब्द आपके द्वारा स्थापित 'अलं ब्रह्म' इस महावाक्य के अनुसार 'ब्रह्म' का बोधक बन सकता है।

प्रश्न यह उठता है कि कोष में धातुलभ्य अर्थ में कहीं भी अलं शब्द आपके द्वारा निर्दिष्ट अग्निपुराण में उसमें भी केवल उद्धृत परिशिष्ट में, जो साहित्यदर्पण का है, न कि मूल ग्रन्थ में, अलं शब्द कहीं भी ब्रह्म अर्थ के प्रतिपादक के रूप में दृष्ट नहीं है। सम्प्रति उपलब्ध अग्निपुराण के सभी संस्करणों में 'अजम्' पाठ ही मिलता है। तो उसकी ब्रह्मपरकता कैसे बन सकती है? "संस्कृत साहित्य के वटवृक्ष सनातवकवि महामहोपाध्याय रेवाप्रसाद द्विवेदी"45 ग्रन्थ में प्रकाशित निबन्ध 'साहित्यशास्त्र का महावाक्य : अलं ब्रह्म' में प्रोफेसर, भगवत् शरण शुक्ल, व्याकरण विभाग, संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ने इस प्रश्न के तीन समाधान प्रस्तुत किये हैं -

प्रथम समाधान है धात्वर्थ के द्वारा - अलति पर्याप्तः समर्थो भवति सर्वकर्म-विधाने यत् तत् अलम् = ब्रह्म बाहुलकात् अम प्रत्ययः।

अव धातु पर्याप्त अर्थ का वाचक है। अतः अवति का अर्थ होगा समर्थ है पर्याप्त रूप से सभी प्रकार के कर्मों को सम्पन्न करने में जो वह अलम् अर्थात् ब्रह्म है।

द्वितीय समाधान है - अल् इति अखिलवर्णसमाम्नायः अत्यते तत्त्वतया सम्यग् ज्ञायते अनेन तत् इति अलम् ब्रह्म।

इसी प्रकार अल् इस सम्पूर्ण वर्णसमुदाय के वाचक प्रत्याहार से विचार करने पर अत्यते अर्थात् तत्त्वपूर्वक अच्छी प्रकार से समग्र रूप से जाना जाता है जो वह है अलम् अर्थात् ब्रह्म।

अल् पूर्वक 'अत् सातत्यगमने', जो गमनार्थक होने से ज्ञानार्थक भी है, से

'अन्येष्वपि दृश्यते'[149] इस सूत्र से ड प्रत्यय का विधान और अनुबन्ध लोप करने पर अल्+अत्+अ इस अवस्था में डित्त्वसामर्थ्यत् टि 'अत्' भाग का लोप होने पर सिद्ध 'अल' शब्द ब्रह्म का वाचक हो सकता है। यद्यपि 'अन्येष्वपि दृश्यते' यह सूत्र केवल जन् धातु से ही ड प्रत्यय करता है तथापि कौमुदीकार के अनुसार सूत्रस्थ अपि शब्द के बल से अन्य धातु से भी ड प्रत्यय होता है वैसे ही जैसे 'परितः खाता' इति 'परिखा' यहाँ पर परि पूर्वक खन् धातु में ड प्रत्यय करने पर परिखा शब्द निष्पन्न होता है। ऐसी स्थिति में फिर यहाँ पर भी 'अल्' धातु से ड प्रत्यय का विधान होगा और अल शब्द की निष्पत्ति होगी।

तीसरा समाधान है - अ इति वासुदेवः विष्णुः यथा - अकारो विष्णुरुद्दिष्ट उकारस्तु महेष्वरः, अं विष्णुस्वरूपं जगत् परिपालनाय लाति आददाति स्वस्मै तत् अलम् ब्रह्म। यतो हि परब्रह्म एव जगत्परिपालनाय विष्णुस्वरूपं, सृष्टिरचनायै ब्रह्मणः प्रजापतेः स्वरूपं संहाराय च शिवस्वरूपमादधाति।

अ वर्ण वासुदेव या विष्णु का वाचक है। कहा भी गया है अकार विष्णुस्वरूप है और मकार महेश्वर। अं का अर्थ है विष्णु स्वरूप संसार का परिपालन करने के लिए अपने अन्दर परिपूर्णता का आधान करने वाले हैं अलम् अर्थात् ब्रह्म के रूप में विष्णु, क्योंकि मान्यता है कि परब्रह्म ही जगत् का परिपालन करने के लिए विष्णु का स्वरूप, सृष्टि की रचना करने के लिए ब्रह्म का स्वरूप और सृष्टि का संहार (स्वयं में संहरण) करने के लिए शिव का स्वरूप धारण करते हैं। विष्णु पुराण में इसका उल्लेख इस प्रकार है -

नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः॥
रुद्ररूपाय कल्पान्ते नमस्तुभ्यं त्रिमूर्तये॥[150]
सृजत्येष जगत् सृष्टौ स्थितौ पाति सनातनः।
हन्ति चैवान्तकत्वेन रजः सत्वादिसंश्रयः॥[151]

अर्थात् गो तथा ब्रह्मविद्या के उपासक ब्राह्मणों के हित-साधन में निरन्तर समर्पित ब्राह्मणहित चिन्तक देव को प्रणाम अर्पित है। वे ही जगत् का हित करने के लिए कृष्ण या गोविन्द का रूप धारण कर लेते हैं। वे ही रुद्र के रूप में समस्त कल्पों के अन्त में उपस्थित होते हैं। ऐसे त्रिमूर्ति परब्रह्म को हमारा प्रणाम अर्पित है।

[149] 3/2/101
[150] 1.12.65,66
[151] 1.22.22

सनातन परब्रह्म सृष्टि की रचना करते हैं, उसकी रक्षा करते हैं और अन्त में यमराज के समान उसका विनाश करते हैं। ऐसे सत्व, रजस् तथा तमोगुण के आश्रय से सृष्टि की रचना, परिपालन तथा संहार में क्रमशः संलग्न परब्रह्म को प्रणाम है।

इस प्रकार 'अ' शब्द विष्णु अर्थ का वाचक है और 'अ' कर्मपूर्वक 'ला आदाने' धातु से 'आतोऽनुपसर्गे कः' [152] इस सूत्र से 'क' प्रत्यय करने पर सिद्ध 'अलम्' (नपुंसकलिङ्ग में) यह शब्द परब्रह्म का वाचक होता है। 'अलम्' शब्द इन उपर्युक्त व्युत्पत्तियों से परब्रह्म का वाचक माना जा सकता है।

यद्यपि इन तीनों व्युत्पत्तियों से सिद्ध 'अलम्' शब्द नपुंसकलिङ् में है, ब्रह्म-वाचक होने के कारण, तो फिर अलङ्कार शब्द का स्वरूप ब्रह्मपरक कैसे होगा? यह भी विचारणीय है। इसमें शब्दशास्त्र ही कुछ चमत्कार प्रकट करेगा। 'अलं ब्रह्मत्वेन आत्मत्वेन वा कार्यते स्थाप्यते स्वप्रेरणया काव्ये अनेन सः अलङ्कारः। अलं+कारि+घञ् - अलङ्कारः।' यहाँ पर 'अल' धातु से औणादिक 'अम्' प्रत्ययान्त 'अलम्' अव्यय पद ही गृहीत होगा न कि पूर्वव्युत्पन्न नपुंसकलिङ्ग 'अलं' शब्द। इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि यथा 'अलं' शब्द 'ब्रह्म' का वाचक है तथैव अलङ्कार शब्द भी परब्रह्म का वाचक हो सकता है।

इसप्रकार ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी ने 358 पृष्ठात्मक इस ग्रन्थरत्न का निर्माण करने के पूर्व मङ्गल का उपक्रम करते हुए 'अलम् ब्रह्म' इस सिद्धान्त की स्थापना की, साथ ही अन्य निबन्धों में भी इसका उपपादन किया तथा ग्रन्थ के अन्त में 'संस्कृतकाव्यशास्त्रं ब्रह्मविद्या' इस निबन्ध के माध्यम से ब्रह्म अर्थ के वाचक के रूप में 'अलम् ब्रह्म' की प्रबल प्रतिष्ठा करते हुए 'तस्मादानन्दं ब्रह्म विजानीहि' इस तैत्तिरीयोपनिषद47 में उक्त वचन से आनन्द-ब्रह्मवाद के संवाहक के रूप में काव्यशास्त्र को मानकर इस ग्रन्थ का उपसंहार किया है। यह उच्चैःस्वरेण उद्घोषित किया जा सकता है कि 'अलम् ब्रह्म' ग्रन्थ ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी की 'द्विवेदी युग' की प्रतिष्ठापना में प्रबल स्तम्भ सिद्ध होता है। निश्चय ही प्रत्येक संस्कृतज्ञ के लिए यह ग्रन्थ सर्वथा उपादेय है।

8. संस्कृत काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास -

ब्रह्मर्षि आचार्य द्विवेदी ने साहित्यशारीरकम् ग्रन्थ में उपस्थापित संस्कृत साहित्यशास्त्रियों के नितान्त मौलिक विभाजन को पुष्ट एवं स्पष्ट करते हुए विस्तृत

[152] अष्टा., 3/2/3

विवेचन पूर्वक हिन्दी भाषा में सन् 2007 में प्रकाशित "संस्कृत काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास" नामक समीक्षा ग्रन्थ कालिदास संस्थानम् वाराणसी से प्रकाशित करवाया है। इसमें संस्कृतकाव्यशास्त्र के इतिहास को पाँच कल्पों, चार धामों तथा तीन सहस्राब्दियों में विभक्त करके नवीनतम रूप में उपस्थापित किया गया है। इस अत्यन्त विस्तृत एवं प्रौढ ग्रन्थ के समग्र प्रतिपाद्य को ग्रन्थकर्ता विद्वान् ने संक्षेप में निम्नलिखितरूप से प्रस्तुत किया है -

संस्कृतकाव्यशास्त्र के सिद्धान्त/कल्प/सम्प्रदाय, धाम, सहस्राब्दियाँ, आचार्य

A सिद्धान्त/कल्प/सम्प्रदाय

1 पूर्णताकल्प : दोषाभाव
2 गुणकल्प : काव्यत्वोन्मेष रीतिसंप्रदाय : गुणतत्त्व
3-4 अलन्त्वकल्प काव्यधर्मसामान्य : काव्यत्व का विकास

- अस्फुट अलंत्व : लक्षणतत्त्व
- स्फुट अलंत्व वक्रोक्ति/उपमादिविच्छित्ति अर्थात्
  - ध्वनि
  - वक्रोक्ति
  - औचित्य
  - रसध्वनि
  - अलंब्रह्म
  - साहित्य

काव्य में ये सभी तत्त्व एक साथ उदित मिलते हैं। क्रम केवल नामकरण में है। रस > सौन्दर्य > चमत्कार > आनन्द ही है काव्य, नाट्य और कलामात्र का उपेय।

5 साहित्यकल्प

B धाम

1. कांचीधाम-कांची - भरत, दण्डी
2. शारदाधाम-कश्मीर - भामह, वामन, आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्त, क्षेमेन्द्र, कुन्तक, महिमभट्ट, मम्मट

3. महाकालेश्वरधाम-धारानगरी - धनंजय, धनिक, भोजराज
4. विश्वेश्वरधाम-काशी-अप्पय दीक्षित, मधुसूदन सरस्वती, पण्डितराज जगन्नाथ, करपात्री जी, सनातन।

C सहस्राब्दियाँ

- प्रथम सहस्राब्दी - भरतमुनि-भामह
- द्वितीय सहस्राब्दी - वामन-अच्युतराय
- तृतीय सहस्राब्दी - विश्वेश्वर पण्डित से आरम्भ।
- अब चतुर्थ शताब्दी

ब्रह्मर्षि आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी ने संस्कृत काव्यशास्त्र की वर्तमान उपलब्धियों को विश्वेश्वर पण्डित के समय अर्थात् 1700ई. से 1750ई. के बाद की चतुर्थ शताब्दी के अन्तर्गत परिगणित किया है।

संस्कृत काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास इस समीक्षा ग्रन्थ में संस्कृत काव्यशास्त्र के 300 ई0पू0 से 2005 ई0 सन् तक के व्यापक इतिहास को प्रस्तुत करते हुए महामहोपाध्याय ब्रह्मर्षि रेवाप्रसाद द्विवेदी की नवीन उद्भावनाएँ प्रत्येक विवेचन में परिलक्षित होती हैं। आचार्य द्विवेदी ने साहित्यशास्त्र/अलंकारशास्त्र को प्रामाणिकता प्रदान करते हुए 'अग्निपुराण' के अहमागम को इस प्रकार उपस्थापित किया है -

नाट्यागम महर्षि पाणिनि के समय ई.पू. 400 में भी प्रचलित थे। महर्षि पाणिनि भरतमुनि से कुछ ही पहले के माने गये हैं। नटसूत्रों का उल्लेख महर्षि पाणिनि ने भी किया है। नटसूत्र बनाने वाले कोई महर्षि 'शिलालि' थे, उनके द्वारा बनाए गये सूत्रों का अध्ययन करने वले शिष्य 'शैलालिन' नट कहलाते थे, किन्तु इन सूत्रों में किसी नटागम का उल्लेख नहीं मिलता। आगम की चर्चा भरतमुनि ने भी की है, किन्तु उनका नाम भरतमुनि ने भी नहीं लिया।

नटागम का नाम कदाचित् पहली बार 'अग्निपुराण' में आया है। अग्निपुराण के 382वें अध्याय में सभी विधाओं आगमों का नामोल्लेख है, इन्हीं में एक ऐसा आगम है जिसकी संज्ञा है 'अहङ्कार'। यह अहङ्कार शब्द काव्य और नाट्य के रूप में गृहीत माना जा सकता है। इस आगम को अहंकारागम मानना असहज नहीं, क्योंकि काव्य एवं नाट्य के केवल 'अहं; तत्व का निरूपण मिलता है। 'अहङ्कार' शब्द में लगा 'कार' उसी प्रकार 'अहं' मात्र का प्रत्यायक है, जिस प्रकार 'ओङ्कार' शब्द में केवल ओम् का। ओङ्कार शब्द की निरुक्ति है 'ओमित्येवौङ्कारः', इसी प्रकार

अहङ्कार शब्द की निरुक्ति है 'अहमित्येवाहङ्कारः'। इस प्रकार नाट्य और काव्य के आगम की संज्ञा 'अहमागम' मानी जा सकती है। इसमें कोई कठिन कल्पना नहीं कि काव्य और नाट्य व्यक्ति के 'अहं' की विविध छवियों के आलेखन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

इसी 'अहमागम' को 'अहङ्काराम्नाय' भी कहा जा सकता है और 'अहङ्कारागम' भी। दूसरे शब्दों में इसे 'आत्मागम' या आत्माम्नाय' भी कह सकते हैं। इसी प्रकार अलङ्कार शब्द की परिभाषा है। इसमें भी 'अलम्' ही अलंकार है। इससे यह स्पष्ट होता है कि 'अलंकार' का अर्थ है 'अलम्'। उपर्युक्त परिभाषाओं से 'अहमागम' की स्थिति स्वतः स्पष्ट हो जाती हैं। 'अग्निपुराण' में भी 'अहङ्कारागम' की प्राप्ति होती है। वस्तुतः अलं का अर्थ है 'ब्रह्म' -

अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमलं विभुम्।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम् ॥1॥[153]

यहाँ अलं के स्थान पर अजं पाठ भी प्राप्त होता है, किन्तु निर्णयसागर प्रेस बम्बई में सन् 1936 में छपे साहित्यदर्पण के परिशिष्ट में 'अलं' पाठ ही मुद्रित है। सर्वथा चमत्कार, रस और आनन्द यदि ब्रह्मपरक शब्द हैं तो 'अलं' भी ब्रह्मपरक ही है। सम्पूर्ण पृथ्वी में आत्मा या जीवित का निरूपण कला और साहित्य में इन्हीं परिभाषाओं में मिलता है। निश्चित है कि भारत भूमि 'अलं' शब्द को ब्रह्मपीठिका पर ही प्रतिष्ठित देखती रही है। इस 'अहमागम' को ही आचार्य द्विवेदी जी ने अपने उपोद्घात में अहङ्कारागम कहा है -

काव्यशास्त्र का वास्तविक नाम है 'अलङ्कारशास्त्र', अलं प्रसिद्ध वैदिक पद 'अर' से विकसित है और अग्निपुराण के 'अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमलं विभुम् वेदान्तेषु वदन्ति' [154] इस वचन के अनुसार इस (अलम्) का अर्थ है परब्रह्म। इसमें लगा कार वैसे ही स्वार्थिक प्रत्यय है जैसे ओंकार या अहंकार में। अब अलंकारशास्त्र का अर्थ हुआ 'अलंशास्त्र' अर्थात् 'ब्रह्मविद्या' वह शास्त्र जो सम्बन्धित हो ब्रह्म से। ब्रह्म की एक कला है आनन्द। काव्य तभी काव्य माना जाता है जब उससे प्राप्ति हो आनन्द की। आनन्द ही कहा जाता है चमत्कार। आनन्द और कुछ नहीं होता ब्रह्म को छोड़कर।

"आभूषण भी आनन्द के स्रोत शोभा या सौन्दर्य में उछाल लाकर ही अलंकार बनते हैं। फलतः लोकचेतना ई.पू. 400 वर्षों से भारत धरा पर भूषण

[153] अग्नि., 339/1-4
[154] अग्नि., 339/1

अर्थात् 'कटक कुण्डल' आदि के अर्थ में इस महत्तम परिभाषा अलंकार की सीमित करती दिखाई देती रही है। साहित्य में श्रुति भी आती है। हमारे आचार्य साहित्य-शास्त्र के क्षेत्र में ई.पू. 400 से ही साहित्य के दार्शनिक धरातल पर श्रुतियों को छोड़कर चलते हैं, जहाँ से अग्निपुराण में 'अलं ब्रह्म' का अभिप्राय आता है वहीं एक परिभाषा है 'अरं' शब्द की। उसी का विकास है 'अलं'। दोनों का अर्थ है एक और अभिन्न। नाट्य और काव्य से सम्बन्धित शास्त्रों का आगम अहंकार विद्या के विचार का ही आगम होगा, इसी कारण 'अग्निपुराण' में ही भोज के 'शृङ्गारैकरस' वाद का आरम्भ मिलता है।"

शास्त्रों को प्रामाणिक तब माना जाता है जब उनका मूल आगम हो। अलङ्कारशास्त्र का भी आगम है। अतः आगम ही अहमागम ठहरता है। साहित्य में कुल मिलाकर अहं तत्व का ही तो उपस्थापन होता है जिसमें भाव भी जुड़े रहते हैं।

काव्य और कला के सन्दर्भ में ब्रह्म है प्रमाता का प्रत्यक्चैतन्य या आत्मा, जो आनन्दमय है। ऐसा इसलिए कि काव्य केवल जीवित व्यक्ति का ही विषय होता है। अर्थात् काव्य के प्रत्येक धर्म प्रमाता को उसके प्रत्यक् (छिपे चैतन्य या आनन्द ब्रह्म) तक पहुँचाता ही है। इसी कारण सम्पूर्ण काव्यशास्त्र में अलंकार-संज्ञा एक महासंज्ञा रही है, जिसमें रस भी गिना जाता रहा है और उपमा, रूपक आदि विच्छित्तियाँ भी, माधुर्य आदि गुण भी और वृत्तियाँ तथा रीतियाँ भी। इक्षुरस आदि के समान विभावादि रसनीय सामग्री को भी भरतमुनि से लेकर आचार्य मम्मट आदि तक सभी आचार्यों ने रस कहा है। उस रूप में रस को भी अहंकार मानना तर्कसंगत है।

आचार्य द्विवेदी जी ने अग्निपुराण को कालातीत मानते हुए काव्यशास्त्रियों के कालविभाग से पूर्व इसे उपस्थापित किया है। इस 'अहमागम' के महत्व को संक्षेप में उपस्थापित करने के लिए प्रोफेसर सदाशिव कुमार द्विवेदी मानद सचिव, कालिदास संस्थान, वाराणसी के इस ग्रन्थ के प्रकाशकीय के निम्नलिखित अंश को उद्धृत करना अपेक्षित है -

"यह क्रान्तिकारी उद्घोष इस ग्रन्थ के प्रणेता का ही है कि साहित्यशास्त्र भी ब्रह्मविद्या है, क्योंकि रस और कुछ के साथ आनन्दस्वरूप प्रत्यक्चैतन्य या ब्रह्म भी है। काव्य की आत्मा इस ग्रन्थ में अलंतत्वात्मक अलंकार है जो रस भी होता है। यहाँ हमारी आध्यात्मिक साधना और साहित्य साधना अभिन्न सिद्ध हुई है।"

इस ग्रन्थ में प्राचीन साहित्यशास्त्र और नाट्यशास्त्र की समय के साथ बदली परिस्थितियों में उत्पन्न समस्याओं का समाधान भी दिया गया है और इनसे

संबंधित शास्त्रों में अविच्छिन्नता भी स्थापित की गई है। सर्वसमन्वयी तथा दार्शनिक पुष्ट पीठिका पर स्थापित नए प्रतिमानों पर ऐसे भी पक्ष प्रस्तुत किए गए हैं जो विस्मयकारी हैं और जिनसे काव्यशास्त्र दर्शन की समकक्षता को पा सका है।

इस प्रकार महामहोपाध्याय आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी की ऐसी विलक्षण प्रतिभा है कि जिस भी विषय पर अपनी दृष्टि का प्रयोग करते हैं उसमें लोकोत्तरता स्वतः प्रस्फुटित होने लगती है। इन्होंने व्याकरण, न्याय, मीमांसा आदि शास्त्रों के सिद्धान्तों को आत्मगत करके काव्यशास्त्रों का विलक्षण अध्ययन अपने पूज्य आचार्यों से किया और उनकी व्याख्या करके उसमें न केवल अपनी लोकोत्तर प्रतिभा का प्रकाश प्रकट किया अपितु अनेक नूतन विचारधाराओं को भी स्थापित किया, जिनका विवेचन उपर्युल्लिखित ग्रन्थों के अध्ययन में किया जा चुका है।

'अलम् ब्रह्म' का क्रान्तिकारी उद्घोष करने वाले महामहोपाध्याय ब्रह्मर्षि आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी सनातनकवि कालिदास संस्थानम् वाराणसी-5 के संस्थापक निदेशक रहे तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विषय के आजीवन इमेरिट्स प्रोफेसर के पद को भी सुशोभित करते रहे हैं। आप निःसदेह काव्य, नाट्य एवं साहित्य के क्षेत्र में मौलिक एवं सार्थक चिन्तन के प्रतिनिधि आचार्य हैं तथा द्विवेदी युग के प्रतिष्ठापक हैं।

शब्दसंक्षेप

1. अग्नि. - अग्निपुराण
2. अमर. - अमरकोष
3. अमर.रामा - अमरकोष रामाश्रमी टीका
4. अष्टा. - अष्टाध्यायी
5. क.स. - कलासमाधि
6. काव्या. - काव्यालङ्कारकारिका
7. काव्या.सं - काव्यालङ्कार सङ्ग्रहकारिका
8. ताण्ड्य. - ताण्ड्य ब्राह्मण
9. नाट्य. - नाट्यशास्त्रम्
10. नाट्य.शा. - नाट्यशारीरकम्
11. ना.शा. - नाट्यानुशासनम्
12. रस. - रसभोगः

13. लघुश. - लघुशब्देन्दुशेखर
14. सा.आ. - साहित्यालङ्कार आसनबन्ध
15. सा.शा. - साहित्यशारीरकम्
16. सा. - साहित्यालङ्कार
17. सौ.पं. - सौन्दर्यपंचाशिका

सन्दर्भग्रन्थ

1. Kāvyālankārakārika (Samskrta poetics with new steps, Fresh logical stand on poetic art in Sanskrit), Mahamahopadhyaya Prof. Reva Prasada Dwivedi 'Sanatana', Published by Kalidasa Samsthana Varanasi, Frist Edition 1977, Second Edition 2001.

2. अग्निपुराणम् हिन्दीव्याख्योपेतम् (व्रजजीवन प्राच्यभारती ग्रन्थमाला 106)- व्याख्याकार आचार्य शिवप्रसाद द्विवेदी, निवृत्त प्राचार्य श्रीहनुमत्संस्कृत महाविद्यालय, हनुमानगढ़ी, अयोध्या, प्रकाशक - चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, 38 यू.ए., जवाहर नगर, बंगलो रोड, पो.बा. 2113, दिल्ली-110007, प्रथम संस्करण 2004 ई.।

3. अमरकोषः, हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला-30, नामलिङ्गानुशासनम् (सटिप्पण 'मणिप्रभा' हिन्दीटीकोपेतः)- श्री पं. हरगोविन्दशास्त्री, प्रकाशक- चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, संस्करण - षष्ठम् वि.सं. 1998।

4. अमेरिका (वर्णना-पंचशती संस्कृतकाव्यम्), रचयिता - म.म. रेवाप्रसादो द्विवेदी सनातनः, प्रकाशकं - कालिदाससंस्थानम्, वाराणसी, प्रथम संस्करण - 2008।

5. अयि नीलनदि !, रचयिता - म.म. रेवाप्रसाद द्विवेदी सनातनः, प्रकाशकं - कालिदाससंस्थानम्, वाराणसी, प्रथम संस्करण - 2009।

6. अलं ब्रह्म, रचयिता - आचार्य श्रीरेवाप्रसाद द्विवेदी महामहोपाध्यायः, प्रकाशकं - कालिदाससंस्थानम्, वाराणसी, प्रथम संस्करण - 2005।

7. अहमागमः साहित्यशास्त्रसमुच्चयः (अलङ्कारशास्त्रागमः), सप्तमो भागः, अग्निपुराणागमः काव्यप्रभाटीकासहितः विष्णुधर्मोत्तरपुराणागमः, सम्पादकौ म.म. प्रो. रेवाप्रसादो द्विवेदी, प्रो. सदाशिवकुमारो द्विवेदी, प्रकाशनम् कालिदाससंस्थानम्, वाराणसी, प्रकाशनवर्षम् जनवरी 2017।

8. ईशादि नौ उपनिषद् (ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय और श्वेताश्वतर - उपनिषद्, गोयन्दका हरिकृष्णदास व्याख्याकार, गीताप्रेस गोरखपुर, कोड-66, संस्करण 26, सम्वत् 2063 (सन 2006)।

9. उत्तरसीताचरितम् (उत्तरे सीताचरिते दशसर्गात्मकं महाकाव्यम्), रचयिता - आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी सनातनकविः, प्रकाशकं - कालिदाससंस्थानम्, वाराणसी-5, प्रथम संस्करण - 1990।

10. काव्यालङ्कारकारिका (अभिनवं काव्यशास्त्रम्)
(अ) - रचयिता - महामहोपाध्यायो रेवाप्रसाद-द्विवेदी सनातनः, चैखम्भा-संस्कृतसीरीज, कालिदाससंस्थानम् वाराणसी, प्रथम संस्करण - 1977।
(ब) रचयिता - महामहोपाध्यायो रेवाप्रसाद-द्विवेदी सनातनः, प्रकाशकः- कालिदाससंस्थानम्, वाराणसी, द्वितीय संस्करण - 2001।
(स) प्रणेता आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी, प्रकाशकः- कालिदाससंस्थानम्, वाराणसी, तृतीय संस्करण - 2014।

11. काव्यालङ्कारकारिका (अभिनवं काव्यशास्त्रम्), प्रणेता - आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी 'सनातन', प्रकाशकम् - कालिदाससंस्थानम्, वाराणसी-5, प्रथम संस्करण - 2014।

12. काव्यालंकारकारिका तृतीय संस्करण - रचयिता रेवाप्रसादद्विवेदी 'साहित्याचार्यः' (भूतपूर्वः, साहित्यविभागाध्यक्षः संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकायः), प्रकाशकम् कालिदाससंस्थानम् वाराणसी-5, प्रकाशनवर्षम् - 2014।

13. कुमारविजयमहाकाव्यम्, अनुवादकः डॉ. सदाशिव कुमार द्विवेदी, प्रकाशनम् - कालिदाससंस्थानम् वाराणसी-5, प्रथम संस्करण - 2001।

14. नमोनिर्वाचनम् (मोदीविजयपंचशती), रचयिता - रेवाप्रसादो द्विवेदी 'सनातनकविः', प्रकाशकं - कालिदाससंस्थानम्, वाराणसी, द्वितीय संस्करण - 2015।

15. नाट्यशास्त्र खण्ड-1 काव्यलक्षण खण्ड (अध्याय 1-3, 6, 7, 13-27, 35, 36) - आचार्य भरतमुनि, सम्पादक, अनुवादक, टिप्पणीकार महामहोपाध्याय आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी, प्रकाशक - भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, राष्ट्रपति निवास, शिमला-5, प्रथम संस्करण 2005।

16. नाट्यानुशासनम्, रचयिता - महामहोपाध्याय रेवाप्रसाद द्विवेदी सनातनः, अनुवादकः डॉ. सदाशिव कुमार द्विवेदी, प्रकाशकं - कालिदाससंस्थानम्, वाराणसी, प्रथम संस्करण - 2008।

17. प्रमथः (परमाणुयुगीयानि नव काव्यानि), रचयिता - रेवाप्रसाद-द्विवेदी, प्रकाशनम् - कालिदाससंस्थानम् वाराणसी-5, प्रथम संस्करण - 1988।

18. मतान्तरम् (युगान्तरनान्दी), रचयिता - रेवाप्रसादो द्विवेदी सनातनः, अनुवादकः डॉ. सदाशिव कुमार द्विवेदी, प्रकाशनम् - कालिदाससंस्थानम् वाराणसी-5, प्रथम संस्करण - 2001।

19. महर्षिपाणिनिप्रणीतः अष्टाध्यायीसूत्रपाठः (प्रकरणनिर्देशसमन्वितः),सम्पादिका महामहोपाध्याया प्रोफेसर पुष्पा दीक्षित, ज्ञानभारती पब्लिकेशन्स, दिल्ली, भारत।

20. रामपरिसंख्या, रचयिता - म.म. रेवाप्रसादो द्विवेदी सनातनः, प्रकाशकं - कालिदाससंस्थानम्, वाराणसी-5, प्रथम संस्करण - 2008।

21. शकटारम् (मानवप्रताडनाकाव्यम्), कविः महामहोपाध्यायः काश्यपो द्विवेदी रेवाप्रसादः सनातनः, प्रकाशनम् - कालिदाससंस्थानम् वाराणसी-5, प्रथम संस्करण - 2000।

22. शतपत्रम् (कविताविषयकं संस्कृतपद्यशतकम्), रचयिता - रेवाप्रसाद द्विवेदी 'सनातनः', प्रकाशनम् - कालिदाससंस्थानम्, वाराणसी-5, प्रथम संस्करण - 1987।

23. शरशय्या (सुगतो ब्रवीति, शतकत्रयम्), रचयिता - काश्यपो द्विवेदी रेवाप्रसादः सनातनमहाकविः, प्रकाशकं - कालिदाससंस्थानम्, वाराणसी-5, प्रथम संस्करण - 2002।

24. शृङ्गारप्रकाश (साहित्यप्रकाशः)
(अ) प्रथमो भागः (1-14 प्रकाशाः) - ग्रन्थकृद् भोजराजः, सम्पादकौ- महामहोपाध्यायो रेवाप्रसादो द्विवेदी 'सनातनः', डॉ. सदाशिवकुमारो द्विवेदी, प्रकाशकं इन्दिरागाँधीराष्ट्रीयकलाकेन्द्रम्, नई दिल्ली-110001, प्रथमं संस्करणम् 2007।
(ब) द्वितीयो भागः (15-25, 27-36 प्रकाशाः) - ग्रन्थकृद् भोजराजः, सम्पादकौ - महामहोपाध्यायो रेवाप्रसादो द्विवेदी 'सनातनः', डॉ. सदाशिवकुमारो द्विवेदी, प्रकाशकं इन्दिरागाँधीराष्ट्रीयकलाकेन्द्रम्, नई दिल्ली-110001, प्रथमं संस्करणम् 2007।
(स) संपादयिता म.म. आचार्य-रेवाप्रसाद-द्विवेदी, प्रकाशकम् - कालिदाससंस्थानम्, वाराणसी-5, प्रकाशनवर्षम्- 2013।

25. श्रीमद्भागवत महापुराण (व्रजजीवन प्राच्यभारती ग्रन्थमाला 28)- टीकाकारः श्रीपण्डितरामतेजपाण्डेयः, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, 38 यू.ए., जवाहर नगर, बंगलो रोड, पो.बा. 2113, दिल्ली-110007, पुनर्मुद्रित संस्करण 2009।

26. श्रीरेवाभद्रपीठम् (152 पद्यात्मकः श्रीनर्मदास्तवः), कृतिः महामहोपाध्यायस्य सनातनकवे रेवाप्रसादस्य द्विवेदिनः, अनुवादकृत् डॉ. सदाशिवकुमार द्विवेदी, प्रकाशकृत् - कालिदाससंस्थानम्, वाराणसी-5, प्रथम संस्करण - 1988।

27. सनातनस्य काव्यवैभवम्, प्रधानसम्पादकः प्रो. ए.पी. सच्चिदानन्दः, सम्पादकः - प्रो. सदाशिवकुमारद्विवेदी, कविसपर्याग्रन्थमाला-1, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम् (मानितविश्वविद्यालयः), नवदेहली, प्रथम संस्करणम् - 2013।

28. सप्तर्षिकाङ्गेसम् (दशाङ्कं नाटकम्), लेखकः आचार्यः श्रीरेवाप्रसाद द्विवेदी महामहोपाध्यायः, प्रकाशकं- कालिदाससंस्थानम्, वाराणसी, प्रथम संस्करण - 2000।

29. साहित्यशारीरकम्, ग्रन्थकृद् रेवाप्रसाद द्विवेदी सनातनः, प्रकाशकः सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय, वाराणसी, प्रथम संस्करणम् 500 प्रतिरूपाणि।

30. साहित्यशास्त्रसमुच्चयः चतुर्थे भागे (द्वितीयो ग्रन्थः) दशरूपकावलोकः धनिकाचार्यविरचितः।

31. साहित्यशास्त्रसमुच्चयः चतुर्थे भागे (द्वितीयो ग्रन्थः) दशरूपकम् - मुंजमहीशगोष्ठीरत्न - नाट्याचार्यधनंजयविरचितं, सम्पादकौ - म.म. प्रो. रेवाप्रसादो द्विवेदी, प्रोफेसर इमेरिटस (संस्कृत), प्रो. सदाशिवकुमारो द्विवेदी, संस्कृतविभागः, कलासङ्कायः, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी-5, प्रकाशनवर्षम् - 2019।

32. साहित्यशास्त्रसमुच्चयः (तृतीयो भागः) - काव्यमीमांसा, ग्रन्थकृद् कविराजः राजशेखरः, सम्पादकौ- म.म. प्रो. रेवाप्रसादो द्विवेदी - प्रोफेसर इमेरिटस (संस्कृत), प्रो. सदाशिवकुमारो द्विवेदी- संस्कृतविभागः, कलासङ्कायः, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी-5, प्रकाशनवर्षम् - 2015।

33. साहित्यशास्त्रसमुच्चयः (तृतीयो भागः) - वक्रोक्तिजीवितसहितः काव्यालङ्कारः ग्रन्थकृद् कुन्तकाचार्यः।

34. साहित्यशास्त्रसमुच्चयः (द्वितीयो भागः) -
(अ) लोचनम् ग्रन्थकृद् अभिनवगुप्ताचार्यः।
(ब) नाट्यशास्त्र खण्ड-1 काव्यलक्षण खण्ड (अध्याय 1-3, 6, 7, 13-27, 35, 36) अभिनवभारती।

35. साहित्यशास्त्रसमुच्चयः (द्वितीयो भागः) - ध्वन्यालोकः (अभिनवगुप्ताचार्यलोचनसमेधितः) - ग्रन्थकृद् आनन्दवर्द्धनाचार्यः, परिष्कर्ता म.म. प्रो. रेवाप्रसादो द्विवेदी 'सनातनः', प्रकाशकम् - कालिदाससंस्थानम्, वाराणसी-5, प्रकाशनवर्षम् - 2013।

36. साहित्यशास्त्रसमुच्चयः पंचमे भागे (चतुर्थो ग्रन्थः) अर्थचित्रमीमांसा, कुवलयानन्दः तथा वृत्तिवार्तिकं अप्पयदीक्षितः, सम्पादकौ - म.म. प्रो. रेवाप्रसादो द्विवेदी, प्रोफेसर इमेरिटस (संस्कृत), प्रो. सदाशिवकुमारो द्विवेदी, संस्कृतविभागः, कलासङ्कायः, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी-5, प्रकाशनवर्षम् - 2019।

37. साहित्यशास्त्रसमुच्चयः (पंचमो भागः) - काव्यप्रकाशः एवं शब्दव्यापारविचारः ग्रन्थकृद् राजानकमम्मटभट्टः, सम्पादकौ- म.म. प्रो. रेवाप्रसादो द्विवेदी - प्रोफेसर इमेरिटस (संस्कृत), प्रो. सदाशिवकुमारो द्विवेदी- संस्कृतविभागः, कलासङ्कायः, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी-5, प्रकाशनवर्षम् - 2015।

38. साहित्यशास्त्रसमुच्चयः (प्रथमो भागः) काव्यलक्षणादर्शः, ग्रन्थकृद् आचार्यः दण्डी, सम्पादकाः म.म. प्रो. रेवाप्रसादो द्विवेदी - प्रोफेसर इमेरिटस (संस्कृत), प्रो. सदाशिवकुमारो द्विवेदी - संस्कृतविभागः, कलासङ्कायः, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी-5, डॉ. शोभा मिश्रा - एसोसिएटप्रोफेसर, संस्कृत-विभागः, वी.एस.एस.डी. कॉलेज, कानपुरम्, प्रकाशकम् - कालिदाससंस्थानम्, वाराणसी-5, प्रकाशनवर्षम्- 2014।

39. साहित्यशास्त्रसमुच्चयः (प्रथमो भागः) - काव्यालङ्कारसारः ग्रन्थकृद् आचार्यः उद्भटः

40. साहित्यशास्त्रसमुच्चयः (प्रथमो भागः) - काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिः ग्रन्थकृद् आचार्यः वामनः

41. साहित्यशास्त्रसमुच्चयः (प्रथमो भागः) - काव्यालङ्कारः ग्रन्थकृद् रुद्रटाचार्यः (नमिसाधु की टीकासहित)

42. साहित्यशास्त्रसमुच्चयः (प्रथमो भागः) भामहालङ्कारः ग्रन्थकृद् आचार्यः भामहः - सम्पादकाः म.म. प्रो. रेवाप्रसादो द्विवेदी - प्रोफेसर इमेरिटस (संस्कृत), प्रो. सदाशिवकुमारो द्विवेदी - संस्कृतविभागः, कलासङ्कायः, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी-5, डॉ. शोभा मिश्रा - एसोसिएटप्रोफेसर, संस्कृत-विभागः, वी.एस.एस.डी. कॉलेज, कानपुरम्, प्रकाशकम् - कालिदाससंस्थानम्, वाराणसी-5, प्रकाशनवर्षम्- 2014।

43. साहित्यालङ्कारः, महामहोपाध्याय रेवाप्रसादो द्विवेदी 'सनातनकविः', साहित्यागमः, ध्वनिः (अमान्यः), शब्दशक्तयः (अमान्यः), विकल्पवादः (मान्यः), प्रकाशकं - कालिदाससंस्थानम्, वाराणसी, प्रथम संस्करण - 2015।

44. सौन्दर्यपंचाशिका, रचयिता - म.म. रेवाप्रसादो द्विवेदी प्रोफेसर इमेरिटस (संस्कृत), प्रकाशकं - कालिदाससंस्थानम्, वाराणसी, प्रथम संस्करण - 2015।

45. संस्कृत-काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास, महामहोपाध्याय आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी, प्रकाशकः- कालिदाससंस्थानम्, वाराणसी, प्रथम संस्करण - 2007।

46. संस्कृत साहित्य के वटवृक्ष सनातनकवि महामहोपाध्याय रेवाप्रसाद द्विवेदी, संकलन एवं सम्पादन विजय शंकर शुक्ल, सदाशिव कुमार द्विवेदी, प्रकाशन - इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2018, पृष्ठ 79 से 81।

47. स्वातन्त्र्यसम्भवम् (1-75 सर्गात्मकं महाकाव्यम्), रचयिता - आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी सनातनकविः, प्रकाशकं - कालिदाससंस्थानम्, वाराणसी-5, प्रथम संस्करण - 2001।

वैदेशिकविदुषां संस्कृतविषयकं कर्तृत्वम्

हरिदत्त शर्मा

परमगौरवविषयोऽयं यद् भारतवर्षस्य प्राचीनतमा समृद्धतमा च भाषा संस्कृतभाषा आधुनिककाले समग्रे विश्वपटले प्रसृताऽस्ति। संस्कृतस्य अध्ययनमध्यापनं भारत-नेपाल-जर्मनी-फ्रांस-अमेरिका-कनाडा-इटली-आस्ट्रेलिया-आस्ट्रिया-बेल्जियम-जापान-चीन-थाइलैण्ड-इण्डोनेशिया-कम्बोडिया-मलेशिया पोलैण्ड-हंगरी-लैटिनामेरिका-नीदरलैण्ड्स-इंग्लैण्ड-स्कॉटलैण्ड-फिनलैण्ड-रूस क्रोशिया-रूमानिया-बल्गारिया-स्पेन-स्वीडन-श्रीलङ्का-मारिशस-दक्षिणाफ्रीका-यूगोस्लावियादिदेशेषु प्रवर्तितमस्ति। विभिन्नेषु वैदेशिकेषु विश्वविद्यालयेषु शोधकेन्द्रेषु च संस्कृतविषयकमनुसन्धानकार्यं प्रवर्तमानमस्ति।

पाश्चात्त्यजगति अस्याः प्राच्यभाषायाः प्रसार-सम्बन्धः पुनर्जागरणकालेन योजयितुं शक्यः। अष्टादशशताब्द्याः अन्ते चतुरशीत्यधिकसप्तदशे **(1784)** शततमे ईसवीयवर्षे कलिकातामुख्यन्यायालयस्य प्रधानन्यायाधीशेन सर-विलियम-जोन्सेन **'एशियाटिक सोसायटी'** – संस्था संस्थापिता, यतः प्राच्यविद्याया अध्ययनं, लेखनं, भाषान्तरणं, प्रकाशनञ्च गतिमत्तां प्रापुः। भाषाविज्ञानवेत्ता जोंसः प्रयत्नपूर्वकं संस्कृतभाषाम् अध्यैष्ट, इदम्प्रथमतया च मतमिदं प्रकाशयामास यद् ग्रीक-लैटिन-प्रश्यिन-संस्कृतभाषाणां मूलरूपेण पारस्परिकः कश्चित् सम्बन्धो वरीवर्ति। संस्कृत-ग्रन्थानाम् आङ्ग्लानुवादप्रवर्तनं जातम्।

लन्दनं प्रतिनिवृत्तः विल्किंसः श्रीमद्भगवद्गीताया हितोपदेशस्य चानुवादं चकार, तदनन्तरं स्वयं जोंसः गीतगोविन्दस्य मनुस्मृतेश्च भाषान्तरणं सम्पादयामास। परन्तु जोंसमहोदयेन एकोननवत्युत्तर-सप्तदशशततमे **(1789)** वर्षे यदा महाकवेः कालिदास्य अभिज्ञानशाकुन्तलाभिधस्य सरसमधुरनाटकस्य आङ्ग्लीय अनुवादः प्रस्तुतः, तेन हि योरोपीयसाहित्यसंसारे क्रान्तिरिव जागरिता। तदनन्तरं जार्जफार्स्टर विदुषा अस्य नाटकस्य जर्मनभाषायां भाषान्तरणं कृतम्, यज्जर्मनीदेशस्य लाइप्जिगनगरात् एकनवत्युत्तरसप्तदशसततमे **(1791)** ईसवीयवर्षे प्रकाशितम्। इदमनूदितं रूपं यदा सुप्रतिष्ठितजर्मनकविना गेटेमहोदयेन अनुशीलितम्, तदा तद्हृदयम् आनन्दोल्लसितं जातम्, तेन नाटकमिदं भूयिष्ठं प्रशंसितम्, स्वकीया उद्गारास्तेन स्वकीयस्य **'फाउस्ट'**-नाम्नो नाटकस्य भूमिकायां व्यक्तीकृताः। अभिज्ञानशाकुन्तलस्य तदेव जर्मनभाषिकं संस्करणम् अधुनाऽपि जर्मन्या वाइमारनगरे स्थिते गेटे-सङ्ग्रहालये सुरक्षितं मया स्वयं स्वचक्षुर्भ्यां प्रत्यक्षीकृतम्। अस्मादेव कालात् जर्मनीयेषु अन्येषु च योरोपीयेषु विद्वत्सु संस्कृतं प्रति प्रेम प्रवृद्धम्, नैकैर्भाषावैज्ञानिकैश्च अस्या भाषाया विधिवदध्ययनं कृतम्, येन योरोपीयभाषाभिः सह संस्कृतभाषायास्तुलना जाता, तुलनात्मकं भाषा-विज्ञानञ्च प्रवर्तितम्।

अष्टादशशते ईसवीयवर्षे जर्मनीदेशे संस्कृतविद्यारम्भो जातः। अष्टादशोत्तराष्टादशशततमे **(1818)** ईसवीयवर्षे बॉनविश्वविद्यालये संस्कृतपीठस्य स्थापना जाता, यस्मिन् आगस्ट-विल्हेम-फॉह-श्लेगलमहोदयः प्रतिष्ठितः येन लेटिनभाषायामनूद्य गीतायाः प्रामाणिकं संस्करणं प्रकाशितम्। अस्मिन् कालावधौ जर्मन्या बर्लिननगरे प्रसिद्धस्य भाषाशास्त्रिणो हम्बोल्टस्य नामाश्रित्य **हम्बोल्ट-यूनिवर्सिटी** इति विश्वविद्यालयः, एकविंशत्यधिकाष्टादशशततमे **(1821)** वर्षे संस्थापितः। हम्बोल्टविदुषः प्रयासेन संस्कृताध्यापकरूपेण फ्राञ्ज-बॉपनामानं विद्वांसं वियोज्य संस्कृतशिक्षाशुभारम्भो जातः। चतुर्वर्षानन्तरं फ्राञ्ज-बापः फुलप्रोफेसररूपेण अस्मिन् पीठे नियोजितः। संस्कृतभाषायाः संरचनायां निरन्तरं वर्धितरुचिना बॉपेन ग्रीक-लैटिन-भाषयोः परिप्रेक्ष्ये पर्शियन भाषायाः संस्कृतभाषायाश्च गहनमध्ययनं कृतम्। तेन दीर्घकालिकाध्यवसायस्य परिणामरूपेण संस्कृत-ग्रीक-लैटिन-जर्मन-ट्यूटानिकभाषाणां रूपसंरचनाया व्याकरणस्य च गहनमनुसन्धानं विधाय स्वकीया ग्रन्था लिखिताः प्रकाशिताश्च। इत्थं फ्राञ्ज-बाप एव तुलनात्मकभाषाविज्ञानस्य स्थापको जनक इति मान्यते।

योरोपद्वीपे संस्कृतविद्यायाः प्रवर्तनकाले द्व्यधिकाष्टादशशततमे **(1802)** वर्षे जर्मनसंस्कृतज्ञः फ्रैडरिक-श्लैगलः फ्रांस देशराजधानीं पेरिसं प्राप, तस्य च साक्षात्कारः एशियाटिकसोसायटीसदस्येन ऐलैग्ज़ेण्डर हेमिल्टनेन सञ्जातः स च हेमिल्टनात् लेंगिल्स-चेज़ी-फौरिलनामकैः त्रिभिः फ्रांसीयमनीषिभिः सह संस्कृतमध्यगीष्ट, संस्कृतपाण्डुलिपिषु अनुवादकार्यं च चकार, भगवद्गीतायाः रामायणस्य अंशानामनुवादान् प्रकाशयामास। त्रयाणामन्यतमः पञ्चदशाधिकाष्टादशशततमे **(1815)** वर्षे फ्रांसीयो विद्वान् ए. एल. डी. चेज़ी अभिज्ञानशाकुन्तलं फ्रांसीयभाषायामनूद्य प्रकाशयामास। इत्थम् आरम्भिके चरणे अनुवादानां दीर्घा परम्परा प्रवर्तिता।

जर्मनीदेशस्य संस्कृताध्ययनपरम्परायां महान् विद्वान् आसीत् फ्रैडरिक-मैक्समूलरः। तेन पञ्चचत्वारिंशदुत्तराष्टादशशततमे **(1845)** वर्षे लाइप्ज़िगविश्वविद्यालयात् संस्कृतविषयमधिकृत्य शोधं विधाय पीएच. डी. इत्युपाधिर्लब्धः। तदनन्तरं सः पेरिसपुरं जगाम। तत्र प्राच्यविद्याविदां विदुषाम् योगेनबर्नाउफमहाभागानां प्रेरणया तेन ऋग्वेदस्य पाण्डुलिपिषु कार्यमारब्धम्। प्रायेण विंशतिवर्षाणाम् अध्यवसायानन्तरं तेन सायणभाष्यसहितस्य ऋग्वेदस्य सम्पूर्णः पाठः चतुर्ष्वङ्केषु सन्नद्धः कृतः। सप्तचत्वारिंशदुत्तराष्टादशशततमे **(1847)** वर्षे मैक्समूलरः इङ्गलैण्डदेशमाजगाम्, ऑक्सफोर्डविश्वविद्यालये च नियुक्तो बभूव। तत एव तेन सम्पादनं सम्पूर्य चतुर्षु भागेषु ऋग्वेदः प्रकाशितः। इयं संस्कृतवाङ्मयस्य वैदेशिकपरिप्रेक्ष्ये

ऐतिहासिकी घटनाऽऽसीत्। वैदिकवाङ्मयमधिकृत्य इयति बृहति कार्ये कृतवति सति मैक्समूलरः 'मोक्षमूलरः' इति नाम प्राप्तवान्। स्वयमेव सम्पादिते ऋग्वेदग्रन्थे सः स्वनाम एवं रूपेण लिलेख **'सम्पादकः - जर्मनदेशोत्पन्नः इङ्ग्लैण्डदेशवास्तव्यः मोक्षमूलरभट्टः।'** संस्कृतसाहित्येतिहासलेखनप्रवर्तने तेन **'हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर'** इति ग्रन्थो लिखितः पुनः स्वलिखिते **'इण्डिया - व्हाट इट केन टीच अस'** इति पुस्तके तेन भूरि भूरि भारतस्य भारतनिधेः संस्कृतस्य च गौरवगानं विहितम्। मैक्समूलरेण व्यापकस्तरे विविधानां संस्कृतग्रन्थानाम् अनुवादाः कृताः कारिताश्च। तान् विधिवत् सम्पाद्य सः प्रायेण पञ्चाशद् भागेषु **'सैक्रिड बुक्स ऑफ द ईस्ट'** इति नाम्ना ग्रन्थशृङ्खलाः प्रकाशयामास। महनीयेनानेन कार्येण सः महतीं ख्यातिं लेभे, तस्य योगदानञ्च क्रान्तिकरं जातम्। शिकागों प्रति प्रस्थितवद्भिः स्वामिवर्यैः विवेकानन्दैः सह मैक्समूलरस्य सङ्गमः वार्तालापविषयश्च सर्वेषां भारतीयानां कृते परमरोचकौ गौरवभरितौ च जातौ।

बर्लिने हम्बोल्ट-विश्वविद्यालये संस्कृताध्यापनानुसन्धानपरम्परा अग्रे आलब्रेश्टबेबरस्याध्यक्ष्ये प्रावर्तत। बेबरेण शुक्लयजुर्वेदस्य संहिता ब्राह्मणं श्रौतसूत्रञ्च सम्पाद्य प्रकाशितानि, पश्चात् कृष्णयजुर्वेदस्य तैत्तिरीयसंहिताऽपि प्रकाशिता। सः संस्कृतसाहित्येतिहासमपि रचयामास। जर्मनमनीषिषु बाटलिंगराथविद्वांसौ त्रयोविंशतिवर्षात्मकम् अध्यवसायं संसाध्य सप्तसु भागेषु **'संस्कृत-जर्मन-कोशं'** ससर्जतुः। प्राकृते रिचर्डपिशेलः, वेदान्ते पालडायसनः, बौद्धदर्शने ओल्डेनबर्गः, महाभारतसम्पादने हेनरिखल्यूडसीः, जैनविद्यायां वाल्टरः, अपभ्रंशे लुडविगआल्सडोर्फः, साहित्ये वाल्टररूबेनः साहित्येतिहासे वुल्फगांगमोर्गेन राथः इति नामानि पूर्वजर्मन्यां संस्कृतविद्याक्षेत्रेषु प्रसिद्धिं गतानि। रूबेन कृत महत्त्वपूर्णं कार्यमासीत् - **'कालिदासः द ह्यूमन मीनिंग ऑफ हिज़ वर्क्स।'** मोर्गेनरॉथ-कृतं महत्त्वपूर्णं कार्यमासीत् मुद्राराक्षसनाटकस्य जर्मनभाषायां भाषान्तरकरणम्।

बॉनविश्वविद्यालये हर्मनजैकोबीसदृशः रामायणविशेषज्ञः विद्वान् प्रतिष्ठितः। अस्यामेव परम्परायाम् अत्र परमविद्वान् माइकेलहानः सम्बभूव, यस्य मुख्याभि कार्यक्षेत्राणि सन्ति अलङ्कृतकाव्यं, काव्यशास्त्रं, छन्दःशास्त्रं, बौद्धदर्शनं तिब्बतीयेतिहासः, संस्कृतसाहित्येतिहासश्च। विविधेभ्यः स्थानेभ्यः पाण्डुलिपिः सङ्गृह्य सम्पाद्य च सः हरिभट्टजातकमालां, लोकानन्दनाटकं, कपीश्वरजातकं, शिवस्वामिकृतं कप्फिणाभ्युदयं च प्रकाशयामास।

फ्रांसदेशे संस्कृतविद्याया आरम्भः अष्टादशशताब्द्यामेव सञ्जातः। ईसवीयधर्मप्रचाराय भारतं गतानां जनानां माध्यमेन अनेका दुर्लभाः पाण्डुलिपयः पेरिसं समानीताः, याः प्रायेण कर्गदेषु, भोजपत्रेषु, ताडपत्रेषु च ब्राह्म्यां, देवनागर्यां,

बाँगलायां वा लिप्यां लिखिताः सन्ति। काव्यशास्त्रं, वेदं, वेदाङ्गं, व्याकरणं, तन्त्रम्, आयुर्वेदञ्च विषयीकृत्य लिखिता लिपयः पेरिसनगर स्थिते राष्ट्रिये पुस्तकालये **'प्राच्यपाण्डुलिपिसङ्ग्रहालये'** सुरक्षिताः सन्ति। हस्तलिखितग्रन्थानां **'डेस्क्रिप्टिव कैटेलाँग'**नाम्नी विषयसूची पूर्वं विद्वद्वर्येण ज्याँफिलियोजामहोदयेन निर्मापिता, पश्चात् तत्पुत्रेण प्येरसिलवाँफिलियोजान्वर्येण कार्यं सम्पूर्यते। एषां हस्तलेखानां सङ्ग्राहकः धर्मप्रचारकः जाँ फ्रांस्वा पों-नामा जन आसीत्, येन बोपदेवकृतस्य **'मुग्धबोध'**नाम्नो व्याकरणग्रन्थस्य साहाय्येन एकस्य संस्कृतव्याकरणग्रन्थस्य, अमरकोशस्य च साहाय्येन एकस्य संस्कृतशब्दकोशस्य रचना कृता। इदमेव कार्यं अत्र संस्कृतभाषाध्ययनस्य आधारशिलारूपं जातम्। फ्रांसे संस्कृताध्ययनस्य नवीनोऽध्यायः चतुर्दशाधिकाष्टादशशततमे **(1814)** वर्षे **'कॉलेज टू फ्रांस'**संस्थाने संस्कृतपीठस्य स्थापनानन्तरं समारभत। योरोपद्वीपे प्रथमं संस्थापितेऽस्मिन् पीठे प्रथमं प्रो. ए. एल. चेज़ी प्रतिष्ठितः। तदनन्तरं प्रो. यीगेनबर्नाउफः पीठेऽस्मिन् समासीनः, येन संस्कृताध्ययनस्य वैज्ञानिकी पद्धतिः प्रवर्तिता, धार्मिके संस्कृतसाहित्ये स्वध्यानं केन्द्रीकृतम्। बर्नाउफमहोदय एवं मैक्समूलराय वेदमध्येतुं ऋग्वेदं च सम्पादयितुं प्रेरणाभूताः आसन्। तैरेव पेरिसविश्वविद्यालये अवेस्ता-संस्कृतयो पारस्परिकं सम्बन्धं निर्धार्य भारत-ईरान-भाषाविज्ञान तुलनात्मकविषयस्य सुदृढ़ा परम्परा स्थापिता। बर्नाउफमहोदयाः श्रीमद्भागवतमहापुराणस्य आंशिकरूपेण फ्रांसीयभाषानुवादकार्यमपि कृतवन्तः। एतदनन्तरं बेर्गेञः, सिलवाँ लेवी, सेडेसः, ज्यूल ब्लाखः, लुई रेनू च संस्कृताध्ययनाध्यापनं साधितवन्तः। वेर्गेञस्य मुख्यं कार्यं वैदिकं वाङ्मयमाश्रित्य आसीत्। सिलवाँ लेवी मुख्यतया ब्राह्मणग्रन्थेषु कार्यं चकार, ज्यूल ब्लाखः भाषाविज्ञानवेत्ताऽऽसीत्, सेडेसः दक्षिणपूर्वेशियायां संस्कृतप्रभावं विमृष्टवान्। सॉर्बोनविश्वविद्यालयस्य प्राच्यविद्यापण्डिता लुइरेनूमहोदयाः वेद- व्याकरण-काव्य-नाट्य-पौराणिकमहाकाव्य-बौद्ध-संस्कृत-वाङ्मय-कम्बोडियन-संस्कृताभिलेखादीन् विविधविषयानाश्रित्य व्यापकं कार्यं चक्रुः। फ्रान्से षण्णवत्युत्तरैकोनविंशतिशततमे **(1996)** वर्षे लुइत्रेनोः जन्मशताब्दीसमारोहः अमन्यत, तदुपलक्ष्ये एका अन्ताराष्ट्रिया सङ्गोष्ठी च समायोज्यत। लुइरेनुभिः गुरुवर्य्यैः संस्कृतज्ञानां शिष्याणां बृहती परम्परा रचिता, संस्कृताध्ययनाय पाठ्यपुस्तकान्यपि रचितानि। रेनू-प्रवर्तित-परम्पराया एव विद्वानासीत् ज्याँ-फिलियोजः, येन आयुर्वेद-ज्योतिष-तन्त्र-वैज्ञानिकवाङ्मयादिकम् आश्रित्य एवं शोधकार्यं केन्द्रितं कृतम्। ज्याँफिलियोजस्य प्रयासेनैव भारतस्य दक्षिणदिग्भागे पाण्डिचेर्यां पञ्चपञ्चाशदुत्तरैकोनविंशतितमे **(1955)** वर्षे **'फ्रैञ्च इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी** इति संस्था संस्थापिता, यत्र प्रमुखतया सङ्ग्रणकावलम्बितं संस्कृतव्याकरणानुसन्धानकार्यं प्रचलति। प्रो. प्येर-सिलवाँ फिलियोज़ ज्याँ-फिलियोजस्य संस्कृतविद्

आत्मजोऽस्ति, यः **'प्रेक्टिकल स्कूल ऑफ हायर स्टडीज़'** इति संस्थाया अङ्ग-भूतस्य भारतीयविद्या-विभागस्य निदेशको जातः। सः **'इकोले फ्रांक्राई देवस्ट्रीम ओरियण्ट'** इत्यभिधेन भारतीय विद्यानाम् उच्चतरशोधसंस्थानेन तथा **'इंस्टीट्यूट दे सिविलाइजेशन इण्डेने'** इत्यनेन संस्थानेन च अभिन्नतया संयुक्तः। वैयाकरणेना-नेन पतञ्जलिकृतमहाभाष्यस्य कैयटकृत **'प्रदीप'**टीकाया नागेशकृताया **'उद्योत'** टीकायाश्च तुलनात्मकमध्ययनं कृतम्, पाण्डिचेर्याः संस्थानात् पञ्चसु अङ्केषु महा-भाष्यस्य प्रकाशनं कृतम्। पेरिसात् प्रकाशिते **'एन्साइक्लोपीडिया यूनिव-र्सलिसे'** तेन संस्कृतव्याकरणस्य इतिहासः सम्यग् लिखितः। काव्यक्षेत्रे फि-लियोजः नीलकण्ठदीक्षितस्य **'गुरुतत्वमालिकां'**, काव्यशास्त्रक्षेत्रे च रत्नाप-णटीकासहितं विद्यानाथकृतं **'प्रतापरुद्रीयम्'** भूमिका-टिप्पण-सहितं प्रकाशि-तम्। इद-मतिरिच्य तेन शास्त्रेतिहास-शिलालेखविद्या-पुरातत्त्वविद्या-भारतीयधर्म-दर्शन-तन्त्र-भारतीयविद्येतिहासादिषु विषयेषु स्वलेखनी चालिता। फिलियोजाम-होदयानां संस्कृतक्षेत्रे अतिविशिष्टं योगदानमालोच्य ते भारतराष्ट्रपतिना अन्तारा-ष्ट्रियसम्मानेन सम्मानिताः। फ्रांस-राजधान्यां पेरिसनगरे सोबोन-विश्विवद्यालये भारतीयायाः आई. सी. सी. आर. संस्थायाः संस्कृताभ्यागताचार्यपीठस्य विद्य-मानत्वात्, **'मेजो द सियाँस द-लोम'**नामके उच्चमानविकीयसंस्थाने **'एशियो-अफ्रीकन-रिसर्च-सेण्टरस्य'** अस्तित्वात्, पुनश्च **'इण्टरनेशनल एसोसिएशन ऑफ संस्कृत स्टडीज़'** इत्यस्याः **'अन्ताराष्ट्रियसंस्कृताध्ययनसमवाय'** संस्थायाः मुख्यकार्यालयत्वात्त् संस्कृतस्य कृते परममहत्त्वपूर्णमिदं राष्ट्रम्।

जर्मनीं फ्रांसञ्चातिरिच्य इटलीदेशः संस्कृतस्य कृते विशिष्टो देशः। इटलीदेशे भारतीयविद्यायाः संस्कृतस्य अध्ययनारम्भः त्रिपञ्चाशदुत्तराष्टाद-शशततमे **(1853)** ईसवीयवर्षे अभूत्। तत्र स्थापिते संस्कृतस्य प्रथमे पीठे जीगोरेशिया प्रतिष्ठापितः। यो रामायणानुवादकरूपेण प्रसिद्धः। तस्मात् कालाद् इटल्यां भाषा-विज्ञान-व्याकरण-वेद-वेदाङ्ग-धर्मशास्त्रार्थशास्त्र-पुराण-पौराणिकमहाकाव्य- संस्कृतकाव्य-नाट्य-धर्मदर्शन-विधि-योग-तन्त्रायुर्वेदादिषु विषयेषु शोधकार्याणि जातानि। सप्तपञ्चाशदुत्तरैकोनविंशशततम **(1957)**-वर्षादारभ्य द्विनवत्युत्तरैकोनविंशतिशततम **(1992)** वर्षपर्यन्तं ट्यूरिननगरस्य ट्यू-रिनविश्वविद्यालये संस्कृतपीठे प्रो. ऑस्करः बोटो प्रतिष्ठित आसीत्।

तस्य प्रयासेन तत्र **'Institute of Indology'** इत्याख्यं प्राच्यविद्या-संस्थानम्, प्राच्यविद्याध्ययनविभाग च जन्म लेभाते। बोटो प्राचीन भारतस्य सामाजिकविधेः राजनीतेः, पौराणिकमहाकाव्ययोः, संस्कृतनाट्यसाहित्येतिहासा-दीनां शोधक-लेखकरूपेण प्रसिद्धिं प्राप। ट्यूरिननगरे संस्कृतस्य भारतीयविद्यायाश्च

अतिमहत्त्वशालिनी संस्था वर्तते **'चेस्मयो'** इति नाम्ना प्रसिद्धा, या आङ्ग्लभाषायां **'इण्टरनेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ एडवांस्ड एशियन स्टडीज'**, इति कथ्यते। अस्या दीर्घकालिको निदेशक ऑस्करः बोटो बभूव, पश्चाद् दिवङ्गन्ते तस्मिन् इरमा पियोवानो तत्पदे नियुक्ता। अस्याः संस्थायाः बृहत्तमासु परियोजनासु अन्यतमाऽस्ति - **'Minor Sanskrit Texts and studies on social and Religious Law'** इरमा स्वयमेव दक्षस्मृतेः सटिप्पणम् अनुवादं कृतवती। इदं संस्थानम् **'इटेलियन एसोसियेशन ऑफ संस्कृत स्टडीज़'** इत्यस्यापि अधिष्ठानम्। ऑस्टन-नेतृत्वेऽत्र प्रथमवारं **'संस्कृत-इटेलियन-शब्दकोशस्य'** निर्माणं जातम्, विधि-न्याय-सम्बद्धानां संस्कृत-ग्रन्थानां सम्पादनं प्रकाशनं सम्पन्नम्। चेस्मियो-संस्थाया अतिमहत्त्वशालिनी योजनैकाऽऽसीत् – वाल्मीकि-रामायणस्य इतालवी-भाषायां भाषान्तरणम्। बोटो-निर्देशितायामस्यां रामायणस्य सप्तकाण्डानां अनुवादः सप्तर्षिभिः मनीषिभिः विहितो यथा - रोम-विश्वविद्यालयीयो विर्सजिना मज्जारीनो बालकाण्डम्, पलेर्मो-विश्वविद्यालयीयः अगाता पैलेग्रिनी अयोध्याकाण्डम्, मिलान-विश्वविद्यालयीयः कैर्लो डेलाकास अरण्यकाण्डम्, पलेर्मो-विश्वविद्यालयीयः अगाता पैलेग्रिनी किष्किन्धाकाण्डम्, पीखा-विश्वविद्यालयीयः सवेरियो सानी सुन्दरकाण्डस्य, कैग्लियरीविश्वविद्यालयीयः तिजियाना पोण्टिलो युद्धकाण्डम्, पीसा-विश्वविद्यालयीयः सवेरियो सानी च उत्तरकाण्डम् अनूदितवन्तः।चेस्मियो-संस्थाया एकमन्यन्महत्त्वपूर्णं कार्यं वर्तते - **'Indologica Taurinensia'** इत्याख्यायाः प्रतिष्ठिततमाया प्राच्यविद्यायाः शोधपत्रिकायाः प्रकाशनम्, यस्मात् कालात् **'अन्ताराष्ट्रियसंस्कृताध्ययनसमवाय'**संस्थायाः संस्थापना जाता, तस्मात् कालादियं पत्रिका I.A.S.S. - मुख्यपत्रम् इतिरूपेण घोषिता। इटलीदेशे द्विवारमस्याः अन्ताराष्ट्रियायाः संस्थायाः तत्त्वावधाने 'विश्व-संस्कृत-सम्मेलने' समायोजिते जाते।

इटल्यां संस्कृतस्य भारतीयविद्याया प्रसिद्धमेकं केन्द्रमस्ति रोमनगरस्थितस्य 'ला सपैञ्झा-विश्वविद्यालयस्य प्राच्यविद्याविभागः'। अस्मिन्नारम्भिककाले जिसैप्पे टूची मारियो बुसाग्ली च, परवर्तिनि काले रेनीरो ठनोली रफैले तोरैला च अध्यापयामासुः। अत्र बौद्धधर्म-दर्शनयोः विविधपक्षेषु विधिवत् कार्यं बभूव। कश्मीरीय-शैवदर्शनमपि अध्ययनविषयीभूतम्। काव्यशास्त्रस्य क्षेत्रे स्वयं प्रो. ग्नोली **'The Aesthetic Experience According to Abhinavagupta'** इति ग्रन्थं लिलेख। ध्वन्यालोकस्यापि अनुवादो विहितः। रोमे **'ISIAQ'** इति नाम्नाऽपि एकं संस्थानं सक्रियमासीत्, यस्याध्यक्षः क्रमेण टूची ग्नोली चास्ताम्। अस्य संस्थानस्य शोध-निष्कर्षोः **'Serie Orientale Roma'** इति शृङ्खलायां प्रकाशिताः। पीसा-विश्वविद्यालयस्य भाषाविज्ञान-विभागतो रोमानी लज्जारेनो संस्कृत-विषयकं शोधकार्याय प्रश्रयं ददौ संस्कृतव्याकरणे शब्दकोशे च कार्यं चक्रे।

मिलानविश्वविद्यालयस्यय तुलनात्मकभाषाविज्ञानप्राच्यभाषाविभागे आचार्यः कार्लो डेला कासा संस्कृतशोधमध्यापनञ्च प्रवर्तितवान् कासाञ्चिद् उपनिषदाम् अनुवादः सम्पादितः। एतदतिरिक्तं इटलीस्थितानां पालेर्मो विश्वविद्यालय-वेनोज़िया-विश्वविद्यालय-बोलोग्रो-विश्वविद्यालय-जेनोवा-विश्वविद्यालयानां प्राच्यविद्याविभागेषु संस्कृतस्य विधिवत् अध्ययनम्, अध्यापनम्, अनुसन्धानञ्च प्रवर्तन्ते।

ग्रेटब्रिटेनस्य चतुर्षु विश्वविद्यालयेषु संस्कृतस्य पठन-पाठनं शोधकार्यञ्च प्रवर्तेते - क्रैम्ब्रिज-विश्वविद्यालये, ऑक्सफोर्ड-विश्वविद्यालये, लन्दन-विश्वविद्यालये, ऐडिनबरा-विश्वविद्यालये च। ब्रिटेनदेशे संस्कृतस्य प्राचीनतमं पीठम् ऑक्सफोर्ड-विश्वविद्यालये अभूत्। इदं बोडन-संस्कृत-प्रोफेसर-पीठमत्र सप्तविंशत्युत्तराष्टादशशततमे **(1827)** वर्षे सुस्थापितम्। अस्मिन् प्रतिष्ठिते पीठे विल्सन-मेरियर-विलियम्स-मैक्डॉनल-थामस-सदृशा आङ्ग्लविद्वांसो विराजिता बभूवुः, येषां वैदिकवाङ्मयं, संस्कृतइंगलिशशब्दकोषं, संस्कृतसाहित्येतिहासञ्च विषयीकृत्य लिखिता ग्रन्था विश्वे विख्याता जाताः। थास-बरो-महोदयः दीर्घकालं यावत् ब्रिटिश-म्यूज़ियमस्य **'इण्डिया-ऑफिस-लाइब्रेरी'**नामके प्राच्यविद्यापुस्तकालये कार्यरतो बभूव। सः द्वात्रिंशद् वर्षपर्यन्तं बोडनाचार्यपीठमलञ्चक्रे। संस्कृतविषयकस्तस्य प्रसिद्धौ ग्रन्थौ आस्ताम् - **'The Sanskrit Language'** **'The Problem of Shwa in Sanskrit'** च। प्रथमस्य पुस्तकस्य हिन्दी-भाषायां **'संस्कृतभाषा'** इति नाम्ना अनुवादो जातः। थामस-कार्यकालानन्तरम् आर. एफ. ग्रोम्बिशः बोडन-प्रोफेसर-पदमधिष्ठितः। अस्य मुख्यं कार्यक्षेत्रमासीत् – पालिः, बौद्धदर्शनं, द्राविड-भाषाशास्त्रञ्च।

क्रैम्ब्रिज-विश्वविद्यालये संस्कृतपीठस्य स्थापना सप्तषष्ट्युत्तरैकोनविंशतिशततमे **(1967)** वर्षे बभूव। अस्मिन् पीठे पावेल-बेण्डल-रेप्सन-बैली-जॉनब्रू-सदृशा विद्वांस आसन्। जान-ब्रूकालानन्तरं जॉनस्मिथः संस्कृतशिक्षणे प्रववृते। स्मिथः महाभारतस्य मूलपाठं सम्पाद्य तस्य इलैक्ट्रानिकरूपं सम्पादयामास प्रकाशयामास च। स्मिथानन्तरं ईविण्ड-कार्सः कैम्ब्रिजमागतवान्। तस्य प्रमुखं कार्यं निरुक्ते वर्तते। पुनः भारतीय-विद्या-विशेषज्ञरूपेणात्र विंसेज़ो वर्ज्यानी नियुक्तो, यो व्याकरणे विशिष्टं कार्यं चकार। लन्दन-विश्वविश्वविद्यालये सप्तदशाधिकैकोनविंशतिशततमे **(1917)** वर्षे संस्कृताध्ययनहेतोः **'School of Oriental and African Studies'** इति नाम्ना प्राच्यविद्याध्ययनकेन्द्रं स्थापितम्। सर्वप्रथमं सरराल्फ-लिली-टर्नरः अस्मिन् विद्यालये संस्कृताचार्य-पदे नियुक्तः ; तेन च **'A Comparative Dictionary of the Indo-Aryan Languages'** इति नाम्ना तुलनात्मकं बृहत् कोश-निर्माणं कृतम्। टर्नरानन्तरमत्र क्रमशः जान-ब्रू

जे. सी. राइटः, पीटर-श्राइनरः, ए. एफ. स्टेज़लरः नियोजिता जाताः। लन्दन-विश्वविद्यालये 'वृन्दावन-शोध-संस्थानं' संस्कृत-कार्य-निरतम्। स्काटलैण्डस्य राजधान्याम् ऐडिनबरायां स्थिते ऐडिनबरा-विश्वविद्यालये संस्कृतस्य तुलनात्मक-भाषा विज्ञानस्य च पीठं द्विषष्ट्युत्तराष्टादशशततमे **(1862)** वर्षे जॉन-म्यूरस्य सत्-प्रयासैः स्थापितम्। पीठमिदम् एग्लिंग-ऑफ्रेक्ट-एलन-कीथ-सदृशा विद्वांसः अधितस्थुः। संस्कृतसाहित्यस्येतिहासलेखने तत्रत्यस्य ए. बी. कीथस्य नाम अग्र-गण्यम्। परवर्तिनि कालेऽत्र जॉन-ब्राकिङ्टनः शिक्षणशोधदायित्वं निरवहत्। ब्राकिङग्टनस्य मुख्यं कार्यं रामायणं, रामकथां, हिन्दूदर्शनं चावलम्ब्य वर्तते। स्व-पत्न्याः ब्राकिङ्ग्टन-मेर्याः साहाय्येन तेन **'Epic and Puranic Bibliography'** इति नाम्नी ग्रन्थसूची रचिता। ब्राकिङ्ग्टनः अन्ताराष्ट्रिय-संस्कृताध्ययन-समवायस्य महासचिवरूपेण उपाध्यक्षरूपेण च संस्कृतस्य बहु कार्यं कृतवान्। इत्थं चतुर्षु विश्वविश्रुतेषु विश्वविद्यालयेषु, अन्यासु शैक्षिकसांस्कृतिकसंस्थासु संस्कृतसं-वर्धनकारणात् ब्रिटेन देशः संस्कृतसाधकदेशेषु अग्रगण्यः।

संयुक्तराज्यामेरिकादेशः संस्कृताध्ययनाय अतिमहत्त्वपूर्णं केन्द्रमस्ति। अत्र येल-हारवर्ड-केलिफोर्निया-पेंसिल्वेनिया-कोलम्बिया-शिकागो-विश्वविद्या-लयेषु संस्कृताध्ययनस्य दीर्घा परम्परा प्राचलत्। सर्वप्रथमं एकचत्वारिंशदुत्तरा-ष्टादशतमे **(1841)** वर्षे येल-विश्वविद्यालये संस्कृतस्य अध्ययनारम्भः सञ्जातः। अत्र ऐडवर्ड-सेलिस्बेरी प्रथमः संस्कृताध्यापको बभूव। तस्यैव प्रयासेन अस्मिन् देशे **'American Oriental society'** नाम्नी शोधपत्रिका प्रचलिता। अत्रैव चतुष्-पञ्चाशदुत्तराष्टादशशततमे **(1854)** वर्षे विलियमड्वाइटः ह्विटनी पीठमि-दमधिष्ठाय कार्यमारभत। तुलनात्मकभाषाविज्ञाने व्याकरणे च कार्यं कुर्वाणः सः **'Sanskrit Grammar'** इत्यभिधं प्रसिद्धं पुस्तकं लिलेख। ह्विटनी स्थाने पश्चात् हाप्किंसः प्रतिष्ठितः, यो हि महाभारते धर्मशास्त्रे च विशेषज्ञतां बभार। तद-नन्तरमत्र फ्रेंकलिन-इजर्टनः नियुक्तः, यस्य **'Buddhist Hybrid Sanskrit'** कोषः परां प्रसिद्धिं प्राप्तवान्। विंशशतकसमारम्भे जान्स-हॉप्किंस-विश्वविद्यालयः संस्कृताध्ययनाय बृहत् केन्द्रमभूत्, यत्र मारिस-ब्लूम फील्डः शैक्षिककार्यं चकार तथा फ्रेंकलिन-ऐजर्टनं नार्मन-ब्राउनञ्च शिष्यरूपेण प्रशिक्षितवान्।

अमेरिकायाः हार्वर्ड-विश्वविद्यालयः पुरा संस्कृतविद्याया महत्केन्द्रमासीत्। अत्र प्रो. लेनमानः संस्कृतविद्याया बीजमुवाप, वेदे व्याकरणे च कार्यं चकार। लेन-मान एव सश्रमम् अतः **'Harvard Oriental Series'** इति नाम्नीं संस्कृत-ग्रन्थमालां सम्पाद्य प्रकाशयामास। लेनमानानन्तरं बौद्धविद्याविशारदः क्लार्कः अत्र कार्यं पूरयामास। तत्पश्चात् एच. एच. इंगल्सः अत्र नियोजितः, येन नव्यन्यायदर्शने

विशिष्टं कार्यं कृतम्।

अमेरिकादेशे बर्कले स्थितः केलिफोर्नियाविश्वविद्यालयः अतिप्राचीनो, यत्र संस्कृताध्ययनपरम्परा सप्तनवत्युत्तराष्टादशशततमे **(1897)** वर्षे आरब्धा। अत्र विद्वान् ब्लूमफील्डः शोधं चकार **'वैदिक कॉनकार्डेंस'** नामकं विशिष्टं ग्रन्थं लिलेख। क्रमेण संस्कृताध्यापकपदेऽत्र इजर्टनः तत्पश्चात् नार्मनब्राउनः सन्नियोजितौ। **'Department of South and South-east Asian studies'** इत्याख्ये विभागेऽत्र द्विसप्तत्युत्तरैकोनविंशशततमे **(1972)** वर्षे रोबर्ट-पी-गोल्डमेनः नियुक्तः, ततः संस्कृतं परमं प्रोत्साहनं प्राप्तवत्। गोल्डमेनो रामायणविशेषज्ञः, साहित्यशास्त्रज्ञश्च। तेन सम्पूर्णस्य रामायणस्य आङ्ग्लभाषायामनुवादः समीक्षणञ्च विहिते। सः रामायणपरियोजनायाः निदेशको मुख्यसम्पादकश्चास्ति। साम्प्रतं परियोजना परिपूर्णा। सः अमेरिकीय-एकेडमी-फैलोशिप-सम्मानं लब्धवान्। सः अतिविशिष्टसंस्कृतसेवायै भारतराष्ट्रपतिप्रदत्तं अन्ताराष्ट्रियं राष्ट्रपतिसम्मानं लब्धवान्। अमेरिकाया न्यूयार्कनगरे स्थितः कोलम्बिया-विश्वविद्यालयः संस्कृतविद्याया महदेकं केन्द्रम्। अत्र बौद्धदर्शनविद्वान् ऐलेक्सवेमनः बहुकालं यावत् सक्रिय अभूत। वर्तमानकालेऽत्र प्रो. शैल्डेनपोलोकः बहुविध प्राच्यविद्याप्रवीणः प्राध्यापनरत आसीत्। तेनापि संस्कृताय विशिष्टयोगदानकारणात् अन्ताराष्ट्रियो भारतराष्ट्रपतिसम्मानः प्राप्तः। शिकागो-विश्वविद्यालये दक्षिणैशियाध्ययनस्य विशालमेकं केन्द्रमस्ति, यत्र पूर्वकाले बॉब्रिन्सकायः, वर्तमानकाले च गैरीतुबः संस्कृताध्यापनपरौ विद्वांसौ। अमेरिकाया अवानीइलिनोइ-विश्वविद्यालये भाषाविभागे प्रो. हंसहैनरिखहॉकः पाठयति, यो वेदे व्याकरणे च कृतभूरिपरिश्रमो विद्वान् वर्तते।

अमेरिकायाः प्राचीनतमे फिलाडेल्फिया-नगरे स्थिते पेंसिल्वेनिया-विश्वविद्यालये सप्तचत्वारिंशदुत्तरैकोनविंशतिशततमे **(1947)** ईसवीयवर्षे 'दक्षिणैशियाऽध्ययनविभागः' स्थापितः। अस्य संस्थापने संवर्धने च नार्मनब्राउनस्य विशिष्टमवदानमभूत्। फ्रेंकलिन-एडजर्टनः अत्र चत्वारिंशद्वर्षावधिपर्यन्तं स्थित्वा प्राच्यविद्यासंवर्धनाय प्रयत्नांश्चकार। षष्ट्युत्तरैकोनविंशतिशततमे **(1960)** वर्षेऽस्मिन् विभागे एको महान् विद्वान् प्रविवेश जॉर्ज-कार्डोनानामा, येन भारते उषित्वा पारम्परिकपण्डितेभ्यः संस्कृतव्याकरणम् अधीतम्, शनैः शनैः पाणिनीयव्याकरणस्य विशेषज्ञो बभूव, पाणिनीयव्याकरणक्षेत्रे तस्यातिविशिष्टावदानहेतोः तस्मै **'आधुनिकपाणिनिः'** इत्युपाधिः प्रचलितः। संस्कृतव्याकरणमवलम्ब्य तस्य लेखनमतिव्यापकम्, येषु प्रायेण त्रिंशद् ग्रन्थाः शताधिकाः शोधलेखाः गणनीयाः। तेषु महत्त्वपूर्णं ग्रन्थत्रयं यथा - **'Panini : A Survey of Rese-**

arch', Recent Research in Paninian studies', 'Philosophy of Language in India'. तेन अष्टाध्यायी-महाभाष्यकाशिकावृत्ति-आपिशलिशिक्षा-ऋग्वेदप्रातिशाख्य-निरुक्तादीनां 'इलैक्ट्रानिक-डाटारूपमपि' संरचितम्। कार्डोनामहोदयाः **'अमेरिकन इंस्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी'** इति संस्थाया अध्यक्षाः, **'अमेरिकन-ओरियण्टल सोसायटी'** इति संस्थाया उपाध्यक्षा अभूवन्। ते भारतस्य अनेकैः विश्वविद्यालयैः 'डी. लिट्.' तथा **'महामहोपाध्याय'** इत्यादिभिः मानदोपाधिभिः समलङ्कृताः, अनेकेषु भारतीयविश्वविद्यालयेषु 'विज़िटिंगप्रोफेसर' पदेषु कार्यं कृतवन्तः। ते बहुशो भारते अनेकैः शिक्षासंस्थानैः, राजकीयसंस्थानैः, सांस्कृतिकसंस्थानैः अभिनन्दिताः। द्वादशोत्तरद्विसहस्रतमे **(2012)** वर्षे ते भारतराष्ट्रपतिना संस्कृताय तेषामतिविशिष्टयोगदानाय **'अन्ताराष्ट्रियराष्ट्रपतिसम्मानेन'** सम्मानिताः। अमेरिकासमानान्तरमेव वर्तते कनाडादेशः, यस्य वेङ्कूवरनगरे ब्रिटिश-कोलम्बिया-विश्वविद्यालयस्याङ्गभूतेन **'एशियन-स्टडीज़'** विभागेन सप्तदशं **'विश्वसंस्कृतसम्मेलनं'**, पुनरेशिया-द्वीपे जापानदेशे क्योटोनगरे क्योटो-विश्वविद्यालयस्य प्राच्यविद्या-विभागेन चतुर्दशं **'विश्वसंस्कृतसम्मेलनं'** समायोजितम्। पुनर्भाविनि काले भिन्ने द्वीपे आस्ट्रेलियादेशे कैनबरा-नगरे आस्ट्रेलियन-नेशनल-यूनिवर्सिटी द्वारा अष्टादशं **'विश्वसंस्कृतसम्मेलनं'** समायोजयिष्यते। एषां सर्वेषां देशानां संस्कृतविदुषां कर्तृत्वं समाकलनीयम्। एशिया-द्वीपे समग्रे दक्षिण पूर्वेशिया-प्रखण्डे संस्कृतस्य भूयान् प्रभावः प्रसारश्च वर्तते। तत्रत्यानां विदुषां कार्याण्यपि समीक्षणीयानि। विस्तरकारणादत्राहं केवलं थाइलैण्ड-देश-स्थितानां विदुषां कृर्तृत्वस्य संक्षेपेण समीक्षणं प्रस्तौमि। समग्रो दक्षिण-पूर्वेशिया-प्रभागः संस्कृतभाषायाः संस्कृत-वाङ्मयस्य प्रभावेण भूयिष्ठं प्रभावितः। अत्रत्यासु भाषासु संस्कृत भाषायाः भूयान् प्रभावः, वाल्मीकिरामायणेन महाभारतेन च एषां देशानां संस्कृतिः भृशं प्रभाविता। विगतेषु शतकेषु संस्कृतप्रभाववशात् थाइलैण्डदेशे कर्तृत्वमिदं स्फारीभूतम्। सर्वप्रथमं अष्टनवत्युत्तरसप्तदशशततमे **(1798)** वर्षे राजारामेण प्रथमेन रामकथा-माश्रित्य थाइभाषायां **'रामकियेन'** इति लिखितम्। तदनु राजारामेण द्वितीयेन रामकियेवस्था नाट्यरूपान्तरं कृतम्। राजारामेण षष्ठेण थाय्यां **'नलदमय-न्तीकथा'** लिखिता। रामघाई-नियोमेन थाय्यां **'महाभारतयुद्धं'** लिखितम्। प्लियाङ्विद्या-द्विजेन **'हितोपदेशः'**, विसुध-बुस्याकुलेन **'विशुद्ध निबन्धः'**, कुसुमा-रक्सामनिना **'नलोपाख्यानम्'**, सुरसिथ-थाईरतनेन **'व्यासशतकम्'** लिखितम्। चतुर्षु विश्वविद्यालयेषु संस्कृताध्ययनाध्यापन-व्यवस्था वर्तते। तेषु प्रथमोऽस्ति शिल्पाकोर्न-विश्वविद्यालयः, यत्र प्राच्यभाषाविभागे संस्कृतं पाठ्यते। संस्कृतस्य विकासाय पृथग् **'संस्कृत स्टडीज़ सेण्टर'** इति नाम्ना संस्कृतशिक्षा

केन्द्रम्। तस्य प्रथमो निदेशकः आचार्यः चिरपत प्रपण्डविद्या वर्तते। स एव थाइ-देशे संस्कृताध्ययनाध्यापनस्य सूत्रधारः, अतः सः **'संस्कृतपुरुष ऑफ थाइलैण्ड'** इत्युच्यते। सः बौद्धदर्शन-भाषाविज्ञान-इतिहास-संस्कृति-पुराण-व्याकरण-पुरातत्त्वाभिलेखादिविषयाणां विद्वान् वर्तते। तस्य अनेके ग्रन्थाः, शोध लेखाः च प्रकाशिता। तस्य सम्पादकत्वे संस्कृत-शिक्षाकेन्द्रात् अन्ताराष्ट्रियसंस्कृतस-म्मेलनस्य प्रोसीडिंग-प्रकाशनरूपेण एकः ग्रन्थः **'Sanskrit in southeast Asia The Harueonizing Factor of Cultures'**, प्रकाशिता यत्र दक्षिणपूर्वैशियायां संस्कृतस्य स्वरूपं सुसमीक्षितम्। चिरपतवर्यस्य कृर्तृत्वस्य अभिनन्दनरूपेण तत्प्रशंसकैः **'श्यामदेश-संस्कृतपुरुषः'** इति नाम्ना अभिन-न्दनग्रन्थ एकः प्रकाशितः। पुनर्भारतसर्वकारपक्षतः सप्तदशोत्तर-द्विसहस्तमे **(2017)**, वर्षे अस्मै विदुषे **'अन्ताराष्ट्रियः राष्ट्रपति-सम्मानः'** समर्पितः। सेवाया निवृत्ते सति तेन वैयक्तिकैः प्रयासैः संस्कृत समुत्थानाय एकः **'संस्कृतनिधिः'** संस्थापितः। प्राच्यभाषाविभागस्य अन्योऽध्यापकः चम्लोंग-सर्फऽनुकः संस्कृत-विद्यार्थिनां प्रबोधाय थाइभाषायां नैकानि पुस्तकानि लिखितवान्। अध्यापकः सम्यांङ् ल्यौटमसाइ भगवद्गीतायाः सुत्तपिटकस्य च तुलनात्मकम् अध्ययनं कृत-वान्। सोमवतः भंगमीसुखसिरी शाङ्करदर्शनस्य लङ्कावतारसूत्रस्य च तुलनात्मकम् अध्ययनं कृतवान्। बमरुङ् काम-एकः अथर्ववेदसंहितायां कार्यं कृतवान्।

अत्रत्या प्राध्यापिका कुसुमा-रक्सामनिः टोरण्टोविश्वविद्यालये संस्कृतप्रहे-लिकाकाव्ये तुलनात्मकं कार्यं कृतवती। अपरा प्राध्यापिका मनीपिन फ्रोम्सुथि-राका लन्दनविश्वविद्यालये धर्माणां तुलनात्मकम् अध्ययनं कृतवती। चुलालौङ्कौर्न-विश्वविद्यालयस्य प्राध्यापिका प्रानी लापानिका क्षेमेन्द्रस्य 'कलाविलासे' शोध-कार्यं कृतवती, अमेरिकाया, पेंसिल्वेनियाविश्वविद्यालयाच्च पीएच.डी. इत्युपाधिं प्राप्तवती। महामुकुट बौद्ध विश्वविद्यालयस्य आचार्येण चूषकदी-दीप्यगखोर्नेम सुखोथाई-अभिलेखेषु संस्कृतशब्दानां प्रभावमधिकृत्य शोधकार्यं कृतम्। इत्थम् दक्षिण-पूर्वैशिया-देशेषु थाइलैण्डः एकोऽतिमहत्त्वपूर्णो देशः, यत्र संस्कृतस्य भूयान् प्रभावः, रामायणस्य भूयसी महत्ता, संस्कृत-विदुष एव भूयिष्ठं कर्तृत्वम्।

आचार्यरेवाप्रसादद्विवेदिनोऽभिनवाः सिद्धान्ताः

उमाकान्त चतुर्वेदी

महामहोपाध्यायानामाचार्यरेवाप्रसादद्विवेदिनां संस्कृतसाहित्ये वर्तते महदवदानमिति नाविदितं सुरभारतीसमुपासकानां। मासे तु हिमालय-मधिवसताम्। एते श्रीचरणाः सन्त्यस्माकं गुरुचरणाः इति आदितोऽन्तं यावत्साहित्यशास्त्रमुपदिशन्तः उच्चावचेषु मार्गेषु पाठसंशोधनेनास्माकं सौभाग्यमदं परिवर्धयन्त आसन्तदानीम्। इदानीममीषांमनेकानि काव्यानि, काव्यशास्त्राणि, सम्पादनानीति विपुलतरं विभ्राजते रचनासाहित्यम्। अलङ्कारशास्त्रे 'काव्यालङ्कारकारिका' द्विवेदिमहोदयानामादिमा रचना। अत्र पूर्वाचार्याप्रकल्पितान् काव्यशास्त्रीयसिद्धान्ताननादृत्याचार्य चरणैर्नवाः नवाः सिद्धान्ताः परिकल्पिताः। तेष्वेव काश्चित् यथामति अहमुपस्थापयामि। साहित्यशास्त्रे काव्यतत्त्वविचारणायां प्राचां वादत्रयं विजृम्भते -

1. शब्दार्थयुगस्य काव्यत्ववादः।
2. शब्दमात्रस्य काव्यत्ववादः।
3. शब्दमनादृत्य केवलमर्थस्य काव्यत्ववादः।

तत्र प्रथमं भामहाचार्यादारभ्य मम्मटाचार्यं शब्दार्थयोः काव्यत्वस्य दर्शनम्। दण्डिनः समारभ्यापण्डितराजं शब्दमात्रस्य काव्यत्ववादो द्वितीयः। तृतीयश्च शब्दवादमनादृत्य केवलस्यार्थस्य काव्यत्ववादो ह्यानन्दवर्धनाचार्यसम्मतः। किन्त्विदं नितरां निगूढं सहृदयसंवेद्यं काव्यवर्त्म इति प्रायोवादः। तथापि वाच्यप्रतीयमानाभ्यामर्थस्य द्वैविध्यं विधाय प्रतीयमानस्यैव काव्यत्वमिति कण्टकाकीर्णो मार्गः। किञ्च, तत्सम्बन्धिनी कारिका अपि न तथा विश्रामयति चेतः। तथाहि -

> योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
> वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥1॥[1]

एतेभ्योऽपि वादाः धृतविग्रहाः परस्परं कोलाहलमुत्पादयन्तीति मन्येऽननुगतमेव काव्यस्वरूपम्। एतन्मध्य एव कश्चन वाक्यसम्बन्धात्मकः साहित्यप्रकल्प इति चतुर्थोऽपि समुज्जृम्भितः। परमसौ पूर्वप्रकल्पापेक्षयाऽत्यन्तं वैज्ञानिकः इति मम प्रतिभाति। भोजराजात्परं चतुर्दशशतकोऽयं शारदातनयेनाप्यङ्गीकृतः। सोऽयं राजशेखरेण विहितः नामसंस्कारः काव्यपुरुषः चतुष्पथे ह्यात्मानं परिचेतुं, परिचाययितुं वाऽसमर्थो जातः।

---

[1] ध्वन्या., १.२

काव्यशास्त्रीयामिमामनवस्थां विलोक्य यीशुशतकस्य विंशतौ कालावधौ काव्यशास्त्रीया आचार्याः बद्धपरिकराः पुनरपि काव्यतत्त्वचिन्तनमारब्धवन्तः। तेषु सन्त्यग्रिमाः महामहोपाध्यायाः द्विवेदिचरणाः सनातनाः। एते सहृदयहृदये विद्यमानस्यानन्दकोशस्योल्लासे विभावनाख्यं लोकोत्तरं सामर्थ्यं बिभ्रतीमलङ्कृतार्थसंवित्तिमेव काव्यं स्वीकुर्वन्ति। तथाहि -

आनन्दकोषस्योल्लासे लोकोत्तरविभावना।
अलङ्कृतार्थसंवित्तिः कविता सर्वमङ्गला ॥1॥[2]

अर्थादानन्दकोशस्योल्लासे लोकोत्तरविभावना अलङ्कृतार्थसंवित्तिरेव सर्वमङ्गला कविता भवतीत्यन्वयः। आनन्दकोशश्च समष्टि-व्यष्ट्युपहितं सुषुप्त्यवस्थात्मकं कारणशरीरमिति वेदान्तनयेन। अत्र केवलं मुकुलितपुण्डरीकात्मकं सहृदयहृदयं, तस्योल्लासे प्रकाशे लोकोत्तरो विभावनाख्यो व्यापारः। लोकोत्तरत्वञ्चात्र लोकादतिरिक्तं काव्यमात्रैकलभ्यं, न तु, पण्डितराजेनाङ्गीकृतश्चमत्कारापरपर्यायरूपोऽर्थः। संवित्ति चित्कलापरपर्यायो विमर्शाख्यः। तस्यां संवित्तौ अलङ्कृतोऽर्थः विशेषणत्वेन सम्बद्ध्यते। अर्थपदेन चात्र शब्दार्थयोर्ग्रहणं, भावप्रत्ययेन शब्दस्यापि गृहीतत्वात्। सर्वमङ्गलेति आस्तिकनास्तिकेत्युभयोर्मङ्गलकारिणी कविता भवतीत्यर्थः। केवलमभिधावादिनः सनातनः। आनन्दकोशस्योल्लासः उपमादिविच्छित्तिवैशिष्टयेन, वस्तुमात्रविषयकत्वेन शृङ्गारादिरसविषयकत्वेनेति त्रिविधः। परं त्रिविधोऽप्येषो रसात्मक एव, योहि एतेषु भेदः स केवलं मात्रामात्रकृतो वेदितव्यः। तथा चोक्तं काव्यालङ्कारकारिकायाम् –

आनन्दकोशस्योल्लासः त्रिविधः परिकीर्त्यताम्।
औपम्यादि रसं वस्तु वा यतो विसिनोति सः ॥2॥[3]
उल्लासस्त्रिविधोऽप्येषः रसत्वेनैवकीर्त्यताम्।
मात्रामात्रकृतं भेदमवलम्ब्य हि भेदवान् ॥3॥[4]

एवमाभिः कारिकाभिरागतं यदलङ्कृतस्यार्थस्य ज्ञानं कविता, यस्यां तिष्ठति लोकोत्तरोदिभावनाख्यो व्यापारः, येनोल्लसितो भवति सचेतसामानन्दमयः कोशः इति। एतादृशी कविता भवति सर्वमङ्गलेति। एवमर्थसंघातरूपायाः कवितायाः आत्मा पर्याप्तिरूपा अलङ्कृतिः। अस्याः अलङ्कृतेः स्रोतासि केवलं चत्वारि। तद्यथा-

[2] का.का., १, पृ.१९
[3] का.का., १, पृ.१९
[4] का.का., २, पृ.१९

1. औपम्याद्युक्तयः (अत्र कुन्तकस्यातिशयोक्तिवक्रोक्तेरप्यन्तर्भावः)
2. गुणोक्तयः (अत्र सर्वेऽपि काव्यगुणाः, शोभाविलासो दाक्षिण्यमित्यादयोऽपि संगृह्यन्ते)
3. अर्थान्तरोक्तयः (प्रतीयमानरूपाः, काव्यजगतीमाः क्वचिल्लक्ष्यतया क्वचिद्व्यङ्ग्यतया च गृह्यन्ते।
4. वस्तूक्तयः (विभावादयः, भोजराजस्य रसोक्तेरप्यत्रैवान्तर्भावः)

तथाहि -

आत्मवानर्थसंघातप्रकाशः काव्यमिष्यते।
आत्मा चालङ्कृतिः सा च पर्याप्तिः तत्र हेतवः ॥4॥[5]
औपम्यादिर्गुणाः अर्थान्तरं वस्तूक्तिरेव च।
वस्तूक्तिश्च विभावादिबन्धरूपा रसावहा ॥5॥[6]
अर्थान्तरं च यत्सोऽयमवाच्योऽर्थः स च क्वचित्।
लक्ष्योऽपि प्रोच्यते सद्भिर्व्यङ्ग्यश्चापि परन्तु नः ॥6॥[7]
शब्दवृत्तेरमान्यत्वादासु संज्ञासु नो रतिः।
प्रतीयमानतामेकां त्रितयत्र तु मन्महे ॥7॥[8]
रसोक्तिरिति या संज्ञा सा न युक्ता रसो यतः।
कदापि नोच्यते शब्दैर्विभावाद्यर्थवाचकैः ॥8॥[9]
वक्रोक्तिरिति शब्दश्च हन्त निर्विषयस्ततः।
चतसृष्वासु सोक्तिष्वेवाश्नुते विलयं यतः ॥9॥[10]
वस्तूक्तौ वस्तुशब्दस्तु विभावद्येकतत्परः।
वस्तुनोऽन्यस्य कस्यापि काव्यत्वेनापरिग्रहात् ॥10॥[11]

काव्यकारणताविषये द्विवेदिचरणाः 'कारणं प्रतिभा काव्ये' इत्युक्त्यापाततः पण्डितराजमनुसरन्तो दृश्यन्ते परमार्थतश्चिन्तनायां तु बहुरास्ततोभिद्यत इतीदमपि स्वोपज्ञं चिन्तनम्। तद्यथा -

[5] का.का., ३, पृ.१९
[6] का.का., ४, पृ.१९
[7] का.का., ५, पृ.१९
[8] का.का., ६, पृ.१९
[9] का.का., ७, पृ.१९
[10] का.का., ८, पृ.१९
[11] का.का., ९, पृ.१९

कारणं प्रतिभा काव्ये सा चार्थप्रतिभासनम्।
प्रज्ञाकादम्बिनीगर्भे विद्युदुद्योतसोदरम् ॥11 ॥[12]

अत्रार्थप्रतिभासनं नाम अदृष्टचर-अपूर्वकल्पितादिवस्तुदर्शनम्, न तु पण्डितराजस्य 'काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितित्वम्। यतोहि उपस्थितोऽर्थः प्रायेण भवति स्मृतिरूपः। एतेन भाविवस्तुविषयाणां रामायणादीनां, सामाजिक वस्तुविषयाणां हर्षचरितप्रभृतीनां, कल्पितवस्तुविषयाणां मेघदूतादीनाञ्च प्रतिभानिरूपिता जन्यता न क्षीयते। यथा मेघमालाया विद्युदुद्योतः तथैव प्रज्ञायामर्थप्रतिभासरूपा प्रतिमा प्रद्योतते नितराम्। प्रज्ञायां कादम्बिन्याः आरोपेण तस्याः तरुणातपनिवारकत्वं, सर्वमङ्गलत्वं सरसत्वञ्च गम्यते। विद्युता सादृश्येन च प्रतिभायाः क्षणे क्षणे किञ्चिन्नवीनार्थविद्योतनं गम्यते। सेयं प्रतिभा स्वयम्भुसहेतुभ्यां द्विधा। आद्या आदिकवौ वाल्कीकेऽन्या च कालिदासप्रभृतिषु महाकविषु दूश्यते। तथाहि -

स्वयम्भूश्च सहेतुश्चेत्यसौ लोके द्विधा स्थिता।
आदिमादिकवौ दृष्टा द्वितीयाऽन्यत्र दृश्यते ॥14 ॥[13]

पण्डितराजो हि काव्यम्प्रति प्रतिभायाः, ताम्प्रति चादृष्ट व्युत्पत्यभ्यासादीनां कारणत्वं मनुते परं न तान्सहन्ते सनातनाः यतस्तेषां सत्त्वोद्रेकमात्रनियतत्वात्करण त्वमात्रमेव न पुनः कारणत्वमिति। तथोच्यते -

द्वितीया या भवन्त्यत्र कारणानि बाहून्यपि।
कारणं तु भवत्यत्र सत्त्वोद्रेको हि केवलः ॥15 ॥[14]

यथा मधूद्याने किसलयकुसुमादीनां सुषमा प्रतिवृक्षं नवीना तथैव सत्त्वोद्रेकस्य वैचित्र्येण प्रतिभायामपि नावीन्यं प्रतिप्रबन्धकाव्यं भिन्नं-भिन्नमवलोक्यते। काव्यम्प्रति प्रतिभाया उपादाकारणत्वं निमित्तकारणत्वमित्यु-भयात्मकमिति विशेषोऽवदानं सनातनानाम्। तथा च काव्यालङ्कारकारिका -

एकस्यापि कवेः काव्यप्रबन्धे येन दृश्यते।
बन्धभेदो मधूद्याने वृक्षश्रीभेदसोदरः ॥17 ॥[15]

[12] का.का., २, पृ.१९
[13] का.का., ५, पृ.२०
[14] का.का., ६, पृ.२०
[15] का.का., ८, पृ.२०

ततश्च प्रतिभाभेदोऽप्येकस्मिन्नपि दृश्यते।
कवौ, किं विद्युदुद्योतः स्यात् सदैवैकसौभगः ॥18 ॥[16]
उपादानं निमित्तञ्च काव्याय प्रतिभैव सा।
द्वितयं गर्भमात्रे यत् तस्यास्तिष्ठति तत् सदा ॥19 ॥[17]

इष्टसाधनताज्ञानं कृतिसाध्यताज्ञानञ्च प्रवृत्तिप्रयोजकं भवति। तदर्थं भवति अनुबन्धचतुष्टयम् विषय- विशय सम्बन्ध-प्रयोजनरूपम्। तद्धि आदितोऽन्तं यावत्समेषां प्रयोजनानामुपसंहाररूपं मम्मटप्रयोजनषट्कं सुप्रसिद्धं सत् त्रिषु भागेषु विभक्तम् कविनिष्ठम्, सहृदयनिष्ठम् उभयनिष्ठञ्चेति ! परमत्रापि द्विवेदमहोदयानां प्रयोजन दर्शनमत्यन्तं नवीनम्। एते स्वीकुर्वन्ति प्रभाते चटकानां चुङ्कृतिरिव पूर्णिमायां समुद्रोल्लास इव स्वभावतो जायते कविता कवेः मानसोल्लासात्। तदर्थं न श्रमो न वा क्व च न यत्नः। तथा कृते कवितैव न सा। सा हि आत्याविष्कारनैष्कर्म्यनैसर्गी। नैष्कर्म्यञ्च फलासक्तिविवर्जितं कर्म। स्वभावः खल्वेषः कवीनाम्। अत एव -

प्रयोजनं कवेः काव्ये नापि किंचन दृश्यते।
चुङ्कृतौ कलविङ्कस्य यथा प्राभातिके क्षणे ॥20 ॥[18]

1. युगावश्यकतापूर्तिः, सा च रघुवंशे रघूद्भवरूपा।
2. धर्मरक्षा, कुमारसम्भवे तारकासुरवधरूपा सा।
3. राष्ट्रप्रबोधनम्, मानसे, यवनाद्रक्षितं सनातनं धर्मम्।

अनेन पुरुषार्थचतुष्टयस्य सिद्धिर्भवति। भरतमुनेरपि नाट्यप्रयोगानामेतदेव प्रयोजनम्। अन्ते काव्यस्योपयोगित्वं सामाजिकानां कृतेऽनिवार्यतया स्वीकुर्वन्तः कथयन्त्याचार्याः काव्यं मातृस्तन्यमिव सर्वार्थसाधकमिति। तद्यथा -

युगावश्यकतापूर्तिः मन्त्रपूर्तिरपि क्वचित्।
प्रयोजनं रघुव्यक्ती रघुवंशे यथा कवेः ॥22[19]
अधर्मोत्थानवेलायां धर्मरक्षापि दृश्यते।

16 का.का., ९, पृ.२०
17 का.का., १०, पृ.२०
18 का.का., ११, पृ.२०
19 का.का., १३, पृ.२०

काव्यार्थस्तुलसीकाव्ये यथा यवनशासने ॥23[20]
राष्ट्रदेवप्रबोधोऽपि विश्वदैवतसाक्षिकः ।
काव्य प्रयोजनं पुम्भ्यः पुमर्थाश्चतुरो दुहन् ॥24[21]
न स्यात्प्रयोजनं स्याद् वा कवेः, सामाजिकस्य तु ।
मातृस्तन्यं यथा काव्यं हन्त सर्वार्थसाधकम् ॥25[22]

काव्यात्मत्वविषयेऽपि द्विवेदिमहोदयानामभिनव एव पन्थाः । अलं भावात्मकोऽलङ्कारः काव्यस्यात्मा इति एतेषां सिद्धान्तः । काव्यमात्रनिष्ठो भवत्यलङ्कारः । सामाजिकनिष्ठश्च रसः । अतोऽन्यनिष्ठस्यान्यस्मिन् आत्मत्वेन स्वीकरणं वृथा । यदि चेत्काव्यनिष्ठोऽप्ययमनुभवसिद्धस्तदा असावपि काव्यात्मकत्वेनालङ्कार एवालं भावात्मकत्वात् । तथा चोच्यते -

काव्येऽलङ्कार एवात्मा स एवास्मिन् स्थितो यतः ।
अन्यकायस्थितो धर्मः किमन्यत्रात्मतां व्रजेत् ॥23[23]

अलङ्कारशब्दस्त्रिधा व्युत्पाद्यते -

1. भावे[24] सूत्रेण अलङ्कृतिरलङ्करणं वालङ्कार इत्यर्थे घञ् प्रत्ययेनालङ्कारशब्दो निष्पद्यते । भवति चानेन सौन्दर्यस्याभिव्यञ्जना ।
2. अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्[25] सूत्रेण अलंक्रियतेऽनेनेति करणं व्युत्पत्त्या घञ् प्रत्यये अलङ्कारशब्दो निष्पद्यते । सौन्दर्यसाधनज्ञार्थः । एवमुपमादीनां सौन्दर्यनिष्पादकानां सङ्ग्रहः ।
3. कर्मण्यण्[26] सूत्रेणालङ्करोतीत्यर्थे अलमि - कर्मण्युपपदे अणि अलङ्कर्तेत्यर्थो निष्पद्यते । द्विवेदिमहोदयानामलङ्कारस्य एवार्थोऽभीष्टोऽलङ्कारस्य । एते उररीकुर्वन्ति यदलङ्कारभाव एवालङ्कार स च सौन्दर्ये, तन्निष्पादकेऽर्थेऽपि सामानाधिकरण्येनाधितिष्ठति जीवब्रह्मणोश्चिद्घनमिव शशिदिवाकरयोरग्नितत्त्वमिव वा । अवलोकयन्तु तत्र भवन्तः -

[20] का.का., १४, पृ.२०
[21] का.का., १५, पृ.२१
[22] का.का., १७, पृ.२१
[23] का.का., २६, पृ.२२
[24] अष्टा. 3.3.18
[25] अष्टा. 3.3.19
[26] अष्टा. 3.2.1

अलम्भावो ह्यलङ्कारः, स च सौन्दर्यतत्कृतोः ।
विभक्तात्मा विभुर्जीवब्रह्मणोश्चिद्वनो यथा ॥48 ॥[27]

अलङ्कारस्यावाचकत्वम् –

प्रायशः सर्वैरेवालङ्कारस्य वाच्यत्वमङ्गीक्रियते। तत्रानन्दवर्धनाचार्यास्तु इदम्प्रथमतया गण्यन्ते। एते लिखन्ति -

तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरूपमादिभिः ।
बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैः काव्यलक्ष्मविधायिभिः ॥1/3

किन्त्वलङ्काराणां भवति वाक्यार्थरूपता, वाक्यार्थश्च संसर्गमर्यादयाऽवभासत इति भासमानत्वादलङ्काराणां कथं वाच्यता सङ्गच्छत इति अवाच्य एवालङ्कार इति द्विवेदिवर्याणामभिप्रायः। यथा सनातनधर्मस्य प्रतिष्ठायां दर्शनम् आचारः उपासना प्रायश्चित्तमिति चत्वारः पादाः, तथैव काव्यपुंसोऽपि स्थापनायामलङ्कारो ध्वनिः गुणः रसश्चेति चत्वारो पादाः भवन्ति एभिरेवोपपन्नः व्यक्तसन्दर्भः काव्यत्वं लभते। यथा -

सौन्दर्यमात्रोल्लासेऽपि स्याच्चमत्कृतिरन्यथा।[28]
वाक्यार्थ एवालङ्कारो वाक्यार्थश्च समन्वयः ॥
पदार्थानां स संसर्गमर्यादामात्रगोचरः ॥[29]
यथा सनातनो धर्मो दर्शनं संविधानकम्।
दण्डनोपासने चेति चतुष्पात्त्वेन गाहते ॥[30]
तथैव भगवानेषोऽप्यलङ्कारो ध्वनिं गुणान्।
उपमादीन् रसाश्चापि काव्यकायेऽवगाहते ॥216 ॥[31]

अलङ्काराणां वाच्यत्वमङ्गीकुर्वतो जनान् प्रति द्विवेदिनः कथयन्ति अलंभावात्मकोऽलङ्कारश्चेदिवादिभिर्वाच्यस्तदेवादीनां प्रयोगमात्रेणापि कथं नोत्पद्यते चमत्कारः ? तद्यथा -

---

27 का.का., २८, पृ.२२
28 का.का., ३३, पृ.२३
29 का.का., ३४, पृ.२३
30 का.का., १५७, पृ.३५
31 का.का., १५८, पृ.३५

उपमादिस्वरूपेऽपि वाच्यतां न स्पृशत्यसौ।
अन्यथा स्यादिवादिभ्यः केवलेभ्यश्चमत्कृतिः ॥[32]

काव्यस्य ज्ञानरूपता -

द्विवेदिवर्याणां मतेन काव्यं ज्ञानरूपम्। यतोहि प्रतिभा ज्ञानरूपा, अतोऽस्याः जायमानत्वात्काव्यस्यापि ज्ञानरूपतैव प्रमाणीभवति न तु शब्दबन्धस्वरूपता लिपि-बन्धरूपता वा। उच्चार्यमाणताधर्मी शब्दो यद्यपि बाह्यस्तथापि असौ ज्ञानात्मनैव काव्यत्वं भजते। काव्ये शब्दालङ्कारा अपि तथैव बौद्धाः, तेषु विद्यमानस्य चमत्का-रस्य सहृदयहृदयेष्वेवोत्पन्नत्वात्। तद्यथा -

द्वैरूप्यं वस्तुमात्रस्य दृश्यते व्यवहारिभिः।
बाह्यत्वेन स्थितस्यास्य ज्ञानत्वेन स्थितस्य च ॥67 ॥[33]
काव्यं ज्ञानैकरूपं हि बाह्यत्वं तत्र न क्षमम्।
प्रतिभा ज्ञानरूपा यत् काव्यत्वेन प्रकाशते ॥68 ॥[34]
उच्चार्यमाणताधर्मी शब्दो बाह्यो हि सर्वथा।
तथाप्यर्थं विना काव्यभावं नासौ प्रपद्यते ॥69 ॥[35]

रसतत्त्वाश्रयविमर्शः -

द्विवेदिमहाशयानां मतेन रसगुणालङ्कारादिभिः काव्यतत्त्वैः पूर्णतामापन्ना संविद्रूपेणावस्थिता चिच्छक्तिरेवक्यापिविच्छित्त्यां अलङ्कृतिमापन्ना काव्यरूपतां भजते एवं भूतस्य काव्यस्य प्रभावो यदा सहृदयानां चेतसि जायते तदासौ रसपदवाच्यो भवति सोऽसावाह्लादकत्वमापन्नो रसः सामाजिकनिष्ठो धर्मः न पुनः काव्यनिष्ठः। किञ्च, सामाजिको द्रव्यरूपः, काव्यञ्च ज्ञानात्मकत्वाद् गुणरूपमिति तयोः काव्य सामाजिकयोर्महान् भेदः। एवं सामाजिके स्थितस्य रसस्य काव्यशरीरे आत्मत्वे-नावस्थिति रसम्भवेति सुनिश्चितम्। तथा चात्र कारिकाः -

या चैषा पूर्णता युक्ता संविन्नाम्नी नवा वधूः।
सैव विच्छित्तिसम्पन्ना काव्यभावं प्रपद्यते ॥230 ॥

---

32 का.का., १५९, पृ.३५
33 का.का., ४३, पृ.२४
34 का.का., ४४, पृ.२४
35 का.का., ४५, पृ.२४

प्रभावो यस्तु काव्यस्य सामाजिकचितिस्थितः ।
स रसः, स न काव्यस्य धर्मतां प्रतिपद्यताम् ॥231॥
काव्यं सामाजिकश्चेति भिन्नरूपावुभावपि ।
अन्यस्थितस्य धर्मस्य कथं स्यादन्यधर्मता ॥232॥

यदि काव्ये रसस्थितिरिष्यते, तदपि सम्भाव्यत एव। काव्यं ज्ञानरूपं रसोऽपि ज्ञानरूपः। अनयोरेकात्मत्वेन कल्पनायां रसः काव्ये स्यादित्याचार्याः प्रमाणम् -

काव्यस्य ज्ञानरूपत्वे रसयोगोऽपि युज्यते ।
ज्ञानस्यापि रसस्येव चिदात्मैकात्म्यदर्शनात् ॥233॥
ज्ञानस्य चित्तवृत्तित्वेऽप्यस्ति नैव रसक्षतिः ।
इत्यादेश्चित्तवृत्तेर्हि रसत्वेनाभिमानतः ॥234॥

काव्यरसयोर्विद्यते ह्याश्रयाश्रयिभावसम्बन्धः। आत्मा समुद्रः, रसो जलम्, काव्यञ्च मत्स्यः। मत्स्ये जलसङ्क्रान्तिरिव काव्येऽपि रससङ्क्रान्तिं निवारयितुं न शक्यते। एवमिह रसो धर्मी काव्यञ्च धर्म इति रसकाव्ययोर्नूतन एव सम्बन्धः। तथा चोच्यते ह्याचार्यचरणैः -

आत्माऽब्धिः शफरः काव्यं रसश्चैव रसस्ततः ।
शफरे जलवत्काव्ये रसः केन निवार्यताम् ॥235॥
एवं रसस्य धर्मित्वं जलस्येव प्रसज्यते ।
काव्यस्यैव च धर्मत्वं शफरस्येव का गतिः ॥236॥

एवं साहित्यशास्त्रे काव्यशास्त्रमाश्रित्योल्लसितः नवाः विचाराः वादिप्रतिवादिभ्यां विमृश्याङ्गीकृताः सिद्धान्तरूपतामुपगताः। येषामाकलित विग्रहेयं काव्यालङ्कारकारिका विकिरति दिशि दिशि कस्तभि कामोदमिति विभावामहे। यद्यप्यत्र भाषातत्त्वं, सहृदयदृशा काव्यविचारः काव्यत्वस्य महाव्याप्तिः, काव्यधर्माः लक्षणाख्याः धर्माः, रसे काव्यधर्मत्वाभाव इत्यादयो बहवो नूतननूतनाः सनातनानां गवेषण योद्गताः मणयो देदीप्यन्ते। येषां विद्वद्बुद्धिनिकषोपल परीक्षणपूर्वकमन्वीक्षणमत्यावश्यकं मन्ये। अहञ्चेह समयाभावात् सामर्थ्याभावाच्च दिङ्मात्रमेवोन्मीलितवानिति आचार्यणां राष्ट्रोपकारकं राद्धान्तमुदीर्य विरामं लभे -

वृष्टिः काव्यं कविर्मेघः सस्यसम्पद्रसादूमे ।
वृष्टिमात्रैकविज्ञाने वयं चातकचञ्चवः ॥

शब्दसंकेत

1. अष्टा. अष्टाध्यायी
2. का.का. - काव्यालङ्कारकारिका
3. ध्वन्या. - ध्वन्यालोक

सन्दर्भग्रन्थसूची

1. काव्यालङ्कारकारिका (अभिनवं काव्यशास्त्रं), सनातनकवी रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण १९७७
2. ध्वन्यालोक, आनन्दवर्धन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1965
3. पाणिनिविरचिता अष्टाध्यायी, परिष्कर्ता श्री गोपालदत्तशास्त्री, (सम्पा.) श्री गोपालदत्तपाण्डेयः, चौखम्बा सुभारती प्रकाशन ग्रन्थमाला -१९, २०१७

सनातन कवि महामहोपाध्याय आचार्यरेवाप्रसादद्विवेदिकृत सप्तर्षिकाङ्क्रेसम् – एक विमर्श

प्रभुनाथ द्विवेदी

देवं वेदं द्विवेदं हि वन्दे नाट्यं च तत्कृतम्।
दृष्ट्वा श्रुत्वा च नन्दन्ति रसिकाः सुधियस्सदा ॥1॥
नाट्यं समवकारस्तु नाम सप्तर्षिकांग्रेसम्।
सनातनकवेरेव तद्वस्तु सर्वथा नूत्नम् ॥2॥
दशाङ्कं पात्रसङ्कीर्णं रसभावसमन्वितम्।
अहोभी रचितं स्वल्पै राजनीतिनिदर्शनम् ॥3॥
सनातनकविः सोऽयं विश्वनाथस्य सन्निधौ।
रेवाप्रसाद आख्यातो द्विवेदी काशते कुले ॥4॥
नाट्यमिदं समालम्ब्य सप्तर्षिकांग्रेसाभिधम्।
विमर्शः क्रियते कश्चिद् यथादर्शं यथामति ॥5॥

अधुना संस्कृत जगत् में महामहोपाध्याय सनातन कवि आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी भला किसके लिए अपरिचित है!। काशी-विद्वन्मणिमाला के भास्वर रत्न आचार्य द्विवेदी जी सम्प्रति काशी की विभूति के रूप में सर्वश्रद्धेय तो हैं ही, समस्त भारत किं वा विश्व-संस्कृत-जगत् में संस्कृत-काव्य एवं काव्य-नाट्य-शास्त्र के जङ्गम सद् विग्रह के रूप में प्रतिष्ठित हैं। संस्कृत और संस्कृति के सुदृढ़ अभिराम सेतु तथा भारत-भारती के समुज्ज्वल समुच्छित कीर्तिकेतु, अविराम संस्कृत-सपर्या के पर्याय एवं निखिल निरवद्य मानवीय गुणों के निकाय प्रो. द्विवेदी जी की निरन्तर सारस्वत साधना की निष्ठा वस्तुतः अनुपमेय और अनुकरणीय है। आपके कर्तृत्व-सिन्धु का अवगाहन कर हम आपकी नैसर्गिक प्रतिभा और वैदुषी का साक्षात्कार करते हैं। आप अनेक महनीय सम्मानों और पुरस्कारों से विभूषित हैं। आपके शिवसङ्कल्प ने आपको सुदीर्घ हितायु प्रदान की है और अद्यापि आपका साहित्य-विद्यादान सत्र सतत प्रवर्तमान् है। भगवान् महाकालेश्वर विश्वनाथ से प्रार्थना है कि आपको शताधिक वर्षों की सुखायु प्रदान करें ताकि आपके ज्ञान की अमृतवृष्टि से संस्कृति-संस्कृत-सृष्टि सुषिक्त होती रहे।

प्रो. रेवाप्रसाद द्विवेदी ने 'यूथिका' नाम्नी नाटिका (1976 ई.) के पश्चात् 'सप्तर्षिकांग्रेसम्' (दशाङ्क) नामक महानाटक की रचना की। यद्यपि यह महानाटक मात्र पचीस दिनों (7 मई, 1977 ई. से 31 मई, 1977 ई.) के अध्यवसाय से पूर्णता को प्राप्त हुआ किन्तु इसका प्रकाशन बाईस वर्षों बाद जनवरी, 2000 ई. के प्रारम्भ में हुआ। इस व्यवधान पर सम्प्रति हमें अवधान देने की आवश्यकता नहीं

है। प्रसन्नता का विषय है कि प्रकाशित होकर नाट्यरसिकों के समक्ष उपलब्ध हुआ।

महानाटककार सनातन कवि ने दशाङ्ककलेवर के कारण 'सप्तर्षिकांग्रेसम्' को 'महानाटक' तो कहते ही हैं किन्तु साथ ही इसे 'समवकार' की संज्ञा भी प्रदान करते हैं। वे प्रावेशिकी में इसका स्वरूपोद्घाटन करते हुए स्वयं लिखते हैं - "अथेदं प्रस्तूयते 'सप्तर्षिकाङ्ग्रेसं' नाम महानाटकम्। अत्र अङ्का दश, भाषा संस्कृतम्, वस्तु सप्तसप्ततितमे ख्रीष्टाब्दे घटितं भारतवर्षस्य लोकसभाया निर्वाचनम्, नेतारो नैके, रसो वीरप्रायः, वृत्तिः सात्त्वतीसहकृता भारती। एवं च समवकारकल्प एषः, दशसु रूपकविधासु समवकीर्यन्तेऽत्र ते तेऽर्था इति।"

इस प्रकार, कर्ता ने अपनी इस नाट्यकृति की द्विरूपता का न केवल आ-ख्यान किया अपि तु उसका हेतु-विश्लेषण भी किया है क्योंकि नाट्याचार्यों द्वारा समवकार का जो लक्षण किया गया और स्वरूप प्रतिपादित किया गया है वह सर्वात्मना 'सप्तर्षिकाङ्ग्रेसम्' में यथार्थतः सङ्गत नहीं होता। इसीलिए, दसों अङ्कों की पुष्पिकाओं - 'इति सप्तर्षिकाङ्ग्रेसनाम्नि समवकारे प्रथमोऽङ्कः॥' इत्यादि में इस टिप्पणी (प्रथम अङ्क की पुष्पिका में) की योजना करनी पड़ी - 'समवकार' इति समवकार-तुल्यत्वात्। अर्थात् समवकार इसलिए कि समवकारतुल्य होने से।

जनयिता अपने जन्य का नाम कुछ भी रखे इसमें अन्य से क्या? सनातन कवि जब स्वयम् इस महानाटक को समवकार तुल्य होने से समवकार कह रहे हैं तो पाठक या प्रेक्षक को क्या आपत्ति? वस्तुतः समवकार कहते हुए भी वे स्वयं इसे पूर्णतः समवकार कोटि में परिगणित नहीं करते किन्तु 'तुल्यत्वात्' लिखकर वे भी इसे 'समवकार जैसा' ही मानते हैं। क्योंकि समवकार के पूर्वनिर्धारित सर्वमान्य लक्षण के आधार पर समवकार की महानाटकता नहीं हो सकती। समवकार में मात्र तीन ही अङ्क स्वीकार किये गये हैं और वे भी भिन्न-भिन्न कथाविस्तार वाले। पहला अङ्क सुदीर्घ और शेष दो स्वल्पाकार। इसी प्रकार, वस्तुनेता आदि विषयक अनेक असमानताएँ हैं। हाँ, सप्तर्षिकाङ्ग्रेसम् में समवकार की निरुक्ति विषयक तुल्यता अवश्य है। दशरूपक की अवलोक टीका में धनिक ने समवकार नामकरण का हेतु प्रकट करते हुए निरुक्ति की है - 'समवकीर्यन्तेऽस्मिन्नर्था इति समवकारः।' ऐसी ही मिलती-जुलती निरुक्ति सनातन कवि ने भी दी है - 'समवकीर्यन्तेऽत्र ते ते अर्था इति।'

अतः यदि अङ्कों की संख्या और देवदानव विषयक वस्तु तथा पात्रों को छोड़ दिया जाय तो सामान्यतः 'सप्तर्षिकाङ्ग्रेसम्' में कथञ्चित् समवकारत्व घटित हो जायेगा।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण बात और! सनातन कवि आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी ने काव्यशास्त्र और नाट्यशास्त्र में अनेक स्वोपज्ञ नवीन मान्यताएँ स्थापित की हैं। कवि क्रान्तद्रष्टा होता है और आवश्यक नहीं कि वह पहले से बनी लीक का अनुसरण करे। महाकवि भवभूति ने 'एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा' के विरुद्ध उत्तररामचरित में करुण को अङ्गीरस के रूप में स्थापित करते हुए ललकारा है - 'एको रसः करुण एव।' सनातन कवि आचार्य द्विवेदी भी उत्तरसीताचरित में सीता को राष्ट्रदेवता के रूप में स्थापित करते हैं और यहाँ 'सप्तर्षिकाङ्गेसम्' महानाटक को यदि 'समवकार' घोषित करते हैं तो इसमें हर्ज (हानि) ही क्या है? हम इन्हें परम्परा से विद्रोह करने वाला कवि तो नहीं कहेंगे किन्तु आधुनिक सन्दर्भों में 'प्रत्यग्र प्रयोजक कवि' अवश्य ही कहेंगे। वे इससे भी उचित विशेषण के सर्वथा अर्ह हैं।

'सप्तर्षिकाङ्गेसम्' यह सिद्ध करता है कि संस्कृत का कवि समाज और राष्ट्र में घटित होने वाली प्रत्येक घटना के प्रति संवेदनशील है। वह अपनी उचित प्रतिक्रिया देता है, उसे अपनी रचनाओं के माध्यम से अभिव्यक्ति देता है क्योंकि वह अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक है, सदोत्थायी है और समय के साथ चलता भी है। वह भीरु नहीं है, निर्भय होकर सुहृत्सम्मित उपदेश देता है। यही उसके काव्य का प्रयोजन है।

यहाँ विमर्श के तीन प्रमुख बिन्दु हैं - वस्तु, नेता और रस। अपनी प्रावे-शिकी में नाटककार ने इन तीनों का सङ्केत कर दिया है। इसमें वस्तु राजनीति विषयक है और इतिहासगत (प्रत्यक्ष अनुभूत = दृष्ट और श्रुत) होने से प्रख्यात है। भारत में तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गान्धी द्वारा आपत्काल घोषित और लागू करना, प्रतिपक्ष के नेताओं और कार्यकर्ताओं का कारागार में डालना, उनके पुत्र संजय गाँधी द्वारा परिवार नियोजन के नाम पर जनता पर अत्याचार, अशिष्ट व्यवहार, काँग्रेस से अनेक नेताओं का बहिर्गमन, विपक्षी दलों की एकजुटता और 'जनतादल' का गठन, 1977 ई. का लोकसभा का निर्वाचन, काँग्रेस की पराजय तथा जनता दल की सरकार का अस्तित्व में आना आदि राजनीतिक घटनाक्रम ही इस रूपक की कथावस्तु है जिसे जानुक-सुन्दरक के संवाद, राजनेताओं के भाषणों, आकाशवाणी और दूरदर्शन के प्रसारणों के माध्यम से प्रदर्शित किया गया है।

इसमें युद्ध तो है किन्तु राजनीतिक दलों का परस्पर वैचारिक युद्ध है और जय पराजय भी चुनावी है। आरोप प्रत्यारोप ही प्रहार है, कहीं कहीं उग्रता है, उत्तेजना और तोड़ फोड़ भी है। इस तरह, कपट और विद्रव चित्रित है किन्तु धर्म

और काम शृङ्गार नहीं है। अर्थ शृङ्गार की स्थिति मानी जा सकती है।

नाटक के पूर्वरङ्ग में प्रथमतया पुष्करघोषनान्दी ततश्च मङ्गलनान्दी का प्रयोग हुआ है। सूत्रधार और नटी मिलकर नान्दी पाठ करते हैं और कवि बड़ी चतुराई से प्रत्येक चरण में ऐसे आद्यक्षरों की योजना करता है कि उन्हें एकत्र क्रम से मिलाने पर 'काङ्-ग्रे-स-स्य-प-रा-भ-वम्'– ये नाम सूचक दो पद बनते हैं। सूत्रधार और नटी बड़ी नाटकीयता के साथ इन आद्यक्षरों का सञ्चयन करके इस अभिनव प्रयोग का नामकरण 'काङ्ग्रेसपराभवम्' करते हैं किन्तु यह अशुभ अश्लीलता का द्योतक होने के कारण इसे 'सप्तर्षिकाङ्ग्रेसम्' की संज्ञा प्रदान करते हैं जिसका शाब्दिक अर्थ है - (सन्) सतहत्तर का काँग्रेस (दल)। पूर्वरङ्ग की यह शताब्दी कुतूहल क्रीडा क्या ही कमनीय है! पूर्व रङ्ग के अन्त में नेपथ्य से वस्तुनान्दी ने इस अभिनव प्रयोग का सार ही अग्रेसर कर दिया -

'याते जवाहरे स्वर्गं याते लालबहादुरे।
गोप्तृणां हन्त पारुष्यैः काङ्ग्रेसः शासनाच्च्युतः ॥'

इस प्रकार, त्रिविधनान्दी की योजना भी एक नूतन प्रयोग है।

नाट्य आदि से अन्त तक संवादात्मक होता है। 'सप्तर्षिकाङ्ग्रेसम्' में दस अङ्कों की योजना है। पूर्वरङ्ग में सूत्रधार, नटी और पारिपार्श्विक के संवाद हैं। प्रथम अङ्क आकार की दृष्टि से लघुतम है। इसमें काँग्रेस कार्यकारिणी के सदस्यों के संवाद से वस्तु आरम्भ होती है और बाद में काँग्रेस अध्यक्ष देवकान्त वरुवा तथा श्रीमती इन्दिरा गान्धी का संवाद निबद्ध हैं। पूरे नाटक में दो-पात्र ऐसे हैं जिनके संवादों के माध्यम से नाटकीय कथावस्तु का सम्पूर्ण दृश्य रङ्गमञ्च पर अभिनीत होता है। ये दोनों नागरक हैं। जिनका नाम है - जानुक और सुन्दरक। इनका प्रवेश द्वितीय अङ्क के अङ्कावतार विष्कम्भक में होता है और ये दोनों अन्तिम दशम अङ्क तक संवाद करते हुए दिखाई देते हैं। द्वितीय अङ्क में जनता के जयघोष के बीच जयप्रकाशनारायण आते हैं और राज्यपाल से मिलकर बात करने के पश्चात् पूरे अङ्क में राज नारायण सिंह से संवाद करते हैं। तृतीय और चतुर्थ अङ्क में जानुक-सुन्दरक का संवाद चलता है। बीच-बीच में आकाशवाणी वार्ता भी सुनाई पड़ती है। पञ्चम अङ्क में इन दोनों के साथ कुछ ग्रामीण युवक भी मिल जाते हैं। षष्ठ अङ्क लम्बे संवादों और आकाशवाणी वार्ताओं से बोझिल हो उठा है। सप्तम अङ्क में अनेक सामान्य पात्रों का संवाद है और अष्टम अङ्क तीन दृश्यों में विभक्त है जिनमें द्यूतकारों की अक्षक्रीड़ा और संवाद, मतदान की दृष्टि से निषेधाज्ञा लागू होने पर नागर-आरक्षी संवाद, कपट शवयात्रा तथा अन्तिम दृश्य में निर्वाचन परिणाम

की जिज्ञासा क्रीड़ा में एक परिवार की सरक्तता प्रदर्शित है। नवम-दशम अङ्क में निर्वाचन-परिणाम के साथ जानुक-सुन्दरक तथा जयप्रकाशनारायण संवाद कते हुए अवशिष्ट कथावस्तु का निर्वाह करते हैं। जिसमें काँग्रेस की पराजय, जनता दल की विजय के साथ मोरारजी भाई के प्रधानमन्त्रित्व में नई सरकार का गठन होने से सत्तापरिवर्तन के साथ इस समवकार महानाटक का सुखद अन्त होता है।

क्रान्तिकारी कवि ने भरतवाक्य भी परम्परा से हटकर, जानुक और सुन्दरक से करा दी है। भरत वाक्य प्रजातन्त्र के वैशिष्ट्य से संवलित है -

प्रशासनं प्रकृतिहितेषु जागृयात्
प्रजाजनो निजमनुशास्तु संयतः।
समर्च्यतां पुरुषहृदि स्थितो विराट्
स पूरुषः परिगतराष्ट्रभक्तिभिः॥

तीन अङ्को वाले समवकार में पात्रों की संख्या बारह कही गयी है किन्तु यह समवकार तो दश अङ्कों का है। यद्यपि यहाँ भी पात्रों का बाहुल्य है तथापि महानाटक की दृष्टि से इसे पात्रबहुलता नहीं कही जा सकती। नायक-नायिका का प्रश्न न तो वहाँ है और न यहाँ ही। 'सप्तर्षिकाङ्गेसम्' में स्त्री पात्र अङ्गुलिगण्य हैं, शेष सभी पात्र पुरुष हैं। सभी पात्र विख्यात हैं और उनके अपने फल भी अलग-अलग हैं किन्तु प्रतिपक्ष के पात्रों का एक सम्मिलित उद्देश्य है सत्ता परिवर्तन और राष्ट्र में लोकतन्त्र की पुनः स्थापना। इस उद्देश्य में वे सफल होते हैं। लोकसभा निर्वाचन में जनता दल के प्रत्याशी इस महानाटक के पात्र मोरारजी, अटलबिहारी वाजपेयी प्रभृति विजयी होते हैं और मन्त्री के रूप में भागीदारी करते हैं। राजनरायण सिंह की विजय और मन्त्रिपद उल्लेखनीय है।

'सप्तर्षिकाङ्गेसम्' का अङ्गीरस 'वीर' ही है। स्वयं नाटककार ने यहाँ वीररस स्वीकार किया है। वीररस का स्थायी भाव 'उत्साह' इसमें सर्वत्र परिव्याप्त है। यद्यपि यहाँ देवों-दानवों का युद्ध प्रदर्शित नहीं है तथापि नैतिक, राजनैतिक और वैचारिक सङ्घर्ष तथा निर्वाचन रूप सङ्ग्राम में जय-पराजय अवश्य चित्रित है। सनातन कवि ने अपनी परिहास प्रवृत्ति का परिचय देते हुए यत्र-तत्र हास्यरस की योजना भी की है। यह शिष्ट हास्य कवि की प्रतिभा और व्युत्पत्ति से अभिव्यक्त होकर पाठकों/प्रेक्षकों के अन्तःकरण को गुदगुदाता है। कुछ प्रसङ्ग दर्शनीय हैं -

प्रश्नः – को नेता?
उत्तरम् – प्रभुतां गतो निजगृहं स्वर्जेन यः पूरयेत्।

प्रश्नः – का साध्वी ?
उत्तरम् – बहुवल्लभापि हि भजेद् रुद्राक्षमालां तु या।
प्रश्नः – कः प्राज्ञः ?
उत्तरम् – परवञ्चनापटुरपि प्रेम्णैव भाषेत यः।
प्रश्नः – किं तीर्थम् ?
उत्तरम् – निवसन्ति यत्र त इमे मान्याः, न काश्यदिकम् ॥3.10॥

आगे सनातन कवि कहते हैं - 'नेतृणामुत्सा विश्वविद्यालयाः।' और फिर उसी हास्य पद्धति में लिखते हैं -

कश्छात्रः ? - प्रविहाय यः श्रममुपादत्तेऽङ्कमध्वान्तरात्।
कः प्राध्यापकः ? - इष्टभाषणपटुः कक्षानदीं यस्तरेत।

पुनश्च,

यो गालीः सहते स सत्कुलपतिर्मासान्तसद्वेतनाः।
यत्रैते निवसन्त्यसौ परिसरः स्याद् विश्वविद्यालयः ॥3.11॥

आगे चतुर्थ अङ्क[1] के एक प्रसङ्ग में काशी के पण्डितों पर एक हास्य-मिश्रित टिप्पणी यथार्थ ही हँसाती है -

जानुकः – छलं च भाटकक्रीतानां श्रोतृणां समूहनं संजयस्य भाषणाय।
सुन्दरकः – भाटकेन हि विद्वत्परिषत्सु काशिकेयाः पण्डिता अपि सुखमेकत्री क्रियन्ते। तर्हि किमपराद्धं जनतया ?

षष्ठ अङ्क के आरम्भ में राजनारायण सिंह का चित्रण - 'प्रविशति हरितपरावृ-तशिरा वृद्धकूर्चश्मश्रुको राजनारायणसिंहः' - करते हुए उन्हें 'विश्वनाथ का नान्दी' कहना हास्य के लिए पर्याप्त है -

जानुकः – सुन्दरक ! पश्य 'विश्वनाथस्य नन्दी'।
सुन्दरकः – जानुक ! किं वा भजसि ? राजनारायण एषः।

[1] पृ. 51

आगे भाषण देन के लिये समुद्यत माइक हटा लेने के लिए कहते हैं और आत्मविषयक परिचय देते हैं -

"अहं हि अश्वघोषो भाषणे, कालिदासः शक्तौ, दण्डी उपद्रवे, बाणो विपक्षे सुबन्धुश्च प्रजातन्त्रे।"

नवम अङ्क[2] में सुन्दरक राजनारायण सिंह को देखकर जानुक से कहता है-

"पश्य पश्य मूर्तिमानसौ विस्मयरसः।"
जानुकः –"को वा?"
सुन्दरकः –"ननु राजनारायणः।"
जानुकः –"अलं परिहासेन।"

अष्टम अङ्क में एक प्रसङ्ग अतीव मनोरञ्जक है। पति अपनी पत्नी से कहता है[3] –
"विचारयतु भद्रे! कीदृशी ननु नग्नतमा अश्लीला वा स्थितिः। कुमार्योऽपि परिवारनियोजनेषु शिक्ष्यन्ते। किं नु भाठि?"
पत्नी कहती है - "किमत्र चित्रम्! अस्माकं प्रसूतिविभागस्य प्रधानचिकित्सिका कुमारी एव वर्त्तते।"
पति साश्चर्य पूछता है –"अपि! कुमारी प्रसवेषु प्रवीणा!"
पत्नी –"अथ किम्?"

इस प्रकार के हास-परिहास के प्रसङ्ग इस महानाटक में अन्यत्र भी है। यथा – दारा सिंह की नूरी कुश्ती (लीलामल्लयुद्ध), निषेधाज्ञा तोड़ने के लिए कपट शवयात्रा[4]।

भारत के विभिन्न राज्यों में संस्कृतभाषा की दुर्दशा को रेखाङ्कित करते हुए सनातन कवि संस्कृत का गौरव-गान करते हैं, कहते हैं – "अस्ति च संस्कृतं विश्वौषधम्।" अत एव सनातनस्योद्गारः -

आदिक्रोडविवाहपर्वणि जगत्पित्रा धरित्र्यै मुदा
पूर्वं यौतुकभावतः सुरगवी प्रादायि सर्वार्थसूः।
सैषा सत्कवितेव धातृरचनामेतामतिक्रम्य 'तत्
तत्त्वं स्फाटिकदर्पणे नु सुरसप्रत्यक्षयत्यञ्जसा ॥7.23॥

अपि च,

---

2 पृ. 159
3 स.कां. पृ. 153
4 स.कां. पृ. 148

विद्यास्थानानि याष्टादश सलिलनिधीन् भूरिवाधाय तेषां
मन्थात्साहित्यविद्यामृतमपि निखिलार्थप्रदं संबिभर्त्ति।
सेतुर्भूत्वा ततोऽस्मिन्नपुरुषपुरुषद्वन्द्वतीर्थे स्थितात्मा
साऽध्यक्षा कल्पवल्ली जयति भुवि नृणां भारती संस्कृताख्या॥7.24॥

किञ्च,

यस्यां पाण्डित्यकण्डूविघटनपटिमा ताण्डवं टीकते, यां
सत्काव्य-द्रोण-मेघा अपि निपुणतमं प्लावयन्ते रसौघैः।
तां काञ्चिच्चण्डिकायां अथ सुरसरितो वाङ्मयीं मूर्तिमेकां
योगानर्थाञ्च कृत्स्नान् नरि नरि दधतीं संस्कृतां वाचमीडे॥7.25॥

'सप्तर्षिकाङ्केसम्' में यथावसर अलङ्कारों की सुन्दर योजना की गयी है। सनातन कवि तो स्वयं काव्यशास्त्र और नाट्यशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। अतः उनके द्वारा प्रयुक्त अलङ्कार सहज ही काव्यसौन्दर्यवर्धक हैं। कवि ने शब्दालङ्कारों की अपेक्षा अर्थालङ्कारों का प्रयोग अधिक किया है। इन अलङ्कारों ने काव्य को बोझिल न बनाकर उन्हें सुगम बनाया। इन अलङ्कारों का प्रयोग प्रायः पद्य भाग में अधिकतर है, गद्य अर्थात् पद्येतर संवादों में भी यत्र तत्र अलङ्कार प्रयुक्त हैं। जिन अलङ्कारो का प्रयोग हुआ है, उनमें अनुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, दृष्टान्त, निदर्शना और अर्थान्तरन्यास प्रमुख हैं। कतिपय उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

अनुप्रास -

चिन्तामृत्युगृहीतस्य बुद्धिर्दृष्टिश्च लुप्यतः।
दिष्ट्या दृष्ट्या तस्यास्य चिन्तयाऽर्धीकृतं वयः॥[5]

यहाँ 'दिष्टया दृष्ट्या' में अनुप्रास तो है ही, 'चिन्तामृत्यु' और 'बुद्धिदृष्टि' में रूपक भी है।

उपमा -

राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रं
क्लिक्षात्यतीव न तु साधयते तथेष्टम्।
तत्रापि पोत इव सागरमध्यसंस्थो
नेतोद्धृतिं कलयते न तु तत्तितिक्षाम्॥1.18॥

अपि च,

नीतिर्न प्रमुखैर्विविच्य विबुधौर्निर्धारितात्मापि हा।
देशेऽस्मिन् कृकलासिकेव मलयोद्याने विवणोयते॥3.15॥

[5] पूर्वरङ्ग 6

पुनश्च, संस्कृतवाङ्मयमत्र गङ्गाद्रव इव प्रवहति।[6]

काशी में संस्कृतवाङ्मय गंगाजल की तरह बहता है। (अतिपार्वत्र, सर्वसुलभ)।

उत्प्रेक्षा -

कालोऽपि क्षितिजमुपेत्य नृत्यतीव
प्राच्यास्तत् समुदयमाप्नुते विवस्वान्॥2.21॥

'नृत्यति + इव' क्रियोत्प्रेक्षा अत्यन्त हृद्य है।

रूपक -

स्वधर्म एषोऽत्र कुशीलवानां
समाजविष्णुप्रतिबोधनं यत्।
यद्वा प्रबुद्धस्य परिष्क्रियाभिः
प्रयोगपूजोत्सवसंविधानम्॥ पूर्वरङ्ग 1॥

यहाँ 'समाज' को 'विष्णु' कहा गया है। अन्यत्र 'समाज' को 'वस्त्र' कहा गया है -

व्यक्तिः समाजवस्त्रस्य तन्तुस्तस्मिन् मलीमसे।
कीदृशी नु समाजस्य शुद्धिः सिद्धान्तिता नये॥3.5॥

अधोलिखित श्लोक में रूपक का निबन्धन कितना चारु है! -

गोष्पदे वृत्तपत्राख्ये वृत्तवारिपिपासुभिः।
विज्ञापनमहापङ्कनिपा कैर्नु सह्यताम्॥4.32॥

निदर्शना -

जनापवादोच्चलितान्तरात्मा
समुद्विरन्नस्मि न नित्र! दोषी।
क्व लोकमाता महतीन्दिरा क्व
वयं च कालाक्षरिकाः कृषाणाः॥2.7॥

इस प्रकार, 'सप्तर्षिकांग्रेसम्' में प्रयुक्त कुछ अलङ्कार यहाँ प्रदर्शित किये गये।

[6] काशीवर्णन, पृ. 163

छन्दोयोजना -

'सप्तर्षिकाङ्गेसम्' में छन्दोयोजना प्रचुर मात्रा में हुई है। कुल दो सौ पञ्चानवे (295) छन्द प्रयुक्त हैं। सबसे कम तीन (03) छन्द पञ्चम अङ्क में और सबसे अधिक सैंतालिक (47) दशम अङ्क में हैं। छन्दों का वैविध्य और उनका सफल निर्वाह प्रशंसनीय है। अनुष्टुप् से लेकर शार्दूलविक्रीडित तक छन्दों का संयोजन पूरे महानाटक में है जिनमें यही दो छन्द प्रचुर संख्या में प्रयुक्त हैं।

प्रस्तुत आलेख में 'सप्तर्षिकाङ्गेसम्' पर एक परिचयात्मक विहङ्गम दृष्टि डाली गयी है। इसे नाट्यशास्त्रीय समीक्षा कहना समीचीन न होगा॥ इति शम्॥

शब्दसंकेत

1. स.कां. - सप्तर्षिकाङ्गेसम्

सन्दर्भग्रन्थसूची

1. सप्तर्षिकाङ्गेसम् (दशाङ्क नाटकम्), लेखकः आचार्य श्रीरेवाप्रसाद द्विवेदी महामहोपाध्यायः, प्रकाशकं - कालिदाससंस्थानम्, वाराणसी, प्रथमसंस्करण - 2000।

शूलपाणिदिशा सापिण्ड्यस्वरूपविमर्शः

रामकृष्णपाण्डेयः 'परमहंसः'

निखिलैरपि धर्मशास्त्रकारैः विवाहसंस्कारनिरूपणप्रसङ्गे सापिण्ड्यविषये च निजमतानि विशदतया निरूपितानि। स्वाभिमतसमर्थने विविधस्मृतिधर्मसूत्रपुराणादिग्रन्थेभ्यः प्रभूतप्रमाणान्यपि तैः समुद्धृतानि। विशेषेण विविधधर्मनिबन्धकारैः निजग्रन्थेषु सापिण्ड्यस्वरूपमवलम्ब्य विशदः विमर्शो विहितः। प्रख्यातवङ्गीयधर्मनिबन्धकारेण आचार्यशूलपाणिनापि स्मृतिविवेकाख्यग्रन्थाङ्गभूते सम्बन्धविवेकाभिधे निजग्रन्थे मनुयाज्ञवल्क्यादिस्मृतिकारमतान्याधृत्य सापिण्ड्यस्वरूपविषये अतिवैशद्येन विवेचनं विहितम्।

धर्मशास्त्रीयनिबन्धकारेषु आचार्यशूलपाणिः भजते अनुपमं स्थानम्। अयञ्च शूलपाणिः बङ्गीयधर्मनिबन्धकारेषु अतिप्रसिद्धः मान्यश्च विद्यते। अस्य निबन्धग्रन्थान् रुद्रधर-वाचस्पति-गोविन्दानन्दश्चेत्यादयो धर्मनिबन्धकाराः स्वनिबन्धग्रन्थेषु प्रमाणत्वेन समुद्धरन्ति। महामहोपाध्यायशूलपाणिः 'साहुडियाल'-संज्ञके निम्नश्रेणिक-'राढ़ीय'-ब्राह्मणकुले उत्पन्नः इति स्वयमेव समुल्लिखति सः। अनेन विरचिता 'दीपकलिका'नाम्नी याज्ञवल्क्यस्मृतिटीका परमां प्रसिद्धिं भजते।

शूलपाणेः द्वितीयधर्मनिबन्धग्रन्थः 'स्मृतिविवेक'नामा बृहदाकारग्रन्थः विवेकाख्येषु त्रयोदशखण्डेषु विभक्तोऽस्ति। ते यथा – एकादशीविवेकः, तिथिविवेकः, दत्तकविवेकः, दुर्गोत्सवविवेकः, यात्राविवेकः, प्रायश्चित्तविवेकः, रासयात्राविवेकः, व्रतकालविवेकः, शुद्धिविवेकः, श्राद्धविवेकः, संक्रान्तिविवेकः, सम्बन्धविवेकश्चेति। एषां ग्रन्थानामभिधानैरेव स्पष्टीभवति यदनेन विदुषा प्रायः सर्वानपि धर्मशास्त्रप्रतिपादितान् प्रमुखविषयानवलम्ब्य इमे निबन्धग्रन्थाः महता श्रमेण विरचिताः इति। एष्वेव शूलपाणिप्रणीतेषु 'विवेक'नाम्नाख्यातेषु धर्मनिबन्धग्रन्थेषु अन्यतमोऽस्ति 'सम्बन्धविवेक'-इत्यभिधानः लघुनिबन्धग्रन्थः। यद्यप्येषः 'सम्बन्धविवेकः' लघ्वाकारः, किन्तु विषयविवेचनदृष्ट्या अतीवगूढः महत्त्वपूर्णश्चास्ति।

सम्बन्धविवेकाख्ये लघुनिबन्धग्रन्थे आचार्यशूलपाणिः मुख्यरूपेण विवाहसम्बन्धस्य, स्वधासम्बन्धस्य (श्राद्धे पिण्डदातृ-पिण्डभोक्तृसम्बन्धस्य) च विशदविवेचनं मनु-याज्ञवल्क्य-वसिष्ठादिवचनोपन्यासपुरस्सरं सरलसुरगिरा विविधोदाहरणद्वारा निपुणं निरूपयति। प्रसङ्गेऽस्मिन् सः विवाहसम्बन्धे श्राद्धसम्बन्धे च उपयोगिनां सगोत्र-प्रवर-सपिण्ड-समानोदकादीनामपि धर्मशास्त्रीयविवेचनं यथास्थानं प्रस्तौति।

ग्रन्थेऽस्मिन् शूलपाणिः सगोत्र-सपिण्ड-समानोदकादीनां निरूपणक्रमे प्रा-

येण मनुमतं याज्ञवल्क्यमतं च समर्थयन् यत्र तत्र व्यास-वसिष्ठ-गौतम-नारद-शातातप-वृहन्मनु-शङ्खलिखित-आश्वलायनादिस्मृतिकाराणाम्, अग्निपुराण-मत्स्यपुराण-विष्णुपुराण-कूर्मपुराण-मार्कण्डेयपुराणादीनामपि मतानि प्रसङ्गानुसारं प्रमाणत्वेन प्रतिपादयति।सपिण्डलक्षणं निरूपयन् मनुः कथयति -

सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्त्तते।
समानोदकभावस्तु जन्मनाम्नोरवेदने॥[1]

अर्थात् यं पुरुषं प्रतियोगिनं कृत्वा निरूप्यते तस्य पितृप्रभृतयः षट्पुरुषाः अर्थात् पिता - पितामह - प्रपितामह - वृद्धप्रपितामह - अतिवृद्धप्रपितामह - वृद्धातिवृद्धप्रपितामहाः सपिण्डाः भवन्ति, ततः ऊर्ध्ववर्तिनः अर्थात् अत्यतिवृद्धप्रपितामहस्य यो भ्राता तेन तत्सन्ततिभिश्च सापिण्ड्यं निवर्त्तते। तथा च पिण्डसम्बन्धिनिबन्धना सपिण्डता भवति। अतः एकसम्प्रदानकपिण्डलेपभाजेक्षु येषां दातृत्वेन भोक्तृत्वेन वा सम्बन्धः तेषां परस्पर-सापिण्ड्यं भवति। तथाहि पितृ-पितामह-प्रपितामहास्त्रयः पिण्डभाजः, प्रपितामहस्य पित्रादयः त्रयः पिण्डलेपभुजः चेति एते षट्पुरुषाः परस्परं सपिण्डाः भवन्ति। अतः इयं सपिण्डता साप्तपौरुषी उच्यते। तत ऊर्ध्वं जाताः पूर्वपुरुषाः समानोदकाः उच्यन्ते। मनुमतमिदं मत्स्यपुराणमपि समर्थयति -

लेपभाजश्चतुर्थाद्याः पित्राद्याः पिण्डभागिनः।
पिण्डदः सप्तमस्तेषां सापिण्ड्यं साप्तपौरूषम्॥[2]

मनुः सगोत्रविवाहसम्बन्धं सपिण्डविवाहसम्बन्धं च निषेधयन् आह -

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने॥[3]

अर्थात् मातुः पितुश्च या सपिण्डा सगोत्रा च न भवति सा विवाहसम्बन्धे प्रशस्ता भवति। मनुटीकाकारः आचार्यकुल्लूकभट्टः श्लोकस्यास्य व्याख्यानप्रसङ्गे निरूपयति—'तेन मातामहादिवंशजा जाया न भवतीत्यर्थः। च शब्दात् मातृसगोत्रापि मातृवंशपरम्परा-जन्मनाम्नोः प्रत्यभिज्ञाने सति न विवाह्या, तदितरा तु मातृसगोत्रा विवाह्येति संगृहीतम्, तथा च व्यासः -

[1] मनु. – 5/60
[2] मत्स्य. 18/28
[3] मनु. 3/5

सगोत्रां मातुरप्येके नेच्छन्त्युद्वाहकर्मणि।
जन्मनाम्नोरविज्ञाने उद्वहेदविशङ्कितः ॥[4]

आचार्यशूलपाणिः मनुमतस्यास्य समर्थनं विविधयुक्तिप्रमाणैः विदधाति।

सम्बन्धविवेके आचार्यशूलपाणिः सापिण्ड्यसम्बन्धविवेचनप्रसङ्गे विवाहप्रकरणोद्धृतं याज्ञवल्क्यवचनमपि समुद्धृत्य तद्व्याख्यानं विशदतया विदधाति। तथा च याज्ञवल्क्यः -

अविप्लुतब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत्।
अनन्यपूर्विकां कान्तामसपिण्डां यवीयसीम् ॥[5]
अरोगिणीं भ्रातृमतीमसमानार्षगोत्रजाम्।
पञ्चमात् सप्तमात् ऊर्ध्वं मातृतः पितृतस्तथा ॥[6]

श्लोकस्यास्य व्याख्यानप्रसङ्गे मिताक्षराकारः 'असपिण्डां'पदस्यार्थमित्थं प्रतिपादयति - 'असपिण्डां' समानः एकः पिण्डो देहो यस्याः सा सपिण्डा, न सपिण्डा असपिण्डा तान्। सपिण्डता च एकशरीरावयवान्वयेन भवति। तथाहि पुत्रस्य पितृशरीरावयवान्वयेन पित्रा सह एकपिण्डता। एवं पितामहादिरपि पितृद्वारेण तच्छरीरावयवान्वयात्। एवं मातृशरीरावयवान्वयेन मात्रा सह सपिण्डता, तथा मातामहादिरपि मातृद्वारेण। तथा मातृस्वसृमातुलादिरपि एकशरीरावयवान्वयात्। तथा पितृव्य - पितृस्वस्रादिभिरपि तथा पत्या सह पत्न्या एकशरीराम्भकतया। एवं भ्रातृभार्याणामपि परस्परमेकशरीरारब्धैः सह एकशरीरारम्भकत्वेन। एवं यत्र यत्र 'सपिण्ड'शब्दः तत्र तत्र साक्षात् परम्परया वा एकशरीरावयवान्वयो वेदितव्यः। अवश्यं च एकशरीरावयवान्वयेन सापिण्ड्यं वर्णनीयम् – 'आत्मा हि यज्ञ आत्मनः' इत्यादि श्रुतेः, तथा 'प्रजामनुप्रजायसे' इति च।

'पञ्चमात् सप्तमादूर्ध्वं मातृतस्पितृतस्तथा' - इति श्लोकांशस्य आशयं स्पष्टीकुर्वन् आह विज्ञानेश्वरः - 'असपिण्डाम्' इत्यत्रैकशरीरावयवान्वयद्वारेण साक्षात्परम्परया वा सापिण्ड्यमुक्तं, तच्च सर्वत्र सर्वस्य यथाकथंचिदनादौ संसारे संभवतीत्यतिप्रसङ्ग इत्यत आह – मातृतो अर्थात् मातुः सन्ताने पञ्चमात् ऊर्ध्वं, पितृतः अर्थात् पितुः सन्ताने सप्तमादूर्ध्वं, सापिण्ड्यं निवर्तते। अतश्च अयं 'सपिण्ड'शब्दः अवयवशक्त्या सर्वत्र प्रवर्तमानोऽपि निर्मथ्य पङ्कजादिशब्दवत् नियतविषय एव।

[4] मनुस्मृतिः (मन्वर्थमुक्तावलीटीका पृ.सं. 79)
[5] याज्ञ.-1/52
[6] याज्ञ.-1/53

तथा च पित्रादयः षट् सपिण्डाः, पुत्रादयश्च षट् आत्मा च सप्तमः। सन्तानभेदेऽपि यतः सन्तानभेदः तमादाय गणयेद् यावत्सप्तम इति योजनीयम्। तथा च मातरमारभ्य तत्पितृपितामहादिगणनायां पञ्चपुरुषवर्तिनी मातृतः पञ्चमी इति उपचर्यते। एवं पितरमारभ्य तत्पित्रादिगणनायां सप्तमपुरुष सन्तानवर्तिनी पितृतः सप्तमीति।

एवञ्च सापिण्ड्यसम्बन्धः याज्ञवल्क्यमतानुसारमधोऽङ्कितरेखाचित्रमाध्यमेन स्पष्टीकर्त्तुं शक्यते –



शूलपाणिः 'पञ्चमात् सप्तमादूर्ध्वं मातृतः पितृतस्तथे'ति याज्ञवल्क्योक्तश्लोकांशे 'मातृतस्पितृतस्तथेति पदद्वयस्य 'मातृबन्धुतः' 'पितृबन्धुतः' इत्याशयं निरूपयन् पितृबन्धुभिः मातृबन्धुभिश्च साकं विवाहसम्बन्धं निषेधयति। स कथयति 'अतोऽत्र मातृपितृशब्दाभ्यां' मातृपितृबन्धूनामपि ग्रहणम्। पितृबान्धवाः मातृबान्धवाश्चोक्ताः –

पितुः पितुः श्वसुः पुत्राः, पितुः मातुः श्वसुः सुताः।
पितुर्मातुलपुत्राश्च विज्ञेयाः पितृबान्धवाः॥
मातुर्मातुश्वसुः पुत्राः मातुः पितुश्श्वसुः सुताः।
मातुः मातुलपुत्राश्च विज्ञेयाः मातृबान्धवाः॥

तेन पितामहभगिनीपुत्रः, पितामहीभगिनीपुत्रः, पितामहीभ्रातृपुत्राश्चेति त्रयः पितृबान्धवाः। मातामहभगिनीपुत्रः, मातामहीभगिनीपुत्रः, मातामहीभ्रातृपुत्राश्चेति मातृबान्धवाः त्रयः एव। तेन पितामहभगिनीपुत्रात्, पितामहीभगिनीपुत्रात्, पितामहीभ्रातृपुत्राच्च तमादाय उपरितनपञ्चपुरुषादूर्ध्वं तमादायाधस्तनपञ्चपुरुषादूर्ध्वं

विवाहः । न तु तदर्वाग्जातायाः कन्यायाः इति ।

एवञ्च लघुकलेवरेऽपि निजसम्बन्धविवेकाख्ये धर्मनिबन्धग्रन्थे निबन्धकारेण शूलपाणिना अनेकेधर्मशास्त्रीयविषयाः सापिण्ड्यसम्बन्धविवेचनप्रसङ्गे प्रभूतस्मृतिवचनोपन्यासपुरस्सरं विशदं विमृष्टाः इति स्पष्टीभवति। मया तु प्रबन्धेऽस्मिन् अतिसंक्षेपेण सापिण्ड्यस्वरूपस्य विवेचनं विहितम्। जिज्ञासुमनीषिभिः एतद्विषये विस्तृतविमर्शः शूलपाणिकृतसम्बन्धविवेकग्रन्थे अवलोकयितुं शक्यते।

शब्दसंकेत

1. मत्स्य. - मत्स्यपुराण
2. मनु. - मनुस्मृति
3. याज्ञ. - याज्ञवल्क्यस्मृति

सन्दर्भग्रन्थसूची

1. मत्स्यपुराणम् – 18/28 (श्राद्धदीप, पृ.सं. 13), श्राद्धदीपः, सम्पादकः- प्रो. (डॉ.) जयकृष्ण मिश्रः, प्रथम संस्करणम् - 2009, प्रकाशक – अन्नपूर्णा, प्रिंटर्स, कालेजरोड़, पुरी, उड़ीसा
2. मनुस्मृतिः (प्रथमसंस्करणम् – 1983) श्रीकुल्लूकभट्टविरचितया मन्वर्थमुक्तावल्या व्याख्यया समुपेता। संस्कर्ता - आचार्य जगदीशलाल शास्त्री। प्रकाशकः- मोतीलाल बनारसीदास, हेड आफिस 41-U.A. बंगलोरोड़, दिल्ली - 110007
3. याज्ञवल्क्यस्मृतिः (पुनः- मुद्रितसंस्करणम्-2010), प्रकाशकः – प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, कुलपतिः, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम् (मानितविश्वविद्यालयः), 56-57, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, जनकपुरी, नई दिल्ली- 110058

अभिनवं काव्यशास्त्रम्

रहसबिहारी द्विवेदी

चिरनूतना संस्कृतभाषा, विश्वस्य प्राचीनतमे ग्रन्थे ऋग्वेदेऽपि काव्यत्वमनुभूयते, काव्यस्वरूपज्ञात्र कण्ठत उपात्तीकृतं वरीवर्ति। यथा - 'वत्सो वां मधुमदवचोऽशंसीत् काव्यः कविः'।[1]

यजुर्वेदे चतुर्दशेऽध्याये छन्दसां स्वरूपाण्यपि प्रतिपादितानि। 'त्रयी विद्या काव्यं छन्द' इति शतपथब्राह्मणमनुसृत्य 'कवेः परमात्मन इदं काव्यं वेदत्रयीरूपं छन्द' इति महीधरो व्याचख्यौ। ऋग्वेदे पञ्चमे काण्डे 39/5 मन्त्रेऽपि-इन्द्रचरित निरूपणसन्दर्भे-'अस्मा इत् काव्यं वच उक्थमिन्द्राय शंस्यम्।' इत्थं प्रोक्तम्। एवं काव्योद्भावनदिशा-ऋग्वेदतोऽभिराजराजेन्द्रमिश्रं यावत्, काव्यशास्त्रदिशाऽग्निपुराणतो हर्षदेवमाधवमुताहो राजमङ्गलयादवं यावत्काव्यसर्जनकाव्यतत्त्वचिन्तनपरम्पराऽस्माकं राष्ट्रे जीवन्ती विलसति।

वैदिकवाङ्मयप्रभावात्प्राक्तने काव्यशास्त्रे लोकोत्तराह्लादास्वादे ब्रह्मानन्दानुभूतिसदृशी परनिर्वृत्तिस्थितिः प्रतिपादिता किन्तु 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिरि'ति भरतस्य रसनिष्पत्तिसदृशी काव्यानुभूतिप्रक्रिया मुक्तकादिकाव्येषु न सम्भाव्यतेऽतोऽधिकरणदिशा वामनेन शब्दार्थयोर्गुणालङ्काररीतीत्यादीनि काव्याह्लादकतत्त्वानि प्रतिपादितानि। काव्यानुभूतौ यदुद्योत्पते तस्य निरूपणं ध्वनितत्त्वमन्विष्य भरतस्य रसतत्त्वेनान्तःसम्बन्धं च संयोज्य रसस्य स्वशब्दवाच्यत्वं निराकुर्वता काव्यात्मतत्त्वरूपेणानन्दवर्धनेन ध्वनिः प्रतिष्ठापितः। शब्दार्थसौन्दर्यमथ च सहृदय उद्योतितं तत्त्वं निरूपितं विलोक्य कवेः काव्योन्मेषदिशा कुन्तकेन काव्याह्लादकतत्त्वं विचारयता विदग्धभङ्गीभणिति रूपं वक्रोक्तितत्त्वं काव्यजीवितरूपेण प्रतिष्ठापितम्। वामनस्याधिकरणरूपेण आनन्दवर्धनस्योद्योतरूपेण कुन्तकस्य चोन्मेषरूपेण ग्रन्थविभाजनमपि तथ्यमिदं पुष्णाति।

पाश्चात्यैर्विद्वद्भिराङ्ग्लया भाषया स्कूलेति शब्दतो भारतीयकाव्यशास्त्रविभाजनं व्यधायि! अतो भारतीयैर्हिन्दीभाषया लिखितेषु काव्यशास्त्रपरिचायकेषु ग्रन्थेषु सम्प्रदायशब्दतः हलशब्दस्यानुवादः कृतो येन सम्प्रदायशब्दः प्रचलितः। भारतीयाः सर्वे काव्यशास्त्रकाराः प्रायः काव्यशास्त्रमखण्डं मत्वा काव्येषु यत्तत्त्वमनुभूयमानं किन्तु तस्य नामकरणं न कृतं न च तत्स्वरूपं प्राक्तनैः प्रतिपादितं तस्य निरूपणं भारतीयवेदाङ्गादिसम्मतं सप्रमाणं सोदाहरणमकार्षुः। अन्यदेशभाषालोकभाषासम्पर्कात् संस्कृतकाव्यविधासु नवप्रयोगा अपि प्रचलिताः। अतः

[1] ऋ. 8/8/11

काव्येषु विधादिशा कथ्यदिशा च यत्परिवर्तनं जातं तन्मूल्यांकनसमीक्षणमुद्दिश्य नूतनां काव्यशास्त्रमद्यापि साम्प्रतिकं विद्यते। यथा नव्यव्याकरणं प्राच्यव्याकरणं तथा नव्यन्यायः प्राच्यन्यायस्तथैव प्राचीनं काव्यशास्त्रमभिनवं काव्यशास्त्रमेतादृशमेव विभाजनमुचितं प्रतीयते। सम्प्रदायशब्दतः काव्यशास्त्रस्य वर्गीकरणं न साधु। काव्यस्यास्वादृदिशा विधादिशा च विभाजनं काव्यशास्त्रीयेषु ग्रन्थेषु काव्यशास्त्रिभिर्यथायथं कृतमेव।

काव्यशास्त्राचार्याणां न कश्चित्सम्प्रदायः। एते बहुधाव्याकृतस्य प्रायो निरूपणं न कुर्वन्ति। काव्येषूपलब्धस्य सृहृदयहृदयसंवेद्यतत्त्वस्य स्वदिशा निरूपणे क्वचित्परिवर्धनं क्वचित्संशोधनं क्वचिन्नूततत्त्वाधानं कुर्वन्ति। ग्रन्थादिप्रणयने प्रायो महाकविभवभूतिप्रोक्ता गुणा एतेषु दरीदृश्यन्ते - 'शास्त्रे प्रतिष्ठा सहजश्च बोधः प्रागल्भ्यमभ्यस्त गुणा च वाणी। कालानुरोधः प्रतिभानवत्वमेते गुणाः कामदुधा क्रियासु॥' (मा.मा.3-11) सर्वविधग्रन्थप्रणयन एते गुणा भवभूतिना समीहिताः। एतेषामन्वितिः प्रशस्तग्रन्थकारेषु प्रायः प्राप्यते। सम्प्रदायदिशा वर्गीकरणस्यानौचित्यमिदमस्ति यद्ध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्य आनन्दवर्धनो रसध्वनिरलङ्कारध्वनिर्वस्तुध्वनिरित्यादिरूपेणापि ध्वनेर्वर्गीकरणं करोति। यस्यानुकरणं मम्मट विश्वनाथपण्डित-राजादयोऽपि कुर्वन्ति। एतेऽपि पूर्वेषां भामहदण्डिवामनरुद्रटादीनामलङ्कारनिरूपणादधिकं प्रभावपूर्णमलङ्कारनिरूपणं कुर्वन्ति। एवं तथाकथिताऽलङ्कारवादिनो रसस्यापि समर्थका न विरोधिनः। यथा भामहस्य 'युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्' (1/21) भामहेन प्रोक्तो लोकस्वभाव एवानन्दवर्धनस्य प्रेरकः। लोकस्वभाव एव वस्तुत औचित्यम्। यस्य स्फुटीकरणमानन्दवर्धनः करोति -

अनौचित्यादृतेनान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥[2]

क्षेमेन्द्रस्यौचित्य सिद्धान्तप्रेरिकाऽपीयं सङ्गहकारिका। महाकाव्येषु रससन्निवेशविषयेऽपि भामहस्य निर्देशोऽत्र महत्त्वपूर्णः। वक्रोक्तिजीवितकारस्य प्रेरकोऽपि भामहो यस्य काव्यलक्षणमेवं विद्यते -

वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः।[3]

आनन्दवर्धनस्यापि प्रेरको भामहः -

[2] ध्व. 3।10-14 संग्रहका
[3] का. 1।36

यदि गौरित्ययं शब्दः कृतार्थोऽन्यनिराकृतौ।
जनको गवि गोबुद्धेर्मृग्यतामपरो ध्वनिः ॥[4]

अत्र मनुष्यश्चेद् गौरिति कथ्यते तदा तस्मिन् जाड्यमान्द्यादिबोधो लक्षणा-मूलध्वनित एव भवति। व्याकरणे प्रसिद्धस्य स्फोटसिद्धान्तस्योल्लेख-स्तुस्वयमेवाकारि ध्वनिकारेण। काव्यानुभूतौ चमत्कारविषये या रामप्रताप-वेदालङ्कारादिभिश्चर्चा क्रियते तस्या अपि सङ्केतो विश्वनाथेन साहित्यदर्पणे व्यधायि तद्यथा -

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ॥[5]

विश्वनाथोऽपि स्ववृद्धप्रपितामहस्य चमत्कारविषयकं मतं प्रस्तौति साहित्य-दर्पणे -

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राऽप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः।
तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्॥

रसालङ्कारगुणवृत्त्यादिविषये समेषामाचार्याणां प्रेरको नाट्यशास्त्रकृद् भरत-मुनिर्वर्ततेऽत्र शपथस्य प्रमाणस्यावश्यकता नास्ति यतो हि वेदप्रामाण्येन नाट्यादि-तत्त्वं तेन प्रत्यपादि। तस्य षष्ठाध्याये प्रोक्तं रसनिष्पत्तिसूत्रं विभानुभावसञ्चारिभाव-संयोगाद्रसनिष्पत्तिरिति - आनन्दवर्धनरुद्रटराजशेखरमम्मटविश्वनाथपण्डितराजज-गन्नाथादीनां रसनिरूपणाधारभूमिः। सम्प्रत्यपि सर्वविध-काव्य रचनाधिराजस्याभि-राजस्य राजेन्द्रमिश्रस्यभिराजयशोभूषणेऽथ च नूतन-तमेऽभिनवरसमीमांसेति ग्रन्थे भरतमुनेर्नाट्यशास्त्रस्य प्रभावो दृश्यते। यथोक्तमभिराजेन -

आत्मनामपि काव्यस्य परमात्मा रसो मतः।
ब्राह्मी स्थितिस्ततो मान्या रसस्थितिः सचेतसाम्॥[6]

---

4 भाम. 5।17
5 सा.द., 3/2-3
6 र.मी. 1/55

आचार्येण सनातनेन रेवाप्रसादद्विवेदिना ह्यर्थस्य काव्याधिकरणत्वं प्रत्यपादि काव्यात्मरूपेणालङ्कारं स मनुते। तथाप्यानन्दकोषस्योल्लासं स त्रिविधं स्वीकरोति - 1. अलङ्कारं, 2. रसं वस्तु च तद्यथा -

आनन्दकोषस्योल्लासे लोकोत्तरविभावना।
अलङ्कृतार्थसंवित्तिः कविता सर्वमङ्गला॥
आनन्दकोषस्योल्लासस्त्रिविधः परिकीर्त्यताम्।
औपम्यादि रसं वस्तु वा यतो विसिनोति सः॥ [7]

नूनमेवात्रालङ्काराय प्राथम्यं दत्वा रसस्योल्लासं-वस्तूल्लासज्ञाचार्यो द्विवेदी मनुतेऽन्ये ध्वनिकारमम्मटविश्वनाथपण्डितराजादीनामनुभूतिविभाजनं स्वीकरोति।

तृतीयायां कारिकायां स रसस्य (आनन्दस्य) महत्त्वं स्वीकुर्वन् प्रतीयते -

उल्लासस्मविधोऽप्येष रसत्वेनैव कीर्त्यताम्।
मात्रामात्रकृतं भेदमवलम्ब्य हि भेदवान्॥

चतुर्थ्यां कारिकायां सनातनाचार्योऽलङ्कृतिं काव्यात्मानं मनुते तथापि स औपम्यगुणार्थान्तरवस्तूक्तिस्थितौ वस्तूक्तौ विभावादितो रसस्य निष्पत्तिं पुष्णाति। एवं नूतनाः काव्यशास्त्राचार्या अपि पूर्वप्रस्थापितकाव्याह्लादकतत्त्वानां विरोधिनो न दृश्यन्ते। अतः काव्यशास्त्रवर्गीकरणे नव्यकाव्यशास्त्रं प्राच्यकाव्यशास्त्रञ्चेति विभाजनं साधु तु सम्प्रदायनाम्ना। एवमर्वाचीना अपि काव्यशास्त्रकारा प्राक्तनका-व्यशास्त्रे प्रतिष्ठापितं काव्यतत्वं न तिरस्कुर्वन्ति।

वर्तमानाचार्येषु परमाचार्यः सनातनो रेवाप्रसादद्विवेदी यस्य महाकाव्य खण्ड-काव्यादि प्रणयने कालिदाससाहित्यसम्पादने, काव्यशास्त्रीयग्रन्थसम्पादने स्वोपज्ञ काव्यशास्त्रीग्रन्थप्रणयने सम्प्रति महती प्रतिष्ठा विद्यते। अनेन प्रायशः समे प्रशस्त काव्यशास्त्रग्रन्थाः सम्पादिताः। काव्यालङ्कारकारिकाऽस्य मौलिकः काव्यशास्त्रीयो ग्रन्थः। अस्य ग्रन्थस्य प्रथमं प्रकाशनं वाराणसीस्थ चौखम्बासुरभारतीतः 1977 वर्षेऽभवत्। अस्य काव्यशास्त्रीयग्रन्थस्य साहित्यशारीरकस्य प्रकाशनं 1998 ई. वर्षे सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालयतो जातम्। अलंब्रह्मेत्येको ग्रन्थस्तथा च नाट्यानुशासनमिति ग्रन्थः क्रमशः 2005-2008 ई. वर्षे वाराणसीस्थ कालि-दाससंस्थानतः प्रकाशितो वर्तते। काव्यालङ्कारकारिकाग्रन्थे मन्निर्देशने रानीदुर्गा-वतीविश्वविद्यालतोऽन्नूसिंहनाम्नाशोधच्छात्रया विद्यावाचस्पति-इत्युपाधिरपि लब्धः।

[7] काव्या., 1, 2

काव्यालङ्कारकारिकाया द्वितीयं संस्करणम् 2001 ई. वर्षे कालिदाससंस्थानवाराणसीतः प्रकाशितम् अस्मिन् संस्करणे 261 कारिकाः सन्ति। पञ्चदशखण्डेषु विषयविभाजनमेवं विद्यते -

1. काव्यस्य सार्वपरिषद्यं मङ्गलगर्भं लक्षणम्
2. काव्यकारणम्
3. काव्यप्रयोजनम्
4. काव्यस्यात्मा
5. काव्यस्यज्ञानैकरूपत्वम्
6. सहृदयदिशा काव्यविचारः
7. काव्यस्य महाव्याप्तिः
8. काव्यतद्धर्मयोर्युगपदुत्पत्तिवादः
9. काव्यधर्माः
10. रसे काव्यधर्मत्वाभावः
11. काव्यलक्षणम्
12. अस्माकं काव्यदर्शनम्
13. आलोचकदर्शनम्
14. अलमिति ब्रह्मतत्त्वम्
15. अलङ्कारत्वं च ब्रह्मीभावः

अस्मिन् ग्रन्थे काव्यं ज्ञानमलङ्कारस्तस्यात्मोत्युक्त्वा अलङ्कारस्य काव्यात्मत्वं दृढं पुष्टीकृतम्। सागरिकापत्रिकायाः काव्याशास्त्रविशेषाङ्केऽस्य ग्रन्थस्य मत्कृता समीक्षा प्रकाशिता विद्यते। आचार्यद्विवेदिनःसाहित्यशारीरिकग्रन्थे साहित्यशास्त्रस्य चतुर्धाम्नां कल्पना कृता। प्रथमेऽधिकरणे पूर्णताम्नाये संस्तवः, सङ्कल्पस्तथा च पूर्णताम्नायनिरूपणमस्ति। द्वितीयाधिकरणे शारदाम्नाये काव्यशरीरस्य विवेचनम्, तृतीयाधिकरणे धाराम्नायकाञ्ची-धामाम्नायौ स्तः। अत्र गुणाह्निक अलङ्कारविशेषाह्निक-लक्षणाह्निक-रीतिवृत्त्याह्निक-शब्दशक्त्याह्निकादिरूपेण काव्यतत्त्वविषया निरूपिताः सन्ति। ध्वनिव्रज्या-रसव्रज्या-साहित्यव्रज्या-साहित्यतत्त्वकथा-सम्बन्धसामान्यपरत्व-पारिभाषिकत्व-कुन्तकभोज-साहित्यमीमांसाकृतकाव्यनाट्यसमष्टि-काव्यभेद-नाट्यभेद-काव्यशास्त्रभेदप्रभृतिविषयाः विवेचिताः। चतुर्थाधिकरणं काशीधामाम्नायोऽस्ति, अस्मिन् प्रस्थानभेद-काव्यालङ्कारकारिका-नाट्यानुशासन-भरतदर्शन-नाट्यशारीरक-कलासमाधि-रसभोगईक्षा प्रभृतिस्वरचितग्रन्थानां विशिष्टकारिकाणां व्याख्यानमाचार्येण द्विवेदिनाऽकारि। प्रथमतयैतादृशे काव्यशास्त्रीये विभाजने

द्विवेदिमहोदयस्य काव्यशास्त्रस्य स्थानदिशा वर्गीकरणं तपःपूतां कल्पनां वैलक्षण्यं च प्रमाणीकरोति। अलं ब्रह्मेति ग्रन्थे काव्यखण्डनाट्यखण्डरूपेण विभाजितौ द्वौ खण्डौ वर्तते। प्रथमखण्डे द्वाविंशनिबन्धाः काव्यं काव्यशास्त्रं चाश्रित्य प्रणीता विद्यन्ते तद्यथा -

1. अलं ब्रह्म
2. किं तावत्काव्यतत्त्वम्
3. काव्ये धर्मधर्मिभावविवेकः
4. काव्यनिष्पत्तिप्रक्रिया
5. किमिदं शब्दत्वं नाम
6. साहित्यतत्त्वविमर्शः
7. साहित्यदर्शने तात्पर्यस्वरूपम्
8. संस्कृतकाव्यशास्त्रे ध्वनिसंज्ञा
9. रसस्य शब्दत्वम्
10. रसनिष्पत्तिप्रक्रियायामुत्पत्तिवादः
11. भुक्तिवादे स्थायिभावाश्रयः
12. कवी रसं स्वदते न वा
13. ध्वनिसम्प्रदाये केचन प्रश्नाः
14. व्यञ्जनाविषये राजशेखरः
15. भोजदेवस्य ध्वनिविचारः
16. नैषधस्य 22.151 पद्यम्
17. लक्षणाया षड्विधत्वं हेत्वलङ्कारश्च
18. अलङ्कारसर्वस्वे संशोधनम्
19. जगन्नाथकाव्यलक्षणे दंशः
20. रसगङ्गाधरे सन्दर्भशुद्धिः
21. पण्डितराजकृता उत्प्रेक्षाभेदाः
22. भारतीया व्याख्यापद्धतिः

नाट्यखण्डे

1. भरतनाट्यशास्त्रादिसम्पादनविधिः पाठसमीक्षा च
2. कालिदासकाव्येषु वस्तुविभागः
3. अवस्थार्थप्रकृतिः सन्धिभेदः
4. नाट्यशास्त्रे कुतुपविन्यासाः

5. संस्कृतकाव्यशास्त्रं ब्रह्मविद्या

आचार्यद्विवेदिनो नाट्यानुशासने पञ्चोन्मेषा विद्यन्ते, ते चैवम् -

1. नाट्यानुशासनम् (116 कारिकाः)
2. भरतदर्शनम् (113 कारिकाः)
3. नाट्यशारीरकम् (63 कारिकाः)
4. कलासमाधिः (44 कारिकाः)
5. रसभोगः (80 कारिकाः) विस्तरभयाद् ग्रन्थस्य विषयवस्तुमात्रं सूचितम्

आचार्यराधावल्लभत्रिपाठिनाऽभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रं यद्यपि वैश्विकपरिप्रेक्ष्ये प्रणीतं नूतनं काव्यशास्त्रं तथाप्यत्रापि यथास्थलं मम्मटाभिराजादीनां मतानि समीक्षितानि विद्यन्ते। आचार्यो राधावल्लभाचार्यसनातनरेवाप्रसादस्यालङ्कारस्य काव्यात्मत्वं दृढं पुष्णाति विवेचने च राजशेखरं भोजज्ञानुसरन् विश्वस्य प्राक्त-नाधुनिककाव्यविधानां मूल्याङ्कनाय नूतनं मार्गं सृजति। काव्यालङ्कारसूत्रे ग्रन्थे लोक-स्यालङ्कारस्य निरूपणे सर्वे लोकाः काव्येऽधिष्ठिताः। अत्र काव्यस्य सर्वाणि रस-ध्वनि-वक्रोक्ति-विभावानुभाव-व्यभिचारिभावादितत्त्वानि अलङ्कारेऽन्तर्भूतानि विद्यन्ते। अलौकिकं लोकातिक्रान्तगोचरं किमपि तत्त्वं न स्वीकुरुतेऽभिनव-काव्यालङ्कारसूत्रकारः यत्किञ्चित्प्रतीतिगोचरं तत्सर्वं लोक एवेति तस्य मतम्। तद्यथा - लोकानुकीर्त्तनं काव्यम्, स च लोकस्त्रिविधः। आधिभौतिक आधिदैविक आध्यात्मिकश्च, अनुषक्तत्वं चैतेषां त्रयाणामपि त्रयाणां च सकलः समुल्लासो जीवनम्। तच्च साहित्ये प्रतिफलति। (1।1-5)

अनुकीर्तनं विभजन् वक्ति-अनून्मीलनम्, अनुदर्शनम्, अनुभवो-ऽनुव्याहरणम्। इदमेवानुकीर्तनम्-ऐतरेयमहीदासोऽनुकृतिमित्याह। तन्मतेन सर्वाणि शिल्पानि-अनुकृतिरूपाणि। प्लेटो-इत्याख्यस्य यूनानसमीक्षकस्यापि मतमेवं विद्यते - Imitation is the essential characteristic of all act.[8]

अवस्थाऽनुकृतिर्नाट्यमिति दशरूपककरोऽपि वक्ति। सर्वरूपेण-आचार्यत्रिपाठिना-एतादृशानि वाक्यानि प्रयुक्तानि येन भारतीयानि वैदेशिकानि च मतानि ग्रन्थेऽस्मिन्नतर्गर्भितानीव प्रायशो दृश्यन्ते। इदमेव वैलक्षण्यं काव्यालङ्कार-सूत्रग्रन्थस्य। किन्त्वेतदपि सत्यं यद्भारतीयपरम्परागतकाव्यशास्त्रग्रन्थाधीयमानानां कृतेऽवबोधे किञ्चित्काठिन्यं भविष्यति। प्राक्तनैः शब्दालङ्कारार्थालङ्कारोभयाल-ङ्कारादिरूपेण विभाजनं व्यधायि किन्तु ग्रन्थेऽस्मिन् आभ्यन्तरबाह्यरूपेण द्विधा

[8] समीक्षालोकग्रन्थे भगीरथदीक्षितेनोद्धृतम् पृ. 176

विभाजनं वरीवर्ति। आभ्यन्तरालङ्काराः - प्रेम, आह्लादः, विषदनम्, विभीषिका, व्यङ्ग्यम्, कौतुकम्, जिजीविषा, अहङ्कारः, स्मृतिः (स्मरणम्) साक्ष्यम्, उदात्तमिति च।

बाह्यालङ्काराः - अन्यथाकरणम्, छाया, जातिः, अतिशयः, विरोधः, विसङ्गतिः, अपह्नुतिः, विषयम्, द्वन्द्वम्, तानवम्, उपमा, रूपकम्, प्रतीकलक्षणम्, उत्प्रेक्षा, दीपकम्, नादानुवृत्तिः, यमकम्, श्रेयः, लयश्च।

तृतीयमधिकरणं नूनमेव विधादिशाऽतिमहत्त्वपूर्णमस्ति यत्र काव्यस्य दृश्य-श्रव्यविचारः, काव्यविधाविभागस्याधाराः महाकाव्य-लक्षणम्, खण्डकाव्यलक्षणम्, गीतम्, मुक्तकम्, मुक्तच्छन्दः, काव्यम्, गजलगीतिः, समस्या, कथा, निबन्धः उपन्यासः, संस्मरणम्, रेखाचित्रम्, जीवनचरितम्, आत्मकथा, यात्रावृत्तम्, रूपकमिति च। तृतीयाधिकरणे यद्यपि पूर्वाचार्यैः प्रतिपादिता विद्या अपि परिभाषिता किन्तु तेषु ग्रन्थेऽस्मिन् मौलिकत्वं विद्यते येनाधुनिकरचनानां मूल्याङ्कने सौकर्यं भविष्यति।

आचार्याभिराजराजेन्द्रमिश्रस्य 'अभिराजयशोभूषणे' प्राक्तनैराचार्यैः प्रतिपादितानां प्रसिद्धानां काव्य तत्त्वानां स्वोपज्ञोदाहरणपुरस्सरं तन्नामादिपरिवर्तनं विना मौलिकं युगानुरूपं सुकुमारमतिच्छात्राणां कृतेऽपि बोधगम्यं निरूपणं दरीदृश्यते। अत्र पञ्चोन्मेषा वर्तन्ते -

1. परिचयोन्मेषः
2. शरीरतत्त्वोन्मेषः
3. आत्मतत्त्वोन्मेषः
4. निर्मितितत्त्वोन्मेषः
5. प्रकीर्णतत्त्वोन्मेषश्च

परिचयोन्मेषे काव्यप्रशंसा-प्रयोजन-हेतु-लक्षणविभाजनविषयाः निरूपिताः। शरीरतत्त्वोन्मेषे काव्याधिकरणभूतयोः शब्दार्थायोरभिसम्बन्धस्य तच्छक्तीनां रीतिवृत्तिगुणालङ्कारादीनां निरूपणं परम्परानुसारेण विहितम्। लक्षणाया भवतुनाम परम्परानुगतं लक्षणं स्वोपज्ञं किन्तु तदुदाहरणानि स्वोपज्ञान्येव समायोजितानि तद्यथा-संसद् ब्रवीति, शुको माणवकः कृष्णादुह्यत इत्यादि।

अलङ्कारणां सरलया बोधगम्यया संस्कृतभाषया लक्षणान्यपि प्रणीतानि। अस्मिन् ग्रन्थे मन्ये पिष्टपेषणभिया गुण-दोष-चित्रकाव्य-गुणीभूतव्यङ्ग्यादि सन्दर्भा न विवेचिताः। अभिराजयशोभूषणकार आत्मतत्त्वोन्मेषविषये स्वभावं स्वयं प्रकटयति। ध्वनि तत्त्वं सर्वातिशायित्वेन प्रतिपादयन् स वक्ति -

'आत्मतत्त्वोन्मेषः विलसति मच्चिन्तनरसायनम्। रसालङ्काररीतिवक्रोत्यौचित्यानां कथने काव्यात्मत्वं, कथं पुनः प्रतीयमानार्थस्यैव काव्यात्मत्वमिति यथा मयोपन्यस्तं तद् गुरुकृपापीयूषपाकोद्भूतमेव किञ्चित्फलम्। सुधियो विद्वत्तल्लजाः कृपया पूर्वाग्रहं परित्यज्य निष्पक्षधिया शारदानुरक्त्या च मत्परिश्रमं समीक्षन्ताम्।'[9]

आत्मतत्त्वोन्मेषे ग्रन्थकारस्य पाण्डित्यं नवोन्मेषसंवलितं विवेचनं सश्रद्धं स्वगुरुमाचार्यचण्डिकाप्रसादं प्रति समादरभावश्च ग्रन्थकर्तुः प्रज्ञावत्त्वं विनयत्वं च द्योतयति।

अन्तिमयोरुन्मेषयोर्निर्मितितत्त्वोन्मेषे प्रकीर्णतत्त्वोन्मेषे चाचार्यस्याभिराजराजेन्द्रमिश्रस्य नवनवोन्मेषशालि मौलिकं विवेचनं प्राक्तननूतनगद्यपद्यविधानानामुन्मीलनेऽनुभूयते। प्रकीर्णतत्त्वोन्मेषे त्वेतादृशीनां विधानां स्वरूपं स्वोपज्ञोदाहरणैर्निरूपितं यासां प्राय उल्लेखोऽपि प्राक्तनैर्नाकारि। अत्रैव छन्दोमुक्तकाव्यानामपि निरूपणमाचार्येण व्यधायि। तद्यथा-गीतं, लोकगीतं (Folk songs) च (गीतितत्त्वदिशा) निरूपिते। पुनश्च – कलज्जलिका (कजरी) नक्तकं (नकटा), प्रचरणम् (पचरा), बटुकगीतम् (वरुआ/यज्ञोपवीत), सतगृहगीतम् (सोहर), चतुस्तालगीतम् (चौताला), फाल्गुनिकम् (फाग/फगुआ होली), रसिकम् (रसिया), स्कन्धहारीयम् (कहँरवा), औष्ट्रहारिकम् (उटहारा), चैत्रकम् (चैता), उत्थापनम् (उठान) पारसीकभाषासम्मतं पारसीकगीतं गलज्जलिका (गज़ल) - प्रभृतिगीतानां स्वरूपं प्रायः स्वयंकृतोदाहरणैः प्रस्तुतीकृतम्। सामान्यजने अपि प्रसिद्धानि लोकभाषागीतानि काव्यशास्त्रीयग्रन्थे सोदाहरणमुपन्यस्तम्। एतेन ग्रन्थकारस्य स्वक्षेत्रानुरागः सामान्यजनानुरागश्च स्फुटी भवतः। ग्रन्थकारः सर्वविधसाहित्यसर्जनदक्षोऽपि विद्यतेऽतः प्रायोगिकानुभवेन काव्यशास्त्रग्रन्थप्रणयनेऽप्यद्भुतं साफल्यमलभत्। अन्याऽप्यस्य काव्यशास्त्रीया कृतिः कारिकामयी प्रकाशिता अभिनवरसमीमांसेति। अत्र त्रयः परिच्छेदा विद्यन्ते प्रथमे 68 कारिकाः, द्वितीये 100 कारिकाः, तृतीये च 133 कारिकाः सन्ति। आदौ चतुर्विंशतिपृष्ठात्मिका हिन्दीभाषया प्रणीता नन्दीवाक् विद्यते। नन्दीवाक् समाप्तौ करुणरसस्यैकमुदाहरणं प्रदत्तं यस्मिन् मातृहृदयस्य व्यञ्जनापूर्णे पद्ये विभावाद्यभावेऽपि अखण्डानुभूतिर्भवति तद्यथा -

आदाय निखिलं मांसं स्तनवर्जं कलेवरात्।
मुञ्चमां व्याध! याहि त्वं भ्रातर्मयि दयां कुरु॥
अद्यापि घासकवलग्रसनेऽज्ञो ममार्थकः।
मन्मार्गं वीक्षते सायं दुग्धमात्रेण जीवितः॥

[9] नन्दीवाचि

अस्य ग्रन्थस्य भाषा सहजा बोधगम्या च विद्यते। येन छात्राणां कृतेऽत्यन्त-मुपयोगी ग्रन्थोऽयं विद्यते। संस्कृतकाव्य-शास्त्रस्य समीक्षात्मकेतिहासोन्मीलनेऽपि आचार्य अभिराजराजेन्द्र-मिश्रस्य प्रशस्तोग्रन्थः -

'संस्कृत का अर्वाचीन समीक्षात्मक काव्यशास्त्र'-इत्यस्ति ग्रन्थोऽयं हिन्दी-भाषया दशपरिच्छेदेषु विभक्तः। आचार्यभरतात्पूर्वयुगतो वर्तमानं यावत्संस्कृत-काव्यशास्त्रस्य प्रातिभं विवेचनमत्राचार्येणाभिराजेन व्यधायि। विस्तरभिया प्रति-पादिता विषया एवात्र सङ्क्षेत्यन्ते-प्रथम परिच्छेद-संस्कृतकाव्यशास्त्रः पूर्व भरत-युग, द्वितीयपरिच्छेद-संस्कृतकाव्यशास्त्रः भरतयुग, तृतीयपरिच्छेद-भरतोत्तरयुग, चतुर्थपरिच्छेद-पण्डित-राजोत्तरयुग, पञ्चमपरिच्छेद-संस्कृतकाव्यशास्त्र विवेच्य-विषय, षष्ठपरिच्छेद-परिचयोन्मेष-काव्यप्रशंसा, काव्यप्रयोजन, काव्यलक्षण एवं काव्यविभाजन, सप्तमपरिच्छेद-शरीरोन्मेष-शब्दार्थसमष्टि, शब्दशक्तियाँ-अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना तथा तात्पर्यार्थ, वृत्ति एवं रीति, गुण एवं अलंकार, काव्यदोष, अष्टमपरिच्छेद-आत्मोन्मेष-काव्यात्मसमस्या। रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, औचित्य और ध्वनि की काव्यात्मता। ध्वनिविरोध, ध्वनिप्रतिष्ठापन एवं ध्वनि की काव्यात्मकता का शाश्वतौचित्य। नवमपरिच्छेद-निर्मित्युन्मेष-नाट्यशास्त्रीयबन्धव्यवस्था-चूर्ण एवं निबद्ध। बन्धविकासगद्यपद्य एवं मिश्र (चम्पू) गद्यबन्धविस्तार। मिश्रबन्धविस्तार। दशमपरिच्छेद-अर्वाचीन संस्कृत साहित्यः एक विश्लेषण, पारम्परिकसर्जना, गीतात्मकसर्जना, गलज्जन्निका (गज़ल) सर्जना, छन्दोमुक्तसर्जना। अयमपि काव्यशास्त्रस्य परिचायको महनीयो ग्रन्थः एवमभिरा-जमिश्रस्य - (1. अभिराजयशोभूषण, 2. रसमीमांसा तथा च 3. संस्कृत का अ-र्वाचीन समीक्षात्मक काव्यशास्त्र) त्रयोग्रन्थाः संस्कृतकाव्यशास्त्रदिशाप्रणीताः स-न्ति ये काव्यशास्त्रजिज्ञासूनां। कृतेऽत्यन्तमुपकारकाः सन्ति। अस्य काव्यरचना आश्रित्य द्वादशशोधप्रबन्धाः प्रस्तुताः सन्ति। तेषु केचन प्रकाशिता अपि विद्यन्ते।

आचार्य-शिवजी-उपाध्यायस्य साहित्यविमर्श इति ग्रन्थः 1990 ई. वर्षे प्रकाशितः। यस्मिन्नादौ प्रसिद्धमीमांसासाहित्यविदुष आचार्यपट्टाभिरामशा-स्त्रिणो महत्त्वपूर्णभूमिका सम्पूर्णानन्द-संस्कृतविश्वविद्यालयस्य कुलपतेः प्रसिद्धस्य संस्कृतहिन्दीविदुष आचार्यविद्यानिवासमिश्रस्य शुभाशंसा च मुद्रिते विद्येते। आचा-र्योपाध्यायस्य साहित्यशास्त्रस्य तलस्पर्शिज्ञानमत्र सहजबोधगम्याभिः कारिकाभिः व्यक्तीकृतं परीदृश्यते। अस्मिन् ग्रन्थे षड् निबन्धाः साहित्यसन्दर्भसम्पृक्ताः परिशिष्टे च द्वौ निबन्धौ मोक्षसाधकविमर्शोऽथ च मीमांसायामितिकर्तव्यतया धर्मतत्त्वविमर्शः प्रणीतौ स्तः। ते चैवम् -

1. रसतत्त्वविमर्शः
2. काव्यस्वरूपविमर्शः

3. काव्ये धर्मधर्मिभावविमर्शः
4. साहित्यस्वरूपविमर्शः
5. सौन्दर्यविमर्शः
6. योगदृशा रसबोधविमर्शः
7. मोक्षसाधनविमर्शः
8. मीमांसायामितिकर्तव्यतया धर्मतत्त्वविमर्शः

ग्रन्थोऽयं परम्परापोषकस्तथापि स्वोपज्ञकारिकासु रसादिनिरूपणे साहित्यस्यापि परमपुरुषार्थे मोक्षेऽन्वितिरुन्मीलयति। यथोक्तं ग्रन्थकृता स्वीये निवेदने - 'सर्वेषां शास्त्राणां परमा परमा चोपलब्धिमोक्षाख्यः पुरुषार्थः, स च साहित्यशास्त्रस्याप्यभिलषणीयः स्पृहणीयश्च। वेदान्तशास्त्रोपदिष्टमोक्षस्तत्साधनञ्चेति द्वयं साहित्येनाविरुद्धमिति सोऽपि विषयोऽत्र संश्लिष्टदिशा विमृष्टः सुधियां समावर्जनाय। किञ्च मीमांसायामितिकर्तव्यताविचारो भावनानुकूलक्रियार्थत्वासाहित्यशास्त्रानुरोधीति तद्विमर्शोऽप्यत्र प्रस्तुतः अलङ्कारगुणदोषरीतिवृत्तिप्रभृतयस्तत्तल्लक्षणग्रन्थेषूपनिबद्धा विषया यद्यप्यत्रानन्तर्गतास्तथापि 'काव्यस्यात्मा रस' इति सिद्धान्तात्रेषामङ्गतया तदङ्गिनि रसतत्त्वे निरूपिते तत्र ते पर्यवस्यन्तीति पृथङ्नोक्ताः। अन्ते च ग्रन्थकृत्कथयति -

नूतनं किमेतत्? किमु तत्त्वमत्र? का वैदुषी? का च विधेयदृष्टिः?
यावन्न सूक्ष्मेक्षिकया समीक्ष्य, परीक्ष्यते तावदलक्षितं स्यात्॥

आचार्यरहसबिहारीद्विवेदिनः कारिकाग्रन्थः मूलरूपेण सागरिकापत्रिकायां अथ च आधुनिक संस्कृतकाव्यशास्त्रसमीक्षणमिति आचार्यरमाकान्तपाण्डेय संपादिते ग्रन्थे (जगदीशपुस्तकालय, जयपुरतः) प्रकाशितः। अस्य ग्रन्थस्य नाम - 'नव्यकाव्यतत्त्वमीमांसा'। अस्मिन् ग्रन्थे सप्तसप्तति-कारिकासु आधुनिकसंस्कृतसाहित्यविधानां निरूपणं कृतं विद्यते। तद्यथा -

1. काव्यप्रयोजनम्
2. काव्यहेतुः
3. काव्यलक्षणम्
4. महाकाव्यम्
5. रागकाव्यम्
6. विगानकाव्यम्
7. दूतकाव्यम्
8. लहरीकाव्यम्
9. उपन्यासः
10. लघुकथा (कथानिका)
11. प्रगतिशीलकाव्यम्
12. सौन्दर्यविधानम्
13. बिम्बविधानम्
14. प्रतीकविधानम्
15. प्रक्षोभरसः
16. राष्ट्रभक्तिरसः

17. स्तोत्रकाव्यम्
18. शतकम्
19. समस्यापूर्तिः
20. नमोनाट्यम् (रेडियोरूपकम्)
21. गीतम्
22. अनुकृतिकाव्यम् (पैरोडी)
23. हास्यं व्यङ्ग्यञ्च
24. अन्योक्तिकाव्यम्
25. बिल्वपत्रम् (हाईक)
26. तन्त्रकाव्यम्
27. सीजोकाव्यम्
28. लघुबिम्बकाव्यम् (मोनोइमेज)
29. लिपिरूपकम्
30. लघुवर्णकाव्यम्
31. लोकोत्तद्वादस्य व्याप्तश्च तद्यथा -

रसोऽलङ्काररीतिश्च ध्वनिर्वक्रोक्तिरौचिती।
यान्ति लोकोत्तराह्लादमर्णवं सरितो यथा॥

एताः कारिका आचार्यराधावल्लभत्रिपाठिनाऽऽयोजितायां काव्यशास्त्रसङ्गोष्ठ्यामाचार्यबच्चूलालावस्थिन आध्यक्ष्ये आचार्यराममूर्तित्रिपाठिन आचार्यनामवरसिंहस्य च मुख्यातिथ्ये सागरस्थ डाक्टरहरिसिंहगौरविश्वविद्यालये पठिताः। अतः तस्य विश्वविद्यालयस्य संस्कृतपरिषदः सागरिकापत्रिकायां प्रकाशिताः तत एवाचार्य रमाकान्तपाण्डेयेन स्वसम्पादिते ग्रन्थे प्रकाशिताः। आचार्यस्य रहसबिहारीद्विवेदिन एकोऽन्यः काव्यशास्त्रीयो ग्रन्थः 'काव्याधिकरणानुतिविमर्शः' - अस्मिन् ग्रन्थे ऋग्वेदे प्रोक्ते 'वत्सो वां मधुमद्वचोऽशंसीत् काव्यः कविः' (8.8.11) इति मन्त्रांशमधिकृत्य केवलं वचस एव काव्याधिकरणत्वं स्वीकृतं यतो हि शब्दो भेरीध्वनौ अतिव्याप्तो भवति। अर्थश्च रक्तहरिदादिप्रकाशे 'द्रव्यं वित्तं स्वापतेयं रिक्थमृक्थं धनं वसु। हिरण्यं द्रविणं द्युम्नमर्थैरैविभवा अपि।' इत्यादावतिव्याप्तो दृश्यते। पदमपिपदं व्यसितित्राणस्थानलक्ष्मङ्गिवस्तुषु गोष्पदं सेविते प्रतिष्ठा कृत्यमास्पदम्। इत्यादिरूपेण प्रयुक्तत्वादतिव्याप्तो भवति पदशब्दः। मम्मटेनापि मङ्गलपद्ये -

नियति कृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्रताम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति।

राजशेखरस्य काव्यपुरुषविवेचने काव्यप्रतीकभूतः काव्यपुरुषः सरस्वत्या एव जातः। आनन्दवर्धनेनाऽपि –

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
आलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्॥

इत्येवं सरस्वत्या एवाधिकरणत्वं स्वीकृतम्। वागिति काव्याधिकरणस्वीकारे केवलं मानववाण्या एव बोधो भवति। वागिति स्वीकारे परापश्यन्तीमध्यमावैखरीति भेदाः वाचि अन्विता भवन्ति। मध्यमावैखर्योः शब्दार्थयोर्बोधकेऽपि वर्तेते।

उन्मेषेऽनुभूतौ च परापश्यन्त्योरपि योगो भवति। अतः स्वयमपि द्विवेदिना स्वकीयां नव्यकाव्यतत्त्वमीमांसायां काव्यलक्षणे वाच एवाधिकरणत्वं स्वीकृतं तद्यथा -

लोकोत्तरे हृदाह्लादे लोकोद्बोधे च सङ्कता।
प्रज्ञावतः कवेः सद्वाक् काव्यमित्यभिधीयते।

एवं काव्याधिकरणं वागिति तन्मतः विद्यते यदनुभूतिः पञ्चमहाभूतानां तन्मात्राक्रमणे क्रमशः कर्णत्वगक्षिरसना घ्राणतोऽसंलक्ष्यक्रमेण (सम्मिलितरूपेण) भवति तद्यथा -

शब्दः श्रुत्या स्पृशति हृदयं रूपतो रस्यमानश्
चान्तभूर्मि नयति सपुरः शब्ददेवो वराहः।
व्योम्नो वातस्तदथ अनलस्तज्जलं भूरिदं यत्
काव्यास्वादक्रम इह परो यो हि तन्मात्रमार्गी॥
सौन्दर्यं तन्नयनविषयं रम्यरूपं व्यनक्ति
माधुर्यं तद्रस इति हृदास्वाद्यमानं विभाति।
सौन्दर्यं यल्लसति पदतश्चार्थतोऽलङ्कृतिः सा
योऽलङ्कृत्योपकृतमधुरोऽलौकिकोऽयं रसोऽस्ति॥

एवमधिकरणमनुभूतिप्रक्रिया च 'काव्यधिकरणानुभूतिविमर्शे' ग्रन्थे बहुभिस्तकैराचार्येण द्विवेदिना प्रतिपादिता। ग्रन्थान्ते तस्यानुरोधोऽपि वरीवर्ति -

काव्यतत्त्वविमर्शोऽत्र त्रुटिश्चेदनुशीलने।
काव्यशास्त्रधुरीणा ये कृपया निर्दिशन्तु माम्॥

आचार्य गोविन्दचन्द्रपाण्डेयस्य सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयतः प्रकाशितो ग्रन्थः सौन्दर्यदर्शनविमर्श इत्यस्ति। अत्र त्रयोऽध्यायाः सन्ति -

1. सौन्दर्यशास्त्रस्वरूपालोचनम्
2. रूपतत्त्वविमर्शः
3. रसतत्त्वविमर्शः

तस्य मतं - अद्यत्वे सुप्रथितं पाश्चात्त्येषु विपश्चित्सु आस्माकीनेष्वपि च परिशीलितपाश्चात्त्यशास्त्रेषु 'इस्थैटिक' इत्याख्यं नूतनविद्याप्रस्थानं प्रथमतः वाउमगार्टनइत्याख्यैः शर्मण्यदेशीयैराचार्यैः ख्रिस्ताब्दानामष्टादशेशतके प्रत्यपादि। तदेव

प्रायः सौन्दर्यशास्त्रमित्यनूद्यते। शास्त्रस्यास्य मुख्यः प्रतिपाद्यो व्युत्पत्या ऐन्द्रियप्रत्यक्षास्वादो विषयविशेषः, प्रवृत्या तु स्वलक्षणवत – अतुल्योऽनिर्वाच्य कल्पोऽपि कश्चिद् अर्थाकारावच्छिन्नोऽतिशयविशेषः चमत्कारापरपर्यायः सौन्दर्याख्य इति वक्तुं शक्यते। सौन्दर्यस्य स्वरूपमाचार्येणैव प्रत्यपादि -

आस्वाद्यो ज्ञानमात्रेण विमृश्यश्च स्वरूपतः।
आकारगतोत्कर्षस्तत्सौन्दर्यमभिधीयते॥

भवतु नाम बाउमगार्टनेत्याख्यस्य प्राथम्यं किन्तु व्यावहारिकरूपेण सौन्दर्यशब्दं कण्ठत उपात्तीकुर्वता प्राक्तनेन कविना कालिदासेनापि सर्वोवभाद्रव्य समुच्चयेन यथा प्रदेशं विनिवेशितेन, सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयात्रादेकस्थ सौन्दर्यदृदृक्षयेव। इति रूपेण कुमारसंभवे पार्वतीवर्णने प्रत्यपादि। काव्यशास्त्रपितामहोभामहोऽपि सौन्दर्यस्थितिं प्रतिपादयति काव्यालङ्कारे -

सन्निवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते।
नीलं पलाशमाबद्धमन्तराले स्रजामिव॥
किञ्चिदाश्रयसौन्दर्याद्धत्ते शोभामसाध्वपि।
कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम्॥[10]

राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानस्य (भोपालपरिसरस्य) शास्त्रमीमांसापत्रिकायां प्रथमेऽङ्के प्रथमे शोधपत्रेऽस्य विस्तृतं विवेचनं कृत्वा भारतीयं सौन्दर्यविषयकं मतं मया प्रत्यपादि। तस्मिन् पाण्डेयमहभागानां मतं समीक्षितम्। भारतीयाः सौन्दर्यविषयेऽज्ञा इति भ्रान्तं मतमिति शोधपत्रे मया प्रमाणितम्। डॉ. हर्षदेवमाधवस्याधुनिकं काव्यशास्त्रं वागीश्वरीकण्ठसूत्रमिति स्वोपज्ञवृत्तिहिम्द्यनुवादसाहित्यम् विद्यतेऽस्य सम्पादको डॉ. पण्ड्या प्रवीणः। राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानदेहलीतः प्रकाशितोऽयं ग्रन्थः। ग्रन्थेऽस्मिन् षडाध्यायाः सन्ति।

1. वाक्तत्त्वपद्मरागः
2. अर्थतत्त्वमौक्तिकम्
3. बिम्बतत्त्वपुष्परागः
4. नव्यपरिभाषा तत्त्वेन्द्रनीलमणिः
5. रसतत्त्वविद्रुमम्
6. अलङ्कारतत्त्वप्रवालम्

[10] 1/54,55

प्रथमेऽध्याये कवितास्वरूपमेवं प्रतिपादितं कवितास्वरूपमिति शीर्षके श्रीं श्रीः स्वतन्त्राचितिः पराम्बा (1.1) सैवानन्दरूपा परामुदिता (1.2) विश्वसिद्धिहेतुर्मैत्री करुणामुदितोपेक्षामयी विविधरूपा सा (1.3) कवेर्द्वे मनोवृत्तिः प्रधाने रुचिश्चारुचिश्च (1.4) सत्त्वरजोगुणैरेवानुभूतिभेदः (1.5) मैत्री करुणामुदितोपेक्षास्त्रैगुण्यमय्यः (1.6) आशावादो मैत्रीमुदितयोः (1.7) नैशश्यवादः करुणापक्षयोः (1.8) कलार्थं कलामुदिता (1.9) जीवनार्थं कलामैत्री (1.10) जीवने प्रवेशः, तस्माद् वा पलायनं करुणापेक्षयोः (1.11) स्पन्दशीला प्रतिभा तस्य कारणम् (1.12) लोकलोकत्तरापूर्ववर्णनक्षमं कविकर्म काव्यम् (1.13) एवं रूपेण विलक्षणपद्धत्या कवितास्वरूपं ग्रन्थस्य प्रणयनस्थितिं निरूप्य डॉ. हर्षदेवमाधवः कथयति 'सहसापूजाकाले मैत्र्यादिवासनालभ्या' इति ललितासहस्रनामस्तोत्रं मातुर्नाम स्मृतिपथं समागतम्। पश्यन्ती वाचो विद्युच्चमत्कारो जातः। यदि माता मैत्र्यादिवासनालभ्या स्यात् तर्हि भगवत्याश्चरणकुङ्कुमलवकृपाप्राप्तः कविरपि मैत्र्यादिवासनायुक्तो वागीश्वरीमेवाराधयति। अतः समग्रमपि काव्यविश्वं मैत्र्यादिवासनानां नानावर्णकोटिमेघधनुभिरेव ब्रह्माण्डे व्याप्नोति। तदैव मया कानिचन सूत्राणि सृष्टानि।

मन्येऽयं ग्रन्थः पश्यन्त्या विद्युच्चमत्कारकारणात् प्रणीतः। अतः सर्वथा नूतनं परम्परातो भिन्नमिदं काव्यशास्त्रम्। अत्र पूर्वोद्धृतैः सूत्रैर्ग्रन्थकृत्कवितास्वरूपं मेघाच्छन्ने नभसि विद्युदिव - 'लोकलोकोत्तरापूर्ववर्णनक्षमं कविकर्म काव्यमिति 1013 सूत्रे 43 पृष्ठे प्रतिपादितम्।' इत्यलं पल्लवितेन। आचार्यस्य अमरनाथपाण्डेयस्य 'काव्यसिद्धान्तकारिका' लखनऊतआचार्यस्य अशोककुमार कालिया महोदयस्य सम्पादने अजस्रापत्रिकायाश्चतुर्दशवर्षस्य प्रथमद्वितीय-संयुक्ताङ्के प्रकाशिता। अस्यां अधिक नवतिः कारिकाः सन्ति। एतासु कारिकासु प्रणेतुरेकतः कवित्वनैपुण्यमपरतश्च पौरस्त्यपाश्चात्यकाव्यशास्त्रसिद्धानां मननतरितीर्णविद्यार्णवत्वं प्रमाणितं भवति। कथ्यस्फुटीकरणसमर्थैः समुचितशब्दप्रयोगैः शास्त्रतत्त्वप्रतिपादनक्षमा अप्येताः कारिका सुललिताः सुखावबोधिन्यश्च सन्ति। सर्वाः कारिकाः प्रायश उपजातिच्छन्दसि प्रणीताः। अस्मिन् कारिकामये ग्रन्थे काव्यसर्जनकाव्य समीक्षणस्य सिद्धान्ताः प्रतिपादिताः सन्ति। अस्मिन् कारिकाग्रन्थे कस्यापि खण्डनमथवा मण्डनं न कृतम्। पूर्वकाव्यशास्त्रसिद्धान्ताध्ययनं तु पदे पदे भासते किन्त्वत्र लेखकः स्वकीयं सुचिन्तितं मतं प्रकटीकरोति। अस्मिन् ग्रन्थे काव्यप्रयोजनम् काव्यस्वरूपम्, कविगुणाः, काव्यसत्यम्, काव्यसौन्दर्यम्, काव्यभाषा काव्यबिम्बः, काव्यदर्शनम्, कलाप्रयोजनम्, काव्ये लोकव्यवहारः काव्यस्य व्याप्तिश्चेत्यादिविषया मौलिकरूपेण निरूपिताः। यत्कृताऽस्य ग्रन्थस्य समीक्षाऽऽचार्यरमाकान्तपाण्डेयस्य सम्पादिते आधुनिक संस्कृतकाव्यशास्त्र समीक्षणमितिग्रन्थे प्रकाशिता विद्यते।

पण्डितराजोत्तराधुनिककाव्यशास्त्रस्य परिचयः डॉ. आनन्दकुमार श्रीवास्तवस्य ईस्टर्नबुकलिकेर्स प्रकाशनतः प्रकाशिते आधुनिकसंस्कृतकाव्यशास्त्र ग्रन्थे प्रकाशितं वर्तते पुनश्च डॉ. राजमङ्गलयादवस्य प्रतिमाप्रकाशनदिल्लीतः प्रकाशिते ग्रन्थे संस्कृत काव्यशास्त्रकी अर्वाचीन परम्परा इति ग्रन्थे नूतनतमानामपि काव्यशास्त्रीयग्रन्थानां परिचयः प्रदत्तो विद्यते। नव्यकाव्यसमीक्षादिशा राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानदिल्लीतः प्रकाशिते 'आधुनिक संस्कृत काव्य की परिक्रमा'इति डॉ. मञ्जुलताशर्मग्रन्थे सम्यक् विवेचनं कृतं वरीवर्ति। पण्डितराजोत्तरीयाणां काव्यग्रन्थानां काव्यशास्त्रीयग्रन्थानां सहस्राधिकैः पृष्ठैर्विवेचनमपेक्षते। सङ्क्षेपेण केषाञ्चित् विषयविशेषमाश्रित्य कृतानां ग्रन्थानां सूचनाऽत्र दीयते। अधः सङ्केतिता आचार्या अपि महत्त्वपूर्णा तेषां प्रतिपाद्य विषयोन्मीलनाय प्रतिग्रन्थं स्वतन्त्रप्रबन्धा अपेक्ष्यन्ते विस्तरभयादत्र केवलं तेषां ग्रन्थनामोल्लेखः क्रियतेऽभिनवकाव्यशास्त्रजिज्ञासूनां कृते आचार्यचण्डिकाप्रसादशुक्लस्य विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसीतः प्रकाशिता ध्वन्यालोकस्य दीपशिखा टीका। लखनऊ विश्वविद्यालयतः आचार्यबृजेशकुमारशुक्लेन प्रकाशितायां वाङ्मयीपत्रिकायामभिनवगुप्तविशेषाङ्के मम शोधपत्रं ध्वन्यालोकलोचनदीपशिखाटीका समीक्षणे प्रकाशितम्। आचार्यचन्द्रमौलिद्विवेदिनः (काशीहिन्दूविश्वविद्यालये साहित्यविभागाध्यक्षस्य) 'रसवसुमूर्तिः' ग्रन्थे रसनिष्पत्तिविषये साधुविवेचनं दृश्यते। राजमङ्गलयादवस्य ग्रन्थेऽनेकेषां काव्यशास्त्रीयग्रन्थानां ग्रन्थकाराणां च परिचयः प्रदत्तः। तद्यथा व्यञ्जनादः यदुनाथमिश्रस्य, साहित्योद्देशः सीतारामशास्त्रिणः, साहित्यमञ्जरी श्रीपादहसूरकरस्य, भक्तिरसार्णवः स्वामिनः करपात्रस्य, रसचन्द्रिका झोपाह्लेखनाथस्य, लोकमान्यालङ्कारः गजाननकरमरकरशास्त्रिणः, साहित्यविमर्शः कौत्साप्पलसोमेश्वरशर्मणः, साहित्यविमर्शः रहसबिहारीद्विवेदिनः, साहित्यसारः कवेः सर्वेश्वरस्य, साहित्यविन्दुछज्जूरामशास्त्रिणः, अभिनवकाव्यप्रकाशः गिरिधरलालव्यासस्य, ध्वनिकल्लोलिनीझाआनन्दस्य काव्यसत्यालोकः ब्रह्मानन्दशर्मणः, व्यञ्जनावृत्तिविचारः रामावतारमिश्रस्य, सौन्दर्यकारिका जगन्नाथपाठकस्य, मैथिलीकाव्यविवेकः कविशेखर झा बदरीनाथस्य, काव्यतत्त्वविवेकः तिवारीरमाशङ्करस्य, काव्यात्मनिर्णयः हरिश्चन्द्रदीक्षितस्य अभिनवकाव्यशास्त्रम् अवतरेशङ्करदेवस्य, चमत्कारविचारचर्चा रामप्रतापवेदालङ्कारस्य, लघुच्छन्दोऽलङ्कारदर्पणः नित्यानन्दशास्त्रिणः, अलङ्कारविद्योतनम् झाकृष्णमाधवस्य। एकमेकोनविंशति शत्युत्तरार्द्धतोऽद्यावधिपर्यन्तं काव्यशास्त्रमधिकृत्यानेके ग्रन्थाः प्रणीता। एतेषु आचार्यराधावल्लभत्रिपाठिनः काव्यालङ्कारसूत्रग्रन्थे प्रायशः सर्वाणि काव्याह्लादकतत्त्वानि बाह्याभ्यन्तरालङ्कारेषु अन्तर्भूतानि विद्यन्तेऽलौकिकतत्त्वस्य च निषेधोऽत्र कृतः लोकस्य त्रैविध्यं तथा चा लङ्कारस्य महती व्याप्तिः ग्रन्थस्यास्य वैशिष्ट्यम्।

डॉ. हर्षदेवमाधवस्य वागीश्वरीकण्ठसूत्रे पूर्ववर्तिभिराचार्यैर्विवेचिता विषया मैत्रीमुदिताकरुणोपेक्षेति चतसृभिर्मूलवासनाभिः समग्रं वाङ्मयमन्तर्गर्भीकृतम्। एतदर्थं क्वचित्प्राक्तनकवीनां क्वचिन्नूतनकवीना मुदाहारणानि दत्तानि। माधवस्य विवेचनं पारम्परिक काव्य शास्त्रात्सर्वथाभिन्नं ललिता सहस्रनामस्तोत्र प्रभावेण समुद्भावितं विद्यते। अभिनवकाव्यशास्त्रस्य परिचयार्थम् – डॉ. आनन्दकुमार श्रीवास्तवस्य आधुनिक संस्कृतकाव्यशास्त्र, डॉ. राजमङ्गलयादवस्य संस्कृतकाव्य संस्कृतकाव्यशास्त्र की अर्वाचीन परम्परा तथा च आचार्य रमाकान्त पाण्डेयस्य सम्पादितो ग्रन्थः आधुनिककाव्यशास्त्रसमीक्षणम् इत्येते ग्रन्था अवलोकनीयाः। अन्ततो विनम्रं निवेदमेकं मम विद्यते। यथा - 'सुप्तिङन्तं पदम्'[11] इति पदलक्षणं वैयाकरणा मन्वते तथैव 'मधुमद्वचोऽशंसीत् काव्यः कविरिति' ऋग्वेदोक्तिः (8।8.11) अर्थात् मधुमद्वचः काव्यमिति काव्यलक्षणं काव्यशास्त्रिणः स्वीकुर्वन्तु। यतोहि काव्यस्य उन्मेषानुभूतौ परापश्यन्योरपि योगदानं भवति। मध्यमा वैखर्यौ (शब्दार्थौ वा) सामान्यलोकव्यवहारेऽपि प्राप्येते। विज्ञेष्वलमिति। विशिष्टं निरूपणं यम 'काव्याधिकरणानुभूतिग्रन्थे' द्रष्टव्यम्।

शब्दसंकेत

1. अष्टा. - अष्टाध्यायी
2. ऋ. - ऋग्वेद
3. काव्या. - काव्यालंकारकारिका
4. ध्व. - ध्वन्यालोक
5. भाम. - भामह
6. र.मी. - रसमीमांसा
7. सा.द. - साहित्यदर्पण

सन्दर्भग्रन्थसूची

1. ऋग्वेद, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, २००६
2. काव्यालङ्कारकारिका – आचार्य रेवा प्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा सुर भारती, वाराणसी, 1977

[11] अष्टा. 1।4।14

3. काव्यालङ्कारकारिका (अभिनवं काव्यशास्त्रं), सनातनकवी रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण १९७७

4. काव्यालंकारसूत्राणि, कामधेनु टीका, टीकाकार - गोपेन्द्र त्रिपुरहर भूपाल. संपा. बेचन झा, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, द काशी संस्कृत सीरीज - २०९

5. ध्वन्यालोक, आनन्दवर्धन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1965

6. पाणिनिविरचिता अष्टाध्यायी, परिष्कर्ता श्रीगोपालदत्तशास्त्री, सम्पा. श्रीगोपालदत्तपाण्डेयः, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन ग्रन्थमाला, २०१७

7. वक्रोक्तिजीवितम् सटिप्पण प्रकाश हिन्दीव्याख्योपेतम्, सम्पा. श्री राधेश्याम मिश्रा, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९९८

8. विश्वनाथकविराजप्रणीतः साहित्यदर्पणः, श्रीमदनन्तदासेन विरचितया लोचनाख्यया भट्टाचार्यश्रीमहेश्वरतर्कालङ्कारप्रणीतया प्राचीनया विज्ञप्रियासमाख्यया च व्याख्यया समलङ्कृतः, मोतीलाल बनारसीदास, पटना, १९३८

9. श्रीमदानन्दवर्धनाचार्यप्रणीतो ध्वन्यालोकः, सम्पा. पं. दुर्गाप्रसाद, निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई, १९२८

निपातार्थो द्योत्यः आहोस्वित् वाच्यः ?

प्रमोदकुमारशर्मा

वैयाकरणभूषणसारस्थनिपातार्थनिर्णयप्रकरणस्य कृतेऽस्मिन् पर्यायलोचने श्रीमत्कौण्डभट्टस्य निपातार्थमीमांसा एव प्रबन्धेऽस्मिन् मयका निरूप्यते। निपातोपसर्गयोरर्थस्य द्योतकत्वं वाचकत्वं वेति विषये प्राचीनकालादेव विद्वत्सु विवादः प्रवर्तितो दृश्यते। मुख्यरूपेणात्र त्रयः पक्षाः विद्यन्ते। केचित् तु उपसर्गाणां द्योतकत्वं तथा निपातानां वाचकत्वं मन्वते। केचित् द्योतकत्वमेवास्तीति वदन्ति, केचिदमरकोशप्रभृतयो वाचकत्वमेव स्वीकुर्वन्ति -

निपाताः द्योतकाः केचित् पृथगर्थाभिधायिनः।
आगमा इव केऽपि स्युः सम्भूयार्थस्य वाचकाः॥
चादयो न प्रयुज्यन्ते पदत्वे सति केवलाः।
प्रत्ययो वाचकत्वेऽपि केवलो न प्रयुज्यते।[1]

इत्यादिभर्तृहरिवाक्यात् उपर्युक्तं सर्वं प्रमाणितं भवति। नैयायिका हि निपातानां वाचकत्वं मन्वते तथा उपसर्गाः द्योतकाः भवन्ति इति वदन्ति। किन्तु वैयाकरणाः भूषणसारकारादयोऽपि प्रादिचाद्योरुभयोरपि अर्थस्य द्योतकत्वं स्वीकुर्वन्ति। प्रबन्धेऽस्मिन् विस्तारेण एतदेव पूर्वोत्तरपक्षाभ्यां साधकबाधकयुक्तिभ्यां सुस्पष्टतया प्रतिपादयिष्यते।

नैयायिकमतं पृथगस्ति। नैयायिकाः उपसर्गाणां तु द्योतकत्वं स्वीकुर्वन्ति परन्तु निपातानां द्योतकत्वं न स्वीकुर्वन्ति। निपातास्तु वाचकाः एव भवन्ति। अत्र पक्षममुं परिपोषयितुं ते अमरकोशकारवाक्यमपि आनयन्ति, परन्तु वैयाकरणाः एतेषां नैयायिकानां युक्त्या खण्डनं कुर्वन्ति। वैयाकरणैस्तु एतत्प्रतिपादयिष्यते यत् निपाताः प्रादयो भवन्तु उत चादयः, सर्वे द्योतकाः एव भवन्ति। द्योतकत्वमुभयत्र समानमेवास्ति। तथैव निपातत्त्वमपि उभयत्र सममेवाऽस्ति। प्र आदिर्येषां ते प्रादयः अत्र बहुव्रीहिः समासः, प्रादयः = प्र, परा, अप, सम्, अनु, इत्यादयो द्वाविंशतिः प्रादयो भवन्ति। एतेषां प्रादीनाम् 'उपसर्ग' इत्यपरं नाम। उपसर्गाः क्रिययोगे[2] इति सूत्रेण प्रादीनामुपसर्गसंज्ञा क्रियायोगे क्रियते।

एतेषां प्रादीनां प्रयोगः "ते प्राग्धातोः"[3] इति सूत्रेण धातुतः प्राग्वर्तिनो

---

1 वा.प.वाक्य
2 अष्टा. १/४/५९
3 अष्टा. १/४/८०

भवन्ति। एते प्रादयो द्योतका इति नैयायिकमतम् अस्ति। च आदिर्येषां ते चादयः = च, वा, अह इत्यादयः चादयो विभक्तिविहीनाः सिद्धान्तकौमुद्याः अव्ययप्रकरणे पठिताः सन्ति। एते चादयो वाचकाः इत्यपि नैयायिकमतमस्ति। चादीनां वाचकत्वमिति तथा प्रादीनां द्योतकत्वमित्येतदेतेषां नैयायिकानां मतमिदं सर्वथा अयुक्तम् अर्थात् अनुपयुक्तमस्ति। यतोहि एतयोः चादिप्राद्योः वैषम्ये = विषमतायां बीजाभावात् = बीजं कारणं तस्य अभावात् = असत्त्वात्। "चादयोऽसत्त्वे"[4] इति सूत्रेण उभयोः चादिप्राद्योः निपातसंज्ञा क्रियते। अतः एतयोः निपातत्वं समानम्। अर्थात् यथा चादयो निपातसंज्ञकाः सन्ति तथैव प्रादयोऽपि निपातसंज्ञका सन्ति। एतेषु समानेषु निपातेषु कतिचित् प्रादयो द्योतकाः भवन्ति, कतिचिच्च चादयो वाचकाः भवन्तीत्येवं निपातानां विषये नैयायिकानां यन्मतमस्ति तत् समीचीनं नास्तीति तात्पर्यम्। यतोहि उभयोः विषमतायां किमपि आधाराभूतं कारणं नास्ति, येनेदं वक्तुं शक्नुयाद् यदस्मात्कारणात् प्रादयो द्योतकाः सन्ति, तथा अस्मात् कारणात् च चादयो वाचकाः सन्ति इति। समानेषु निपातेषु समानमेव मतं भवितव्यम्। येन हेतुना प्रादयो द्योतकाः सन्ति तेनैव हेतुना चादयोऽपि द्योतकाः भवन्ति, इत्यभिप्रायविशेषं मनसि निधाय श्रीमद्भट्टोजिदीक्षितमहोदयैरियं कारिका विलिखिता -

द्योतका प्रादयो येन निपातश्चादयस्तथा।
उपास्येते हरिहरौ लकारो दृश्यते यथा॥[5]

अस्यायमभिप्रायः - यस्मात् कारणात् प्रादयो द्योतकाः अर्थात् (धातुगर्भस्थतिरोहितानाम्) अर्थानां प्रकाशकाः, तस्मादेव कारणात् चादयोऽपि स्वस्यार्थस्य प्रकाशकाः सन्ति, उभयोरर्थप्रकाशकत्वं समानमेवास्ति। यथा च 'हरिहरौ उपास्येते' इति वाक्ये 'उप' इति उपसर्गवशात् कर्मणि लकारो दृश्यते तथैव 'साक्षात् क्रियते गुरुः' इति वाक्येऽपि 'साक्षात्' इति चादिनिपातयोगे कर्मणि लकारो दृश्यते। उभयत्र कर्मवाच्यत्वं समानमेव दृश्यते। धातोरर्थदृष्ट्याऽपि यदि विचार्यते तर्हि उपवेशनार्थकस्य आस् धातोः यथा 'उप' इति उपसर्गयोगाद् 'उपासना' इत्यर्थो भवति तथैव करणार्थकस्य कृञ्धातोरपि 'साक्षात्' इति।

निपातयोगात् साक्षात्काररूपोऽर्थो भवति। अतः कयाऽपि दृष्ट्या विचारः स्यात् समानतायाः, उभयत्र द्योतकत्वं समानमेव, अतः एतादृश्यां समानतायां नैयायिकानां या भेददृष्टिः असमानता वा विद्यते सा सर्वथा अनुचितैवास्ति। अर्थप्रकाशकत्वमुभयत्र समानमेव इति वैयाकरणमतेन उभयत्र द्योतकत्वमस्ति। प्रादीनां द्योतकत्वे यो हेतुरस्ति स एव हेतुश्चादीनां निपातानां द्योतकत्वेऽपि अस्ति। द्योतकत्वं

[4] अष्टा. १/४/५७
[5] वै.म.

नाम “स्वसमभिव्याहृतपदनिष्ठशक्त्युद्बोधकत्वम्” इति। अनुभवति इत्यादौ स्वशब्दात् 'अनु' इत्यस्य ग्रहणं भवति तत्समभिव्याहृतं पदं 'भू' इत्यस्ति तत्र स्थिता या अनुभवविषयिका शक्तिः, तस्याः उद्बोधनम् एव द्योतकत्वम् इत्येवं द्योतकत्वस्य लक्षणसमन्वयो भवति। उपर्युक्तप्रकारेण अनुभवविशिष्टेऽर्थे भूधातोर्लक्षणाऽस्तु, अनुशब्दस्तस्य तात्पर्यग्राहको भविष्यति।

यद्यत्र उपसर्गो वाचकत्वेन स्वीक्रियते न तु द्योतकत्वेन तर्हि 'अनुभवति' इत्यादाविव 'अनुकरोति' इत्यादावपि अनुभवरूपस्यार्थस्य प्रतीतिः स्यात्। एवमेव प्रभवति इत्यादौ 'प्र' इत्युपसर्गस्य यथा 'प्रकर्षः' इत्यर्थो विद्यते तथैव ‘प्रतिष्ठते' इत्यादावपि प्रकर्षरूपस्य अर्थस्य प्रतीतिर्भवितव्या, परन्तु न भवति, अतः उपसर्गाः = प्रादयो वाचकाः भवितुं नार्हन्ति, किन्तु द्योतका एव भवन्ति।

प्रादीनां द्योतकत्वे द्वितीयं कारणमिदमपि अस्ति यत् उपसर्गरूपप्रादिं विनाऽपि 'भवति' इत्येवं केवलानां धातुपदानामुपयोगो भवितुं शक्नोति, भवति च। परन्तु धातुपदं विना केवलानामुपसर्गरूपप्रादीनां प्रयोगो न दृश्यते। यद्युसपर्गाः वाचकाः स्युस्तर्हि तेषामपि स्वतन्त्रतया केवलानामुपयोगः स्यात्, परन्तु न भवति अनेन इदमेव ज्ञायते यत् प्रादयो वाचकाः न सन्ति, एते तु केवलं द्योतका एव सन्ति।

यद्यत्र कश्चिद् एवं ब्रूयात् यत् अनु-प्राद्युपसर्गाणाम् अनुभव-प्रकर्षाद्यर्थाः सन्ति धातुपदं तत्र तात्पर्यग्राहकमस्तु का हानि? तर्हि अनेन प्रकारेण कश्चिदपि वक्तुं न शक्नोति। यतोहि विनापि उपसर्ग यथा जयति, भवति इत्यादीनां प्रयोगो भवति तथा केवलानाम् उपसर्गाणां स्वतन्त्रतया शक्यार्थत्वाभावात् तत्र शक्यसम्बन्धरूपा लक्षणापि भवितुं न शक्नोति, अतः धातुपदं तात्पर्यग्राहकं न भविष्यति। केवलधातुपदस्य शक्यार्थत्त्वसत्त्वात् तस्य लक्षणा भविष्यति।

तात्पर्यग्राहकाः अनु-प्राद्युपसर्गाः भवितुं शक्नुवन्ति। तात्पर्यग्राहकत्वं च द्योतकत्वमेव, अतः उपसर्गाः द्योतकाः सन्तीति निश्चीयते। एतदेव प्रकारान्तरेणाऽपि वक्तुं शक्यते। तद्यथा येन हेतुना प्रादयो द्योतकाः सन्ति तेनैव हेतुना चादयो निपाता अपि द्योतका एव विद्यन्ते न तु वाचकाः। यथा- ईश्वरम् अनुभवति इत्यस्मिन् वाक्ये यो हि अनुभवरूपोऽर्थो ज्ञातः सः कस्य उपसर्गस्य उत धातोः? यदि उपसर्गस्य तर्हि स्वतन्त्रतया नायमर्थः कुत्रापि दृश्यते। यदि धातोस्तर्हि धातुरर्थेऽस्मिन् प्रयुक्तः स्यात् परन्तु न भवति। अतोऽयं नास्ति धात्वर्थः। यद्ययम् अनुभवरूपोऽर्थो धातोर्नास्ति तर्हि मास्तु, उपसर्गस्य एव अयमर्थः स्यात् तर्हि इदमपि वक्तुं न शक्यते, यतोहि यद्ययम् उपसर्गार्थः स्यात् तर्हि प्रकृत्यर्थो न भविष्यति, प्रकृत्यर्था-

भावे च तस्मिन् आख्यातार्थस्य सम्बन्धो न स्यात् इत्यापत्तिः समापतति। यतोहि एकः नियमोऽस्ति यत् ' प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वं प्रत्ययत्वम् इति अर्थात् प्रत्ययः प्रकृत्यर्थेण सह सम्बद्धः सन् स्वार्थबोधं कारयति, इत्येतदर्थं कस्य नियमस्य विरोधः स्यात्। तथा च 'अनुगच्छति' इत्यादावपि अनुपसर्गस्य सत्त्वात् अनुभवरूपार्थस्य प्रतीत्यापत्तिः स्यात्। अतो नैतत् वक्तुं शक्यते यदयमनुभवरूपोऽर्थः उपसर्गस्यास्तीति। धातूपसर्गयोरथ परस्परं सम्मिल्यायमनुभवरूपोऽर्थो भवतीत्यपि वक्तुं न शक्यते, 'उभयोरर्थ' इति स्वीकारे तु गौरवदोषः समापतति। अतो विद्यमानताद्यर्थस्य वाचको धातुरेव भवतु तस्य एव अनुभवार्थे लक्षणा कर्तव्या, उपसर्गस्तत्र तात्पर्यग्राहको भविष्यति। द्योतकत्वं हि तात्पर्यग्राहकत्वम्। द्योतकत्वविषया यादृशी स्थितिः प्रादिषु विद्यते तादृशी एव स्थितिः चादिष्वपि अस्ति। 'चैत्रमिव पश्यति' इत्यस्मिन् वाक्ये सादृश्यविशिष्टश्चैत्रपदस्य लक्ष्यार्थः, अत्र इव शब्दस्तात्पर्यग्राहकोऽस्ति। इति तु सम्यग्रूपेण वक्तुं शक्यते। उपसर्गाः द्योतकाः सन्तीति प्रतिपादनाय एव दीक्षितवर्यैरियं द्वितीया युक्तिः प्रदर्शिता स्यात् - 'हरिहरौ उपास्येते' इति। अत्रापि पूर्ववत् जिज्ञासा जायते यत् उपासना रूपोऽर्थः किमुपोपसर्गस्य वर्तते अथवा धातूपसर्गयोः उभयोः उपासनारूपोऽर्थोऽस्ति? आहोस्वित् केवलधातुपदस्य एव अयम् उपासनारूपोऽर्थोऽस्ति? एतासां जिज्ञासानां समाधानं क्रमशः क्रियते। यद्यत्र उपासनारूपः अर्थः उपोपसर्गमात्रस्य स्यात् तर्हि उपासनारूपफलं धात्वर्थो न स्यात् धात्वर्थाभावे च आस्[6] धातोः सकर्मकता न स्यात् सकर्मकत्वाभावे च "लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः" इति सूत्रेण लकारः कर्मणि न स्यात्, यतोहि सकर्मकधातुतः एव कर्मणि लकारो भवति। कर्मणि लकाराभावे तु 'हरि-हरौ उपास्येते' इत्यत्र कर्मणः अनुक्तत्वात् प्रथमानुपपत्तिः स्यात्। कर्मणि उक्ते सत्येव प्रथमा भवति। सकर्मकत्वं हि - 'स्वार्थफलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्वम्' इति। आस् धातोरुपासनारूपफलधात्वर्थाभावे फलव्यापारयोः व्यधिकरणत्वं धातोः न स्यात्, व्यापारमात्रार्थकत्त्वे तु आस् धातोरकर्मकत्वमापद्येत, कर्मणि लकारो न स्यात्, इत्यापत्तिः। अतः उपासनारूपफलरहितः धात्वर्थो नास्ति, अपितु उपासनारूपफलसहितो धात्वर्थोऽत्र भवितव्यः। तेन उपासनारूपोऽर्थः उपसर्गस्य भवितुमेव नार्हति, अस्तु तर्हि धातूपसर्गयोः सम्मिलितयोरयमुपासनारूपोऽर्थः स्याद् इत्यपि नैव वक्तुं शक्यते, यतोहि उपसर्गविशिष्टधात्वर्थस्वीकारे गौरवम् आपद्यते। विशिष्टार्थस्वीकारे तु गौरवदोषो भविष्यति अतः सम्मिलितयोरपि उपासनारुपोऽर्थो नास्ति। अस्तु तर्हि केवलधातोरेवोपासनारूपोऽर्थः अपि स्यात्, उपोपसर्गस्तस्य तात्पर्यग्राहको भविष्यति। तात्पर्यग्राहकत्वमेव द्योतकत्वम्। अनेन प्रकारेण उपसर्गस्य द्योतकत्वं सिद्ध्यति। कारिकायाम् 'उपास्येते हरिहरौ' लकारो दृश्यते यथा इत्यत्र कर्मणीति सप्तम्यन्तं पदमपि योज-

[6] अष्टा. ३/४/६९

नीयमिति भूषणकारस्याभिप्रायः तेन 'उपास्येते हरिहरौ' (इत्यत्र) लकारः कर्मणि दृश्यते इत्यमेवमन्वयः स्थापनीयः इति।

सेयं तुल्यता प्रादीनां चादिष्वपि निपातेषु यथावत् वर्तते इति तात्पर्यं प्रकटयद्भिः दीक्षिताचार्यैः कारिकेयं विलिखित -

तथाऽन्यत्र निपातेऽपि लकारः कर्मवाचकः।
विशेषणाद्ययोगोऽपि प्रादिवच्चादिके समः॥[7]

अभिप्रायोऽयमस्त्यस्याः कारिकायाः -'हरिहरौ उपास्येते' इति वाक्ये यथा उपोपसर्गस्य द्योतकत्वे सत्यपि लकारः कर्मणो वाचको भवति तथैव निपातस्य द्योतकत्वे सत्यपि लकारः कर्मणि भवितुं शक्नोति। एवमेव यथा विशेषणानां सम्बन्धः प्रादिषु न भवति तथैव निपातेषु अपि विशेषणानां सम्बन्धो न भवति। अतः प्रादिषु चादिषु च समानस्थितिं विज्ञाय उभावपि प्रादिचादी समौ स्तः। अर्थात् उभावपि प्रादिचादी एककोटिको स्तः, द्योतकत्वमुभयत्र समानमिति निष्कर्षः।

अस्याः कारिकायाः व्याख्यां कुर्वन् भूषणसारकारः कौण्डभट्टो ब्रवीति यद् - अन्यत्र अर्थात् साक्षात् क्रियते शिवः, अलङ्क्रियते शिवः, ऊरीक्रियते शिवः, इत्यादिवाक्येष्वपि विभिन्नार्थेषु कर्मणि लकारमानेतुं विभिन्नाः अर्थाः अपि विकल्प्यमाना भविष्यन्ति, अतः प्राद्युपसर्गवत् एते निपाताः अपि द्योतकाः सन्तीति स्वीकरणीयम्। यद्यपि कृञ्धातुः सकर्मकोऽस्ति तथापि साक्षात्काराद्युपयुक्तार्थेषु कृञ्धातोः सकर्मकत्वं न स्यात् 'वायुर्विकुरुते' 'सैन्धवा विकुर्वते' इत्यत्र यथा।

समग्रस्यास्य प्रकरणस्य तात्पर्यमिदमस्ति यत् उपसर्गाणां द्योतकत्वे यो हेतुर्विद्यते स एव हेतुः निपातानां द्योतकत्वेऽपि अस्ति, यथा उपसर्गा वाचकाः न सन्ति तथैव निपाता अपि वाचका न सन्ति। साक्षात्क्रियते इत्यत्र साक्षादिति निपातपूर्वककृञ्धातोरर्थः प्रत्यक्षानुकूलो व्यापारोऽस्ति। 'अलंक्रियते' इत्यत्र च अलमिति निपातपूर्वककृञ्धातोः शोभनानुकूलव्यापारोऽर्थः अस्ति। एवमेव 'ऊरीक्रियते' इत्यत्रापि ऊरीपूर्वककृञ्धातोः स्वीकृत्यनुकूलव्यापारोऽर्थः अस्ति इति प्रतीयते। अत्र 'साक्षात्' , 'अलम्' ऊरीत्यादयो द्योतकाः सन्ति। कृञ्धातुरेव पूर्वोक्तार्थानां वाचकः इत्येवं यद्यत्र अभिमतं न स्यात् तर्हि कृञ्धातुतः कर्मणि लकारोऽपि नागच्छेत् यतोहि साक्षात्कारादीनां धात्वर्थत्वाभावे तु धात्वर्थफलस्यैव लोपः स्यात्, तेनात्र तादृशफलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्वं कृञ्धातोः न स्यात्, तादृशव्यापारवाचकत्वाभावे च कृञ्धातोः सकर्मकत्वमेव न स्यात् सकर्मकत्वाभावे च पुनः कर्मणि लकारः कथमागतः स्यात्? कर्मणि लकारस्तु सकर्मकधातुभ्यः एव आगच्छति। प्रसङ्गेऽस्मिन्

[7] वै.म.

यद्यत्र कश्चिदेवं ब्रूयात् यत् कृञ्धातोः तु सर्वदा उत्पत्त्यनुकूलव्यापारोऽर्थः अस्ति। एतदर्थस्वीकारे तु धातुरयं सर्वदा सकर्मकः, न तु कदाप्यकर्मकः, अतः साक्षात्काराद्यर्थाभावे अपि सकर्मकत्वमुच्छिन्नं न स्यात्, अतः कर्मणि लकारः कृञ्धातुतः स्वतो भविष्यति, तर्हि अस्य समाधानं कुर्वता कौण्डभट्टेन एवमुक्तं वैयाकरणभूषणे यत् अन्यथा वायुर्विकुरुते सैन्धवा विकुर्वते इत्यत्रापि स्यादिति भावः इति। समाधानस्यास्य कौण्डभट्टस्याभिप्रायोऽयमस्ति यत् कस्मिंश्चित् विशेषेऽर्थे धातोः सकर्मकत्वमस्ति तर्हि तस्य विषये सर्वत्र सकर्मकत्वव्यवहारः स्यात् इत्येवं नास्ति काचिद् राजाज्ञा, यतोहि 'वायुः विकुरुते' 'सैन्धवा विकुर्वते' इत्यादिस्थलेषु कृञ्धातोः विकारानुकूलव्यापारवाचित्वात् सकर्मकत्वव्यवहारो भविष्यति। दशायामस्यां यदि सकर्मकत्वव्यवहारो भविष्यति तर्हि भवतु नाम का क्षतिः ? इत्युच्यते तर्हि 'श्रूयताम् वायुर्विकुरुते' 'सैन्धवाः विकुर्वते' इत्यादौ 'अकर्मकाच्च'[8] इति सूत्रेण विधीयमानमात्मनेपदं न स्यात्। एवमेव 'वायुना विक्रियते' 'सैन्धवैः विक्रियते' इत्यादिस्थलेषु भाववाच्ये लकारो न स्यात्। भाववाच्ये लकारः अकर्मकात् धातोरेव भवितुं शक्नोति न सकर्मकधातुतः, अर्थान्तरे कृञ्धातुस्तु सकर्मकः एव इति।

यद्यत्र 'साक्षात्प्रत्यक्षतुल्ययोः' इति अमरकोशवाक्यानुसारम् 'उपासना' इति उपोपसर्गस्य अर्थः तथा प्रत्यक्षमिति साक्षादिति निपातस्य अर्थोऽस्ति, यतः अमरकोशकारोऽत्र साक्षादिति निपातः प्रत्यक्षमिति अर्थस्य वाचकः इति वदति, अतः निपातानां वाचकत्वपक्ष एव परिपुष्टो भवति। तथा च उप-उपासना, आस्-तदनुकूलव्यापारः। साक्षात्-साक्षात्कारः, कृ-तदनुकूलव्यापारः। इत्येवं विवरणमपि स्पष्टम्। अनेन प्रकारेण अर्थस्वीकारेण सकर्मकत्वमपि नानुपन्नम्। तथाहि सकर्मकत्वं नाम स्वस्वयुक्तनिपातान्यतरार्थफलव्यधिकरणव्यापारवत्त्वम् इति अर्थात् स्वम्-धातुः, स्वयुक्तः धातुयुक्तः, उपसर्गो निपातो वा, उभयोर्मध्ये कश्चिदेकः। तदर्थफलव्यधिकरणस्थितव्यापारवाचकत्वम् इत्येवं सकर्मकत्वस्य परिभाषाऽपि समुत्पन्ना भवितुं शक्नोति। अत्र साक्षात् इति निपातः साक्षात्कारस्य वाचकः इत्यर्थस्वीकारेऽपि कर्मणि लकारो भवितुं शक्नोति यतोहि अत्र सकर्मकलक्षणे फलं धात्वर्थः स्यादिति नास्ति कश्चिन्नियमः, इदानीमत्र सकर्मकलक्षणे धात्वर्थफलस्य स्वसंयुक्तनिपातार्थत्वेन निवेशः कृतः। अतः निपातानां वाचकत्वपक्षेऽपि नास्ति काचिद् बाधा। अनया सकर्मकत्वपरिभाषया दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः समानत्वं नास्ति यतोहि दृष्टान्ते 'उपास्येते हरिहरौ' तथा दार्ष्टान्ते 'साक्षात्क्रियते' इत्यत्र उभयोर्मध्ये समानतायाः अभावे दृष्टान्तदार्ष्टान्तभावो न भवति। अतः 'साक्षात्क्रियते गुरुः' इत्यत्र लकारेण कर्मत्वमुच्यते इति कथनं धातुरेव विशिष्टार्थवाचकः निपातस्तु द्योतकः

[8] अष्टा. १/३/३५

इति मतस्य साधकं नास्तीत्येवमुच्यते तर्हि तदनुचितम्, यतोहि “नामार्थधात्वर्थयोः भेदेन साक्षादन्वयासम्भवेन निपातधात्वर्थयोरन्वयासम्भवात्। अर्थात् नामार्थधात्वर्थयोः साक्षात् भेदसम्बन्धेन अन्वयोऽमान्योऽस्ति। अत एवाऽयं नियमः प्रचलितः “नामार्थधात्वर्थयोः साक्षात् भेदेनान्वयोऽव्युत्पन्नः” इति उपर्युक्तनियमानुसारं निपातार्थधात्वर्थयोः साक्षात् भेदेनान्वयः सम्भवेत् तर्हि का हानिः ? इति जिज्ञासायामाह श्रीमत्कौण्डभट्टः - “अन्यथा तण्डुलः पचति' इत्यत्रापि कर्मतया तण्डुलानां धात्वर्थेऽन्वयापत्तेः। अर्थात् तण्डुलः पचतीति वाक्ये तण्डुलस्य पाके कर्मकत्वसम्बन्धेन (अम्-विभक्त्यभावे एव) अन्वयो भविष्यति। कथनस्य तात्पर्यमिदमस्ति यत् नामार्थस्य धात्वर्थेन सह साक्षात् भेदसम्बन्धेन अन्वयो न भवति। अतः तण्डुलं पचतीति वाक्ये अम्-विभक्त्यर्थे कर्मत्वे निष्ठत्वरूपभेदसम्बन्धेन अन्वयो भवति न तु साक्षात् धात्वर्थे, अतः 'तण्डुलः पचति' इत्येवं प्रयोगो न भवति। यतोहि अम्-विभक्तिं विना कर्मत्वबोधाभावेन धात्वर्थेऽन्वयः स्यात्। धात्वर्थे च साक्षात् भेदसम्बन्धेन अन्वयासम्भवेन तथाविधः प्रयोगो भवितुम् एव न शक्नोति।

यद्यत्र कश्चिदेवम् वदेत् यत् निपातेतरनामार्थधात्वर्थयोः भेदेन अन्वयः अस्वीकार्योऽस्ति, न तु निपातस्य, अतः प्रकृतस्थले 'साक्षाद्' इति तु निपातोऽस्ति. अतः तस्य तु धात्वर्थव्यापारे साक्षादन्वयो भवितुं शक्नोति, अत्र काठिन्यं क्व? अतो वाचकत्वे न दोषः. अत एव भूषणकारः श्रीमत्कौण्डभट्टः ब्रवीति - “किञ्च प्रादीनां वाचकत्वे 'भूयान् प्रकर्षः' ' कीदृशो निश्चयः' इतिवत् 'भूयान् प्र' 'कीदृशो निः' इत्यपि स्यात्” इति। अस्य तात्पर्यमिदमस्ति यत् यदि प्रादयो वाचकास्स्युस्तर्हि 'भूयान् प्रकर्षः' इति वाक्यस्थाने लाघवात् 'भूयान् प्र' इत्येवोच्चारणमुचितं स्यात्, यतोहि अत्र प्रकर्षार्थस्य वाचकः 'प्र' इति तिष्ठत्येव। एवमेव 'कीदृशो निश्चयः' इत्यत्रापि 'कीदृशो निः' इत्येव तिष्ठति। अतः वाचकत्वपक्षः समीचीनो नास्ति द्योतकत्वपक्षे उपर्युक्तदोषो नास्ति, यतोहि अस्माकं द्योतकतावादिनां मते प्रादयः अनर्थकाः सन्ति। अनर्थकत्वे च तेषामन्वयस्य चर्चा एव न, अतः प्रादीनामत्र द्योतकत्वमेवोचितम्। निपातानां वाचकत्वं यदि स्वीक्रियते तर्हि अन्येऽपि दोषाः भविष्यन्ति। तद्यथा - निपातानां विशेषणैः सह सम्बन्धो न भवति। 'शोभनः समुच्चयः द्रष्टव्यः' इत्यस्मिन् वाक्ये 'चेति निपातस्य प्रयोगं विधाय 'शोभनश्च द्रष्टव्यः' इत्यत्रापि समुच्चयार्थो भवितव्यः, परन्तु न भवति अनेन ज्ञायते यत् निपाताः वाचका न सन्ति अपितु द्योतका एव ते सन्ति। निपातानां वाचकत्वपक्षो यदि स्वीक्रियते तर्हि द्वितीयो दोषः अयमप्यस्ति यत् षष्ठ्यादिसम्बन्धवाचकविभक्तीनामभावे प्रातिपदिकार्थयोः भेदसम्बन्धेनान्वयो न सम्भवति, अत एवोच्यते यत् नामार्थनामार्थयोरभेदातिरिक्तः सम्बन्धोऽव्युत्पन्नः इति। तेन 'राजा पुरुषः' इत्यनयोः राजासम्बन्धी पुरुषः

इत्यर्थो न भवति, अन्यथा 'राजसम्बन्धी पुरुषः' इत्यर्थः स्यात्। अत एव मूलश्लोके आदिपदप्रयोगः कृतः। इति कौण्डभट्टाभिप्रायः। एवमेव 'धवखदिरयोः समुच्चयः इति वाक्यस्य स्थाने धवस्य च खदिरस्य च इति प्रयोगोऽपि भवितुं शक्नुयात् परन्तु धवश्च खदिरश्चेति प्रयोगो न भवति। अतः चादि निपातानां वाचकत्वपक्षः समीचीनो न प्रतिभाति।

निष्कर्षः

प्रादीनां विषये द्योतकत्वमिति तथा चादीनां निपातानां विषये वाचकत्वमिति नैयायिकनां यन्मतमस्ति तत् समीचीनं नास्ति यतोहि उभयोर्विषये विषमतायां नास्ति किमपि कारणं येनेदं वक्तुं शक्नुयात् यदस्मात् हेतोः प्रादयो द्योतकाः सन्ति अस्माच्च कारणाच्चादयो वाचका सन्तीति, प्रादयो वा भवन्तु चादयो वा स्युः उभयत्र निपातत्वं समानमेव, अतः समानेषु निपातेषु समानमेव मतं भवितव्यमिति श्रीमत्कौण्डभट्टस्य अथ श्रीमद्भट्टोजिदीक्षितप्रभृतीनां मतमस्ति। अत एव अनुपसर्गोऽनुभवार्थस्य वाचको नास्ति। यदि वाचकः स्यात् तर्हि अनुकरोति, अनुगच्छति, इत्यादावपि अनुभवरूपोऽर्थः प्रतीयेत। एवमेव 'प्र' इत्युपसर्गस्य यदि प्रकर्षः अर्थः स्यात् तर्हि प्रतिष्ठते' इत्यत्रापि सोऽर्थः प्रतीतः=ज्ञातो वा स्यात्। यदि प्रादयो वाचकाः स्युतर्हि तेषां प्रयोगः स्वतन्त्ररूपेण कथं न भवति? सर्वदा धातुभिः सहैव तेषामुपयोगः कथं भवतीत्यपि तेषां वाचकत्वाभावे एकं कारणमस्ति।

यादृशी च स्थितिः प्रादीनां विषये वर्तते तादृशी एव परिस्थितिश्चादीनां विषयेऽप्यस्ति 'चैत्रमिव पश्यति' इत्यत्र चैत्रपदं सादृश्यविशिष्टे लाक्षणिकम्, इवशब्दश्च तात्पर्यग्राहकोऽस्ति, तात्पर्यग्राहकश्च द्योतकः एव भवति। अनेन 'इव' इति निपातस्य द्योतकत्वमेवागच्छति।

एवमेव 'उपास्येते हरिहरौ' इत्यस्मिन् वाक्ये उपोपसर्गस्य उपासनारूपोऽर्थः स्यात् तर्हि उपासनारूपफलं धात्वर्थो न स्यात् धत्वर्थाभावे च अस्थातोः सकर्मकता न स्यात् सकर्मकत्वाभावे च कथमत्र कर्मणि लकारः समागच्छेत्? अतोऽपि उपेति निपातस्य वाचकत्वं न सिद्ध्यति।

एवमेव यथा विशेषणानां सम्बन्धः प्रादिषु न भवति तथैव निपातेष्वपि विशेषाणां सम्बन्धो न भवति। अतः प्रादिषु चादिषु च समानस्थितिं विज्ञाय उभावपि प्रादिचादी समौ स्तः। अर्थात् उभावपि प्रादिचादी एककौटिकौ स्तः। द्योतकत्वमुभयत्र समानमिति निष्कर्षः। अत्र व्याकरणशास्त्रे निपातशब्दः पारिभाषिको गृह्यते न तु यौगिकः, निपातशब्दस्य परिभाषा च चादयोऽसत्त्वे[9] इति सूत्रेण क्रियते।

[9] अष्टा. १/४/५९

अद्रव्यार्थाश्चादयो निपाताः भवन्ति इति तस्यार्थः। अत्र च आदिर्येषां ते चादयः, अव्ययप्रकरणे चादिगणपाठसिद्धाः शब्दाः चादयो भवन्ति। सत्त्वशब्देन द्रव्यमुच्यते, द्रव्यं च लिङ्गसंख्याकारकान्वितं भवति। न सत्त्वम् असत्त्वं द्रव्यम्। निपातनं निपातः इत्येवं निपातनं नाम अन्यादृशे प्रयोगे प्राप्ते अन्यादृशं प्रयोगकरणं निपातनम्, इति ये निपातार्थं कुर्वन्ति तदत्र निपातार्थनिर्णये निपातशब्देन न गृह्यते। अत्र तु चादिगणसिद्धाः अव्ययसंज्ञकाः निपाता एव निपातशब्देन अभिप्रेताः सन्ति।

निबन्धस्यास्य मूल्याङ्कनम्

अस्य प्रबन्धस्य यदा मूल्याङ्कनं क्रियते तदाऽधोलिखितप्रश्नानामुत्तरस्वरूपे निबन्धोऽयं सरलतया क्रमशः ज्ञातुं शक्यते। आरम्भात्समाप्तिं यावत् निबन्धमेतदाश्रित्य क्रमशः ते च प्रश्नाः सन्तीत्थम्- प्रादय कति सन्ति? प्रादीनामुपसर्गसंज्ञा केन सूत्रेण क्रियते? प्रादीनामुपयोगः धातुतः प्राक् केन सूत्रेण क्रियते? प्रादयो द्योतकाः चादयश्च वाचकाः इति कस्य मतमस्ति? कस्मात् कारणात् नैयायिकानां मतमुपेक्ष्यमस्ति? निपातसंज्ञा विधायकं सूत्रं किम्? उपास्येते हरिहरौ' इत्यत्र लकारः कस्मिन्नर्थेऽस्ति? साक्षात् क्रियते गुरुः इत्यत्र लकारः कस्मिन्नर्थेऽस्ति? उपवेशनमिति कस्य धातोः अर्थोऽस्ति? आस् धातुः कदाऽकर्मको भवति? निपातानां विषये वैयाकरणानां किं मतमस्ति? निपाताः द्योतकाः सन्तीत्यत्र को हेतुः अस्ति? आस् धातोः उपासना इत्यर्थो कदा भवति? कया दृष्ट्या वैयाकरणमतमुपयुक्तमस्ति? प्रादीनां द्योतकत्वे को हेतुरस्ति? द्योतकत्वं नाम किम्? 'अनुभवति' इत्यस्य अनुभवरूपोऽर्थः कीदृशः द्योत्यः उत वाच्यः? यद्युपसर्गाः प्रादयो वाचकाः स्युस्तर्हि का हानिस्स्यात्? प्रादीनां द्योतकत्वं कथं भवति? इति सोदाहरणं प्रतिपाद्यताम्? तात्पर्यग्राहकत्वं नाम किम्? 'अनुभवति' इत्यादौ क्रियापदं तात्पर्यग्राहकं कथं न भवति? 'अनुभवति' इत्यादौ अनुशब्दः कथं तात्पर्यग्राहकः? केवालानां प्रादीनामुपयोगः कथं न भवति? किं नाम प्रत्ययत्वम्? धातूपसर्गयोः विशिष्टार्थस्वीकारे को दोषः? अनुभवति इत्यत्र अनुभवरूपोऽर्थः अनूपसर्गस्य स्यात् यदि तर्हि कः दोषः? चादिनिपातानां स्थितिः कीदृशी, प्रादिवत् उत ततो भिन्ना? 'चैत्रमिव पश्यति' इत्यत्र इव निपातः कीदृशः? दीक्षितवर्यैः द्वितीया युक्तिः कस्मै प्रयोजनाय प्रदर्शिता? 'उपास्येते हरिहरौ' इत्यत्र उपासनारूपोऽर्थः कस्य वर्तते? उपास्येते हरिहरौ इति वक्ये उपासनारूपोऽर्थ यदि उपोपसर्गस्य स्यात् तर्हि का क्षतिः? यदि धातूपसर्गयोः सम्मिलितयोः उपासनारूपोऽर्थः स्यात् तर्हि का हानिः? कीदृक् धातोर्लकारः कर्मणि भवति? सकर्मकत्वं नाम किम्? केन सूत्रेण लकारः कर्मणि विधीयते? यदि उपासनारूपोऽर्थोऽप्यास्-धातोः स्यात् तर्हि उपोपसर्गस्य द्योतकत्वं सिद्ध्यति उत वाचकत्वम्? चादयो द्योतकाः कथम्? चादिषु विशेषणस्य सम्बन्धो

भवति न वा? चादयः प्रादिभिः सह कया दृष्ट्या समानाः भवन्ति? साक्षात्क्रियते इत्यत्र कृञ्धातोः अर्थः कः? ऊरीक्रियते इत्यत्र कृञ्धातोः अर्थः कः? अलंक्रियते इत्यत्र कीदृशः धात्वर्थः? केभ्यः धातुभ्यो लकाराः कर्मणि भवन्ति? ऊरीक्रियते इत्यत्र कृञ्धातुः सकर्मकः उत अकर्मकः? कृञ्धातोः वास्तविकोऽर्थः कः? वायुर्विकुरुते इत्यत्र लकारः कर्मणि उत भावे? सैन्धवा विकुर्वते इत्यत्र कृञ्धातुः सकर्मकः उत अकर्मकः? सैन्धवा विकुर्वते इत्यत्र यदि कृञ्धातुः सकर्मकः स्यात् तर्हि का क्षतिः? अकर्मकाच्च[10] इति सूत्रेण किं क्रियते? सैन्धवा विकुर्वते इत्यत्र आत्मनेपदं केन सूत्रेण क्रियते? वायुना विक्रियते इत्यत्र कर्मणि लकारः उत भावे? कृञ्धातोः कः अर्थः? कृञ्धातुतः लकारः कर्मणि कदा न आगच्छति? भाववाच्ये लकारः कीदृग्धातुतो भवति? कृञ्धातोः सकर्मकत्वमुच्छिन्नं भवति न वा? अमरकोशानुसारमत्र साक्षात् इति निपातस्य कोऽर्थः? उपासना इति कस्यार्थः? अमरकोशानुसारं निपातानां कः पक्षः परिपुष्टो भवति? वाचकत्वपक्षः द्योतकत्वपक्षो वा? यदि निपातानां वाचकत्वपक्षः स्वीक्रियते तर्हि सकर्मत्वस्य किं लक्षणं स्यात्? नामार्थधात्वर्थयोः साक्षात् भेदेनाऽन्वयोऽव्युत्पन्नः इति नियमस्य कोऽर्थः? यदि नामार्थधात्वर्थयोः साक्षात् भेदेनान्वयः स्यात् तर्हि का हानिः। प्रादीनां वाचकत्वे को दोषः? प्रादीनां वाचकत्वे 'कीदृशो नि' इति प्रयोगो भविष्यति न वा? प्रादीनां वाचकत्वपक्षः कथं न समीचीनः? प्रादीनां द्योतकत्वपक्ष एव कथम् उचितः? निपातानां वाचकत्वं स्वीक्रियते यदि तर्हि के दोषाः भविष्यन्ति? 'शोभनः समुच्चयः' इत्यस्य स्थाने 'शोभनश्च' इति प्रयोगो कथं न भवति? निपाताः वाचकाः न सन्ति इति कथं निर्णीयते? नामार्थ-नामार्थयोः कः सम्बन्धो भवति? धवखदिरयोः समुच्चयः इत्यस्य स्थाने कस्य प्रयोगः समीचीनः? निपातानां विषये वैयाकरणानां किं मतमस्ति? निपातानां विषये नैयायिकमतं कथमनुचितम्? निपात शब्दस्य कः अर्थोऽस्ति? प्रकारेणानेनोपर्युल्लिखितप्रश्नाः समग्रस्यास्य निबन्धस्य मूल्याङ्कनं विधाय निबन्धस्यास्योद्देश्यं किं प्रयोजनं च किमिति सर्वं पाठकैः स्वयमेवावगम्यते इति शम्।

शब्दसङ्केत

1. अष्टा. अष्टाध्यायी
2. वा.प.वाक्य. वाक्यपदीयम् वाक्यकाण्डः
3. वै.म. वैयाकरणमतोन्मज्जनटीका

[10] अष्टा. १/३/३४

सन्दर्भग्रन्थसूची

1. अष्टाध्यायी, पुष्पा दीक्षित, दीन दयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली
2. वाक्यपदीयम्, भर्तृहरि, अनुसन्धान केन्द्र, सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय
3. वैयाकरणमतोन्मज्जनटीका, वनमाली विश्वाल, भारतीय विद्याभवन, वाराणसी

अपादानविमर्शः

पशुपतिनाथमिश्रः

व्याकरणसम्प्रदाये सुबर्थविचारार्थं बहवः प्रयतन्ते। तेषु सुबर्थविचारस्यान्यतममुख्यविषयोऽपादानविमर्शः। तत्र कर्तृकर्मकरणसम्प्रदानापादानाधिकरणाख्यषड्विधकारकेष्वन्यतममपादानकारकमिदं वर्तते। "अपादाने पञ्चमी" इति सूत्रेण अपादानेऽर्थे पञ्चमीविभक्तिर्भवति। वैयाकरणनैयायिकादीनामपादानविषयकमालोचनं प्रबन्धेऽस्मिन्वर्तते। अपादानसंज्ञाविधायकपाणिनीययोगो "ध्रुवमपायेऽपादानम्" इति। अपादीयतेऽस्मात्तदपादानम्। अपादानार्थं पदार्थद्वयमपेक्षते। यस्मात् किमप्यपादीयते इत्येकम्, यच्चापादीयते इत्यपरम्। तयोस्सत्त्वेऽपायोऽर्थात्पारस्परिकविश्लेषभावो भवति। यस्माच्चापादीयते तस्यार्थाद्ध्रुवस्य अपादानसंज्ञा विधीयते। लोके तु ध्रुवपदार्थो निश्चित इति। किन्तु व्याकरणशास्त्रेऽयं शब्दः पारिभाषिकोऽवधिभूतस्थिरविषयकः। स्थिरत्वमिदं वास्तविकं सापेक्षं वा भवितुमर्हति। विना वायुप्रवाह वृक्षात्पत्रे पतिते वृक्षस्य वास्तविकत्वं स्थिरत्वम्। यदि च वायुप्रवाहेण वृक्षात्पत्रस्य पतनन्तदा वृक्षस्य स्थिरत्वं सापेक्षमुच्यते। यथा च "धावतोऽश्वात्पतति" इत्यत्राश्वाश्वारोहिणोः गमनक्रियायामप्यश्वारोह्यपेक्षयाश्वस्य स्थिरत्वमित्यश्वस्य सापेक्षं स्थिरत्वम्। विश्लेषेऽस्पष्टे तु बौद्धिकविश्लेषमादायापादानत्वं बोध्यम्। भाष्यकारेणैतदेवादाय "जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्" इति वार्तिकमितराणि सूत्राणि च प्रत्याख्यातानि। अत्रेदं बोध्यं यद्विश्लेषो बुद्धिकल्पितो भवतु वास्तविको वा भवतु सर्वत्रैव स संयोगपूर्वको भवति। तत्रादौ वैयाकरणरीत्यापादानत्वविषयकचर्चा विधास्यते।

काशिकान्यासादिमतम्

ध्रुवं यदपाययुक्तमपाये साध्ये यदवधिभूतं तत्कारकमपादानसंज्ञं स्यादिति काशिकायां वामनजयादित्यावुक्तवन्तौ। "ध्रु गतिस्थैर्ययोः" इत्यस्माद्धातोः पचाद्यचि कुटादित्वान्ङित्त्वे उवङ्। ये तु "ध्रु गतिस्थैर्ययोः" इति पठन्ति, तेषान्त्विगुपधलक्षणः कः प्रत्ययः इति पदमञ्जरीकारश्श्रीहरदत्तमिश्रः। अपायो विश्लेषः, विभागः। तस्य चापायस्य द्विष्ठत्वात्तेन विभागेन योऽपैति तस्याप्यपाययुक्तत्वं, तथैव यतोऽपैति तस्याप्यपाययुक्तत्वं, तर्ह्युभयत्र पञ्चम्या भवितव्यमिति चेन्न, ध्रुवं यदपाययुक्तन्तस्यैवापादानत्वं नान्यस्य। यद्यपि ध्रुवशब्दो लोके एकरूपतामाचष्टे ध्रुवमस्य शीलम्, ध्रुवमस्य रूपमिति, तथाप्यपाये साध्येऽभिहिततया तया न कश्चिदर्थस्सम्पद्यते इति नात्र ध्रुवतापायं प्रत्युपसज्यते। सैवोपादीयते, सा चावधिभाव एव। तस्मादपा-

यशब्दस्य सन्निधौ ध्रुवशब्दस्सम्बन्धात्संश्लेषलक्षणात्प्रच्यवमानस्यावधिभावमाचष्टे इत्यतः काशिकावृत्तावविधिभूतमित्युच्यते इति न्यासकारश्श्रीजिनेन्द्रबुद्धिः। अत एवापाये साध्येऽवधिभूतं यत्तदिह ध्रुवशब्देनोच्यते। तेन धावतोऽश्वात्पतितः इत्येवमादावप्यपादानसंज्ञाश्वादेः सिद्धा भवति। अस्ति ह्यत्रापि सत्यपि चलत्वेऽश्वादेरप्यपायेऽवधिभावः। पदमञ्जरीकारनये पततः पतति इत्यत्र परगतपतनापेक्षया ध्रौव्यमेव।[1]

भट्टोजिदीक्षिताशयः

ध्रुवं स्थिरम्। अपायशब्दार्थो विश्लेषो विभागः। अत्र ध्रुवशब्दार्थः पारिभाषिकः स च विभागाश्रयत्वे सति विभागजनकव्यापारानाश्रयभूतमिति। तथा च वृत्तावुच्यते "अपायो विश्लेषः, तस्मिन्साध्ये ध्रुवमधिभूतं कारकमपादानं स्यात्" इति। सूत्रे कारकमिति प्रथमान्तं पदमधिकमस्ति। एवञ्च सूत्रार्थस्तावद्विभागे साध्ये यद्विभागाश्रयत्वे सति विभागजनकव्यापारानाश्रयभूतं तत्कारकसंज्ञं सदपादानसंज्ञं भवति। यथा चैत्रो वनाद्ग्रामं गच्छतीत्यत्र विभागस्साध्योऽस्ति, तस्मिन्साध्ये विभागाश्रयभूतं विभागजनकगमनरूपव्यापारस्यानाश्रयभूतञ्च वनमस्तीति कृत्वापादानसंज्ञा तस्य भवति। एवं वृक्षात्पत्रं पततीत्यत्र विभागे साध्ये विभागाश्रयभूतं विभागजनकगमनरूपव्यापारस्यानाश्रयभूतं च पत्रमस्तीति हेतोः तस्याप्यपादानसंज्ञा सिद्ध्यति। किन्तु तादृशे सूत्रार्थे क्रियमाणे खगः वृक्षं त्यजतीत्यादौ कर्मणः वृक्षस्याप्यपादानसंज्ञा स्यादित्यतिव्याप्तिरूपदोषः प्रसज्यते। तथा हि त्यज्धात्वर्थोऽस्ति विभागानुकूलव्यापारः, तत्र विभागो वृक्षेऽस्ति तदनुकूलव्यापारश्च खगे विद्यते तस्माद्वृक्षो विभागाश्रयत्वे सति विभागजनकव्यापारस्यानाश्रयो वर्तते, अतस्तस्याप्यपादानसंज्ञा प्राप्ता, सा नेष्टातस्तद्वारणाय विभागे धात्ववाच्यत्वमिति विशेषणन्देयम्। फलितसूत्रार्थस्तावद्धात्ववाच्यविभागाश्रयत्वे सति विभागजनकव्यापारानाश्रयत्वमपादानत्वम्। एवं च खगो वृक्षं त्यजतीत्यादौ विभागस्य धात्वर्थत्वान्न तदाश्रयस्य वृक्षस्यापादानसंज्ञा। वनाद्ग्रामं गच्छतीत्यादौ तु गमिधातोः संयोगानुकूलव्यापारोऽर्थः, विभागस्तु संयोगे नान्तरीयकतया भासते। ततो विभागाश्रयस्य वनस्य भवत्यपादानसंज्ञा एवङ्ग्रामाद्वनङ्गच्छतीत्यादावप्यूह्यम्। एवञ्च प्रकृतधात्वर्थव्यापारानाश्रयत्वे सति तज्जन्यविभागाश्रयो ध्रुवमिति फलितम्[2]। "धावतोऽश्वात्पतति" इत्यत्र धावनक्रियाश्रयस्याप्यश्वस्य प्रकृतधातूपात्तव्यापारानश्रयत्वादवधित्वोपपत्तिः। "परस्परस्मान्मेषावपसरतः" इत्यत्र सृधातुना गतिद्वयस्या-

[1] का. वृ.। पृष्ठाङ्कः- ५३५-५३८

[2] वै. सि. कौ.। पृष्ठाङ्कः-६५७-६५८

प्युपादानादेकमेषनिष्ठां गतिं प्रतीतरमेषस्य तदनाश्रयत्वादपादानत्वं न विरुध्यते। तदुक्तं भर्तृहरिणा -

अपाये यदुदासीनं चलं वा यदि वाऽचलम्।
ध्रुवमेवातदावेशात् तदपादानमुच्यते॥
पततो ध्रुव एवाश्वो यस्मादश्वात्पतत्यसौ।
तस्याप्यश्वस्य पतने कुड्यादिध्रुवमिष्यते॥
उभावप्यध्रुवौ मेषौ यद्यप्युभयकारिणे।
विभागे प्रविभक्ते तु क्रिये तत्र विवक्षिते॥
मेषान्तरक्रियापेक्षमवधित्वं पृथक् पृथक्।
मेषयोः स्वक्रियापेक्षं कर्तृत्वं च पृथक् पृथक्॥ इति

अतदावेशादित्यस्य तद्भातूपात्तव्यापारानाश्रयत्वादित्यर्थ इति दीक्षितः प्रौढमनोरमायामुक्तवान्।[3]

कौण्डभट्टस्य मतम्

"अपादाने पञ्चमी इति सूत्रात्पञ्चम्यर्थमवधिमङ्गीकुर्वाणस्य वैयाकरणभूषणसारकारस्य कौण्डभट्टस्य मतेनापायो विश्लेषस्तज्जनकक्रिया, तस्यां ध्रुवस्यार्थादवधिभूतस्यापादानसंज्ञा भवति। एवञ्च तन्नये "अपाये यदुदासीनम्" इत्यादिवाक्यपदीयकारिकार्थस्त्वित्थम् "अपाये विश्लेषहेतु-क्रियायाम्, उदासीनमनाश्रयः, अतदावेशात्तत्क्रियानाश्रयत्वात्" इति। तेन विश्लेषहेतुक्रियानाश्रयत्वे सति विश्लेषाश्रयत्वमपादानत्वमिति फलितम्। "वृक्षात्पर्णं पतति" इत्यत्र पर्णस्यापादानत्ववारणाय विश्लेषहेतुक्रियानाश्रयत्वे सतीत्यंशस्योपादानम्। क्रियानाश्रयत्वे सति विश्लेषाश्रयत्वमपादानत्वमिति लक्षणे तु "धावतोऽश्वात्पतति" इत्यत्र धावनक्रियाश्रयत्वादश्वस्यापादानत्वानुपपत्तिस्तस्मात्तदुपपत्तये क्रियायां विश्लेषहेतुरिति विशेषणम्। तेनादोषो, यतो हि 'पत्' धात्वर्थपतनक्रियैव विश्लेषे हेतुस्सा च क्रिया चैत्रादिनिष्ठा न त्वश्वनिष्ठाऽतो धावनक्रियाश्रयत्वादश्वस्यापादानत्वं सिद्धमेव। अश्वस्य धावनक्रिया चैत्रादेः विभागं प्रति न हेतुः, विनाप्यश्वनिष्ठधावनक्रियां विभागसम्भवात्सान्यथासिद्धा विभागं प्रति, अत एव "विश्लेषजनकक्रियानाश्रयत्वे सति विश्लेषाश्रयत्वम्" इत्येव लक्षणमुचितम्। ध्रुवपदार्थे स्थिरे गृहीते तु "धावतोऽश्वात्पतति" इत्यत्राश्वस्य स्थिरत्वाभावान्न स्यादश्वस्यापादानत्वम्। "कुड्यात्पततोऽश्वात्पतति" इत्यात्राश्वस्यापादानत्वे सिद्धेऽपि कुड्यस्यापादानत्वशङ्का अश्वस्य

[3] प्रौ. म.। पृष्ठाङ्कः- ५३५

विश्लेषहेतुक्रियानाश्रयत्वात्। तत्समाधानं तु यथारोहिनिष्ठपतनक्रियानाश्रयत्वा-दश्वस्यापादानत्वं सिद्ध्यति तथाश्वनिष्ठपतनक्रियानाश्रयत्वात्कुड्यादेरप्यपादानत्वं सिद्ध्यति। ननूभयकर्मजविभागस्थले विभागस्यैक्यात्तद्विश्लेषजनकक्रियानाश्रय-त्वाभावात् परस्परान्मेषावपसरतः इत्यत्रापादानत्वाऽऽशङ्का। तत्समाधानञ्च यथा निश्चलमेषादपसरवितीयमेषस्थले निश्चलमेषस्यापसरन्मेषक्रियामादाय ध्रुवत्वम्, तथात्रापि विभागैक्येऽपि क्रियाभेदादेककक्रियामादाय परस्य ध्रुवमित्युभयोः ध्रुवत्वं सिद्धम्। एवञ्च "विश्लेषाश्रयत्वे सति तज्जनकतत्क्रियानाश्रयत्वं तत्क्रियायामपादा-नत्वं" वाच्यम्। किन्तु नैतावान्पञ्चम्या वाच्यः सा त्ववधेः परिभाषा। अतः पञ्चम्या अवधिमात्रं वाच्योऽर्थः। विभागाश्रयश्चावधिः। यद्येतत्तर्हि वृक्षात् पर्णं पततीत्यत्र पर्णस्यापि विभागाश्रयत्वादपादानत्वापत्तिः तत्समाधानञ्च कर्तृसंज्ञयापादानसंज्ञायाः बाधः परत्वात्। ननु धात्वर्थव्यापारजन्यविभागाश्रयस्यापादानत्वे सिद्धेऽपि "वृक्षं त्यजति" इत्यादौ कर्मणो वृक्षस्याप्यपादानत्वापत्तौ "वृक्षात्त्यजति" इत्येवं प्रयोग-स्यात् त्यजिधात्वर्थविभागाश्रयत्वाद्वृक्षस्य। नैष दोषः कर्मसंज्ञयापादानसंज्ञाया बाधात्। "बलाहकाद्विद्योतते" इत्यादौ तु निःसृत्येत्यध्याहार्य एतद्व्यापारजन्य-विभागाश्रयबलाहकस्यादापानत्वसिद्धिः। "रूपं रसात्पृथक्" इत्यत्र तु धातुना विभागस्याप्रतीतावपि बौद्धिकविभागमुररीकृत्य तदाश्रयरसस्यापादानत्वोपप-त्तिर्बोद्धव्या इति भूषणसारे[4]। एतस्य बुद्धिकल्पितविभागस्याश्रयस्यापादानत्वात् "ध्रुवमपायेऽपादानम्" इत्यपादानसंज्ञाविधायकमेकमेव योगमुररीकुर्वाणो भाष्य-कारः पतञ्जलिरन्यान्योगानखण्डयदिति।

नागेशभट्टस्यापादानविमर्शः

लघुशब्देन्दुशेखरे ध्रुवपदार्थः स्थिरम्। अपायश्च विभाजनकव्यापारः, तद-नाश्रयमिति यावत्। एवञ्च विभागजनकव्यापारे साध्ये स्थिरस्यापादानसंज्ञा भवति। विभागश्च न केवलं वास्तविकसंयोगविनाशपूर्वक एव, अपि तु व्याकरणशास्त्रे बुद्धि-कल्पित-विभागोऽपि गृहीतो भवति। अत एव "माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः" इत्यत्र बुद्धि-कल्पित-विभागाश्रयत्वात् "पाटलिपुत्रकेभ्य" इत्यत्रापा-दानत्वसिद्धस्तया पञ्चमी सिद्ध्यति। ध्रुवशब्दानुपादानेऽपायविषये यत्कारकं तद्-रूपक्रियाजनकं तदपादानमित्यर्थसम्भवाद्ध्यापाराश्रयदेवदत्तादेः कर्तृसंज्ञापादान-संज्ञे प्राप्नुतः। "देवदत्तः पचति" इत्यादौ विभागजनकव्यापाराभावस्थले कर्तृ-संज्ञा चरितार्था। अत एव विभागजनकव्यापारस्थले विभागजनकव्यापाराश्रयत्वा-त्प्राप्तकर्तृसंज्ञाया अपवादत्वेन बाधोऽपादानसंज्ञया। तस्माद्विभागजनकव्यापारा-

[4] वै. भू. सा.। पृष्ठाङ्कः- १३८

श्रयस्यापादानत्ववारणाय ध्रुवपदोपदेशः। अत्र हरिरप्याह "अपाये यदुदासीनं चलं वा यदि वाऽचलम्" इति। विभागजनकव्यापारं प्रति यद् उदासीनचलध्रुवं यच्चोदासाचलध्रुवं तयोरपादानसंज्ञा भवति इति तदाशयः। तस्मादेव "धावतोऽश्वात्पतति" इत्यत्र विभागजनकव्यापारं प्रत्युदासीनस्य विभागजनकव्यापारानाश्रयस्याश्वस्यापादानसंज्ञा चरितार्था। भाष्यानुसारिनागेशस्तु "विभागजनकव्यापारं प्रत्युदासीनविभागजनकव्यापारानाश्रयस्य ध्रुवत्वमित्येतं भर्तृहरिकृतार्थमनङ्गीकुर्वाणोऽब्रवीद्ध्रुवशब्दार्थस्स्थिरमचलमेवेति। तन्नये विभागजनकव्यापारे साध्येऽचलस्यैवापादानसंज्ञा। विभागजनकव्यापारानाश्रयस्य ध्रुवत्वस्वीकारेऽश्वस्यापादानत्वानापत्तिः। यतो हि "त्रासादश्वात् पतति" इत्यत्राश्वस्य त्रासादारोहिणः पतनम्। सा त्रासक्रिया चाश्वनिष्ठा। एवमेव धातवोऽश्वात्पतति" इत्यत्र यद्यश्वः शनैः शनैः गच्छति तदा त्वारोही न पतति। तस्मात्प्रकृते विभागजनकधावनरूपव्यापारस्याश्वनिष्ठत्वादश्वस्यापाादनत्वानापत्तिस्तस्मादेव ध्रुवशब्दस्याचलार्थं स्वीकरोति। कथं तर्हि "धावतोऽश्वात्पतति" इत्यत्रापादानत्वोपपत्तिरिति चेदध्रुवेऽश्वे ध्रौव्यस्यारोपेणापादानसंज्ञासिद्धिः। विभागजनकव्यापारानाश्रयस्यापादानत्वस्वीकारे त्वारोहि स्वदोषात् पतत्यर्थाद्विभागजनकव्यापाराश्रयो नाश्वोऽस्त्यपि त्वश्वारोह्येव। एवं स्थिते "अध्रौव्यस्याविवक्षितत्वमत्र, यतस्सतोऽप्यविवक्षा भवति" इति भाष्योक्तं समाधानमसङ्गतं स्यात्। अतो भाष्योक्तकथनेनावगम्यते यद्ध्रुवशब्दार्थः स्थिरमतश्चलस्याश्वस्यापादानत्वसिद्धये तादृशकथनं सार्थकम्। लोकेऽपि ध्रुवशब्दस्स्थिरार्थे प्रसिद्धः। अर्थान्तरे कल्पिते तु गौरवमापतति। अतदावेशादिति हरिकारिकोक्तपदार्थस्त्वध्रौव्यस्याविवक्षणादित्येवंरूपो बोद्धव्यः।

एवञ्च तन्नये सूत्रार्थस्तावत् "अपाये गतिविशेषे सति यद्भवमवधिभावोपगमाश्रयत्वे सति तदतिरिक्तस्यावधित्वोपयोगिव्यापारस्यानाश्रयन्तदपादानमिति सूत्रार्थः। तदतिरिक्तस्येत्यस्यार्थोऽवधिभावोपगमाश्रयातिरिक्तस्येति। ननु त्रासादिव्यापारस्यावधित्वोपयोगिव्यापाररूपत्वात् तदाश्रयस्याश्वस्यापादानसंज्ञानापत्तिरिति चेन्न, सत्यप्यश्वनिष्ठत्रासादिव्यापार आरोहिणश्चातुर्यान्न तस्य पतनसम्भवस्तस्मादवधित्वोपयोगिव्यापाररूपत्वन्न त्रासः स्यात् एवावधित्वोपयोगिव्यापारानाश्रयस्याश्वस्यापादानसंज्ञासिद्धिस्तेन "त्रस्तात् अश्वात् पतति" इति प्रयोगोपपत्तिरिति प्राचीनाः। नव्यास्तु अध्रुवेऽश्वे ध्रौव्यत्वारोपेणाश्वस्यापादानसंज्ञोपपत्तिरिति ब्रुवते। अपादानकारकातिरिक्तकारकमपि क्रियाबोधकमस्ति। तस्मादवधित्वातिरिक्तस्यापादानसंज्ञावारणाय ध्रुवपदोपदेशः। तथा च प्रोक्तं नागेशेन "ध्रुवग्रहणन्तु कारकान्तराणामिवापादानस्यावधिभावोपगमातिरिक्तव्यापाराभावबोधनायेत्याहुः" इति। "अपादानशक्तिश्च प्रकृतधात्वर्थविभागाश्रयत्वसमानाधिकरणेत्य-

पादानसमभिव्याहारे विभागोऽपि धात्वर्थः। अत एव "काशीं गच्छति" इत्यत्र गमिधातोः संयोगानुकूलव्यापारार्थत्वान्नापादानसंज्ञा। अपादानत्वशक्तिसमभिव्यापारे विभागस्य धात्वर्थत्वादेव "वृक्षात् पतति" इति वाक्यघटकपतधातोः वृक्षापादानकविभागानुकूलव्यापारोऽर्थः। किञ्च "वृक्षात् भूमिं पतति" इति वाक्यघटकपतधातोः वृक्षापादानकविभागपूर्वकसंयोगानुकूलव्यापारोऽर्थः। "परस्परस्मान्मेषावपरतः" इत्यत्र विभागजनकापसरणरूपव्यापारस्योभयमेषवृत्तित्वादपादानत्वासम्भव इति शङ्का। तत्समाधानं चात्र परस्परशब्दार्थो मेषः, मेष-शब्दार्थोऽपि मेषः। मेष-शब्दवाच्यमेषस्य विभागजनकापसरणरूपव्यापारश्रयत्वात्कर्तृत्वम्। परस्परशब्दवाच्यमेषस्य च विभागजनकापररूपव्यापारानाश्रयत्वादित्यादिसमाहितेऽपि शङ्कोदेति यदत्र मेषशब्दवाच्यमेषस्य परस्परशब्दवाच्यमेषस्य चैक्येऽपि, पुनः मेषशब्दवाच्यमेषविभागजनकव्यापाराश्रयमथ च परस्परशब्दवाच्यमेषं विभागजनकव्यापारानाश्रयं मत्वा कथमपादानत्वं परस्परशब्दवाच्यमेषस्य विभागजनकव्यापारानाश्रयस्येति चेत् "शब्दभेदादर्थभेदः" इति तत्समाधानम्। यथा आत्मा आत्मानं पश्यति इत्यत्र शब्दभेदाद्भेदः स्वीक्रियते।[5] प्रथमस्य आत्मन्शब्दस्य जीवरूपोपाध्यवच्छिन्नवाच्यस्वीकृतिपूर्वककर्तृत्वं, द्वितीयस्य आत्मन्शब्दस्य निरवच्छिन्नतत्त्ववाच्यस्वीकृतिपूर्वककर्मत्वम्। एवमेव प्रकृते मेषशब्दवाच्यमेषस्य विभागजनकव्यापाराश्रयत्वात्कर्तृत्वम्, परस्परशब्दवाच्यमेषस्य च विभागजनकव्यापारानाश्रयत्वादपादानत्वं सिद्धं भवति।

परमलघुमञ्जूषायाम् "तत्तत्कर्तृसमवेततत्तत्क्रियाजन्यप्रकृतधात्ववाच्यविभागाश्रयत्वमपादानत्वम्। तदेवावधित्वम्" इति नागेशः। यथा "रामो ग्रामादायाति" इत्यत्र कर्ता रामः, तस्मिन् समवेता = समवायेन वर्तमाना, क्रियोत्तरदेशसंयोगानुकूला पादप्रक्षेपादिरूपा गमनक्रिया, तज्जन्यः प्रकृतधात्ववाच्यो यो विभागः तदाश्रयत्वं ग्रामस्यास्तीति लक्षणसमन्वयः। विभागो न हि गम्धातुवाच्य इति तस्य प्रकृतधात्ववाच्यत्वं स्पष्टमेव। बुद्धिकल्पितसम्बन्धपूर्वकबुद्धिकल्पितविभागाश्रये बीजं भाष्यकारवचः। तथा च ध्रुवमपायेऽपादानम् इति सूत्रे भाष्ये जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानं कर्तव्यम् - अधर्माज्जुगुप्सते, अधर्माद् बीभत्सते, धर्माद् विरमति....। इदृश्योपसंख्यानं कर्तव्यम् - साङ्काश्यकेभ्यः पाटलिपुत्राः अभिरूपतरा इति। तत्तहीद बहु कर्तव्यम्। न वक्तव्यम्। इह तावदधर्माज्जुगुप्सते, अधर्माद् बीभत्सते इति य एव मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स पश्यति - दुःखोऽधर्मो नानेन कृत्यमस्तीति। स बुद्ध्या सम्प्राप्य निवर्तते। तत्र ध्रुवमपायेऽपादानमिति सिद्धम्। इह च साङ्काश्यकेभ्यः पाटलिपुत्रका अभिरूपतरा इति, यस्तस्मै साम्यं गतवान्

[5] ल. श. शे.। पृष्ठाङ्कः- २३५

स एतत् प्रयुङ्क्ते (म. भा. १४।२४)। अत्र बुद्धिकल्पितापायाश्रयणप्रयुक्तमपादानत्वमिति स्फुटमेवोक्तम्। एवं रीत्या वार्तिक नानासूत्राणि च प्रत्याख्यातानि।[6] "परस्परस्मात् मेषावपसरतः" इत्यत्रापादानत्वविधानायादात्समाधान शब्दरूपोपाधिकृतभेदोऽप्यर्थे गृह्यते इति। यथात्मात्मानमात्मना वेत्तीत्यादौ शरीरावच्छिन्नं कर्तृ, अन्तःकरणावच्छिन्नं करणं, निरवच्छिन्न निरीहं कर्म। एकस्यैव शब्दभेदाद्भेदः। शब्दालिङ्गितस्यैवार्थात् शब्दरूपोपाधिविशिष्टस्यैव सर्वत्र भानात्। तदाह -

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यश्शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञान सर्व शब्देन भासते॥

इति वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषायां "परस्परस्मात् मेषावपरतः" इत्यत्रापादानत्वं हरिणेत्थमुपपादितम् -

उभावप्यध्रुवौ मेषौ यद्यप्युभयकर्मज।
विभागे प्रविभक्ते तु क्रिये तत्र व्यवस्थिते॥ इति।

तत्तद्व्यतिरिक्तत्वेन विभागस्य बुद्ध्या प्रविभागे तत्तद्विभागानुकूलक्रियावत्तस्यापरत्राभावादुभयोरपि ध्रुवत्वमित्यर्थः। तदेवोक्तम् -

मेषान्तरक्रियापेक्षमवधित्वं पृथक् पृथक्।
मेषयोः स्वक्रियापेक्षं कर्तृत्वं च पृथक् पृथक्॥ इति

इत्येतन्मतं शेखरे खण्डितम्। अत्राप्यखण्डयदित्थं नागेशः - "वस्तुतः मेषनिष्ठयोः क्रिययोर्भेदेऽपि सृधातुना निवृत्तभेदाया एव क्रियाया उपादानादुभयोरपि तत्क्रियाश्रयत्वेन परत्वात् कर्तृत्वापत्तेः। अत एव एकशेषसूत्रे भाष्ये उक्तम् - न वै तिङन्तान्येकशेषारम्भं प्रयोजयन्ति, क्रियाया एकत्वात् इति। अपादानत्वशक्त्याश्रय एवावधिरित्युच्यते" इति। नागेशः नैयायिकभूषणकारादिमतम् अखण्डयद्वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषायाम्। "वृक्षात् पर्णं पतति" इत्यत्र विभागः पञ्चम्यर्थः। आश्रयत्वं प्रकृतिप्रत्ययार्थयोस्संसर्गः। विभागस्य जनकतासम्बन्धेन धात्वर्थेऽन्वयेन वृक्षाश्रयकविभागजनकपतनाश्रयः पर्णमिति बोधः इति पूर्वपक्षमतम्, तन्नेति नागेशो वृक्षापादानकविभाग इत्येवं बोधानुभवादपादानत्वशक्तिमत एव पञ्चम्यर्थत्वौचित्यात्, "वृक्षाद्विभजते" इत्यादौ विभागस्य पञ्चम्यर्थ इति भूषणोक्तमप्यपास्तम्। अपि च नैयायिकमते प्रकृत्यर्थप्रत्ययार्थयोः क्लृप्तस्याभेदस्यान्वयस्य त्यागापत्तिः। तस्मात् "वृक्षात् पर्णं पतति" इत्यत्र पतधातोः विभागजन्यः संयोगोऽर्थः। पञ्चम्यर्थोऽपादानम्। तत्राभेदेन प्रकृत्यर्थस्यान्वयः। अपादानस्य

[6] प. ल. म.। पृष्टाङ्कः- २५७

विभागे स्वनिष्ठापादानतानिरूपकत्वसम्बन्धेनान्वये वृक्षाभिन्नापादानकविभागजन्य-संयोगः पर्णनिष्ठः इति बोधः। यद्वा अपादानादिवृक्षीयपर्णकर्तृकं पतनमिति बोधः इति नागेशः। वस्तुतो वैयाकरणानामपि लक्षणे नैयायिकैः सह न महद्वैमत्यम्। वैयाकरणनये पञ्चम्यर्थस्त्वाश्रयो विभागश्च। परसमवेतत्वमपि न पञ्चम्यर्थः। पर्णात्पर्णं पतति इत्यादिप्रयोगाणामपादानकर्तृसंज्ञयोर्बाध्यबाधकभावेनैव वारयितुं शक्यत्वात्। नागेशस्तु पञ्चम्यर्थः अपादानत्वादिरूपेणैव भासते इति वक्ति।

एतावता वैयाकरणग्रन्थानुसारिविचारस्समाप्तः। सम्प्रति नैयायिकग्रन्थादिशा विचारः प्रारभ्यते।

भवानन्दसिद्धान्तवागीशाशयः

परकीयक्रियाजन्यविभागाश्रयत्वमपादानत्वमित्यपादानलक्षणमवोचत्कारकचक्रकृत् श्रीभवानन्दसिद्धान्तवागीशभट्टाचार्यः। परकीयत्वं परसमवेतत्वम्। यस्यापादानत्वं विवक्ष्यते तदपेक्षया परत्वमत्र ज्ञेयम्। "वृक्षात् पर्णं पतति" इत्यत्रापादानवृक्षापेक्षया परं पर्णं तत्समवेता पतनक्रिया, तज्जन्यो विभागो वृक्षपर्णविभागस्तदाश्रयत्वं वृक्षस्यास्तीति तस्यापादानत्वम्। पर्णनिष्ठपतनजन्यविभागस्य वृक्षपर्णोभयनिष्ठतया पतनक्रियाजन्यविभागाश्रयस्य पर्णस्यापादानत्ववारणाय क्रियायां परकीयत्वनिवेशः। अत्र पञ्चम्या विभागजनकत्वं भेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वं वार्थः। विभागे भेदे च वृक्षस्याधेयतासम्बन्धेनान्वयः। पञ्चम्यर्थयोः आश्रयतासम्बन्धेन धात्वर्थपतनेऽन्वयः।

ततस्तस्माद्वाक्याद् "वृक्षनिष्ठविभागजनकवृक्षनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकपतनाश्रयः पर्णम्" इति बोधः। "वृक्षं त्यजति खगः" इत्यत्र खगनिष्ठक्रियाजन्यविभागाश्रयत्वाद्वृक्षस्यापादानतावारणाय विभागधात्वर्थतानवच्छेदकमिति विशेषणमुपादेयम्। तेन विभागानुकूलव्यापारस्य त्यज्धात्वर्थतया विभागस्य धात्वर्थतावच्छेदकत्वान्न दोषः। एवञ्च पतधातोः विभागानवच्छिन्नव्यापारार्थो लभ्यते। तथा च परसमवेतक्रियाजन्यतद्धात्वर्थतानवच्छेदकविभागाश्रयत्वमपादानत्वमिति फलितम्।

"ग्रामाद् गच्छति" इत्यत्र गमनजन्यगम्धात्वर्थतावच्छेदकविभागाश्रयत्वाद्ग्रामस्यापादानत्वम्। तन्नये "ध्रुवमपायेऽपादानम्" इति पाणिनीयसूत्रस्यापाये विभागे ध्रुवं निश्चलम्, तद्विभागजनकक्रियाशून्यमपादानमित्यर्थकात् "धावतोऽश्वात्पतति" इत्यत्राश्वस्यापादानत्वासम्भवोऽश्वस्य विभागजनकक्रियाशून्यत्वाभावादित्याशङ्कायामुच्यते तेन सूत्रान्तरं करणीयमिति। वस्तुतस्तु स स्वकीयसिद्धा-

न्तमित्थमुपास्थपयत् "अश्वस्य धावनमश्वारोहिपतनञ्चाश्वाश्वरोहिपतने हेतुः। अश्वारोहिपतनञ्चाश्वाश्वारोहिविभागे हेतुः। एवञ्चाश्वारोहिपतनेनान्यथासिद्धस्य धावनस्य विभागं प्रत्यहेतुत्वाद्विभागजनकपतनशून्यस्याश्वस्यापादानत्वसम्भवेन न सूत्रान्तरप्रणयनस्यावश्यकतेति मम प्रतिभाति" इति भवानन्दः ।

ननु परकीयस्पन्दनजन्यविभागाश्रयत्वेन वृक्षस्य, "वृक्षात् पर्णं स्यन्दते" इत्येव प्रयोगापत्तिरिति चेन्न परकीयक्रियेत्यत्र क्रियापदेन सकर्मकधात्वर्थस्य विवक्षितत्वात्। स्पन्देश्चाकर्मकत्वात्। तथा च परसमवेतसकर्मकधात्वर्थजन्यतद्धात्वर्थतानवच्छेदकविभागाश्रयत्वमपादानत्वमिति निष्कर्षः। अवधित्वञ्च कश्चित्स्वरूपसम्बन्धविशेषः प्रतीतिबलात् कल्प्यते। तेन धावतोऽश्वात्पततीत्यादौ चञ्चलेऽप्यपादानत्वं सिद्ध्यतीति भवानन्दः।[7]

जगदीशतर्कालङ्काराशयः

जगदीशतर्कालङ्कारभट्टाचार्योऽपादानत्वमित्थं निर्वक्ति -

क्रियाधर्मिणि यः स्वार्थः पञ्चम्या विग्रहस्थया।
अनुभाव्यः कारकं तदपादनत्वसंज्ञकम्॥

क्रियात्र धात्वर्थः। यद्धातूपस्थाप्ये यादृशेऽर्थे धर्मिणि विग्रहवाक्यस्थया पञ्चम्या यः स्वार्थोऽनुभावयितुं शक्यः कारकञ्च सोऽर्थः तद्धातूपस्थाप्यतादृशक्रियायामपादानत्वमुच्यते। तथा च कारकत्वे सति यद्धातूपस्थाप्ययादृशार्थधर्मिकान्वयबोधप्रकारः यः पञ्चम्यर्थः स तद्धातूपस्थाप्यतादृशक्रियायामपादानत्वमिति पर्यवसितम्। "वृक्षात् पतितः" इत्यादौ वृक्षावधिकविभागानुकूलपतनकर्तेत्यन्वयबोधः। तत्र धातूपस्थाप्यपतने पञ्चम्युपस्थाप्यो विभागः प्रकार इति स विभाग एव तत्रापादानत्वम्। अत्र शङ्का "वृक्षादिव स्वस्मात् पतितश्चैत्रः" इति प्रयोगवारणाय धात्वान्वितं परसमवेतत्वमपि तत्र पञ्चम्यर्थ इति वक्तव्यमिति चेन्न परसमवेत इत्यस्य पञ्चमीप्रकृत्यर्थभिन्नसमवेत इत्यर्थः। स्वभिन्नसमवेतपतनस्य स्वस्मिन्बाधान्न तादृशप्रयोगः। तथा च परसमवेतत्वमप्यपादानत्वं स्यादिति वाच्यं तच्चेष्टमप्यस्ति इत्येवमुक्त्वाग्रेऽवादीत् "वस्तुतस्तु परसमवेतत्वं न पञ्चम्यर्थः, तथा सति द्रव्यान्यसमवेतस्य पतनस्याप्रसिद्ध्या द्रव्यात्पतति खगः इत्यादेर्योग्यतापत्तेः। परं तु स्वावधित्वसम्बन्धेन प्रकृत्यान्वितस्य पञ्चम्यर्थविभागस्य सामानाधिकरण्यानुकूलत्वोभयसम्बन्धेन धात्वर्थे पतनेऽन्वयस्य व्युत्पन्नत्वात् न स्वस्मात् पतितश्चैत्रः इति प्रयोगापत्तिरिति तदाशयः इति। तेन भवानन्दोक्तमपादानत्वमभिमतम्।

[7] वै. सि. ल. म.। पृष्ठाङ्कः- १२८५

परन्तु परसमवेतत्वस्य पञ्चम्यर्थता नेष्टा। चैत्रावधिकत्वविशिष्टविभागाधिकरणनिष्ठं यत् चैत्रविभागानुकूलं पतनन्तस्य चैत्रे बाधात्। स्वावधिकत्वविशिष्टविभागस्य स्वस्मिन्नसत्त्वात्। "वृक्षात् पतितश्चैत्र" इत्यत्र तु वृक्षावधिकत्वविशिष्टविभागाधिकरणचैत्रनिष्ठपतनाश्रयस्य चैत्रे सत्त्वादपादानत्वोपपत्तिः प्रयोगोपपत्तिश्च। एतावताऽकर्मकधातुयोग एवापादानपञ्चम्याः साधुतया वृक्षाच्चलति, इतिवत् वृक्षात् स्पन्दते इत्यपि प्रयोगः स्यादिति वक्तव्यम्। तत्रेष्टापत्तिरिति जगदीशतर्कालङ्कारः।[8]

गदाधरभट्टाचार्यस्याशयः

गदाधरभट्टाचार्यस्त्ववोचत् "अपादानत्वं स्वनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकीभूतक्रियाजन्यविभागाश्रयत्वम्" इति। "वृक्षात्पर्णं पतति" इत्यत्र स्वं वृक्षस्तन्निष्ठो भेदः "पतनवान्न" इति प्रतीतिसिद्धस्तत्प्रतियोगितावच्छेदकीभूता क्रिया पतनक्रिया तज्जन्यो विभागो वृक्षपर्णविभागस्तदाश्रयत्वं वृक्षेऽस्तीति लक्षणसमन्वयः। पर्णादेः स्वनिष्ठो यो वृक्षविभागस्तजनकं यत्स्वपतनन्तदपादानत्वमादाय "पर्णं स्वस्मात् पतति" इति प्रयोगवारणाय स्वनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकीभूतेति क्रियायां विशेषणम्। पर्णनिष्ठक्रियायां पर्णनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वं नास्तीति नोक्तदोषः। तत्र क्रियायाः धातुनैव लाभात् भेदप्रतियोगितावच्छेकत्वे विभागे च पञ्चम्याः शक्तिद्वयम्। भेदे विभागे च प्रकृत्यर्थस्य वृक्षस्याधेयतासम्बन्धेनान्वयः। प्रतियोगितावच्छेदकत्वमाश्रयतासम्बन्धेन, विभागश्च जनकतासम्बन्धेन क्रियायामन्वेति।

जनकतासम्बन्धस्य वृत्त्यनियामकस्याभावप्रतियोगितानवच्छेदकतया नात्र "वृक्षान्न पतति पर्णम्" इत्यादौ तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावः क्रियायां बोधयितुं न शक्यते इति यदि विभाव्यते, तदा विभागजनकत्वमेव पञ्चम्यर्थो भवतु। प्रतियोगितावच्छेदकत्वस्येव तस्याप्याश्रयतासम्बन्धेन क्रियायामन्वयः। एवञ्च वृक्षनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेकतन्निष्ठविभागजनकपतनाश्रयः पर्णमित्याकारको बोधस्तत्र।[9] एवञ्च गदाधरोऽप्यपादानलक्षणं भवानन्दोक्तमङ्गीकरोति। पञ्चम्यर्थविषये एव किञ्चिद्वैमत्यं प्रकटयति। तन्मते विभागोऽधिकरणत्वम्, जनकत्वञ्च पञ्चम्यर्थः। एतदेव मतं गोकुलनाथेनाप्याहृतम्।

---

[8] श.श.प्र.। पृष्ठाङ्कः- २९७

[9] व्यु.वा.। पृष्ठाङ्कः- १३५

गोकुलनाथमतम्

गोकुलनाथस्य मतमधः आलोच्यते -

ङसिभ्याभ्यस इत्येषा विभक्तिः पञ्चमी तया।
अपायत्वं ध्रुवत्वं चेत्यपादानत्वमुच्यते॥[10] इति।

ङसिभ्यांभ्यस इत्येते पञ्चमीविभक्तयस्सन्ति। "तरोः पत्रं पतति" इत्यत्रापादानत्वं पञ्चम्यर्थः। अपादानत्वञ्च ध्रुवत्वे सति तत्-तत्क्रियाजन्यविभागाश्रयत्वं "ध्रुवमपायेऽपादानम्" इत्यनुशासनेन। ध्रुवत्वञ्च तत्क्रियानाश्रयत्वम्। तथा च तत्क्रियानाश्रयत्वे सति तत्-क्रियाजन्यविभागाश्रयत्वमपादानत्वमुक्तमिति। विशेषणस्याभावात्पत्रस्य न स्वनिष्ठक्रियापादानत्वम्। विशेष्यविशेषणयोरेकक्रियायां निवेशात् "कुड्यात्पततोऽश्वात्पतति" इत्यत्र पतनान्तरकर्तर्यश्वे तदितरकर्तृकपतनापादानत्वहानिर्न भवति। तथा च क्रियाविशिष्टत्वमपादानत्वम्। वैशिष्ट्यञ्च स्वानधिकरणत्वस्वजन्यविभागाश्रयत्वोभयसम्बन्धेन। हर्युक्तकारिका-णामप्युक्तार्थे एव पर्यवसानम्। तथा च तासां विवरणम् "अपाये विभागे उदासीनमर्थात् विभागजनकक्रियानधिकरणम्, अतदावेशादर्थात् विभागजनकक्रियानधिकरणत्वात्। ननु परस्परस्मान्मेषावपसरतः इत्यत्रोभयकर्मजन्यविभागे विभागजनकक्रियानधिकरणत्वं न कस्यापि मेषस्येत्याशङ्कते उभावपीत्यादिना। न विभागजनकत्वेन क्रिया प्रकृते निवेशनीया, किन्तु तादूप्येणेति नानुपपत्तिरिति समाधत्ते। तु इत्यस्य अपीत्यर्थः। नन्वपादानसंज्ञावरुद्धे कथं कर्तृसंज्ञा मेषयोः आकडारादेका इति प्रतिज्ञानादित्याशंक्य भिन्नभिन्नक्रियानिरूपितकारकान्तरसमावेशो न विरुद्ध इत्यभिप्रायेणाह मेषान्तर इत्यादिना" इति। तत्र क्रियादेरन्यलभ्यत्वाद्विभागजनकत्वं भेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वं पञ्चम्यर्थः। विभागे भेदे च प्रकृत्यर्थस्य तरोराधेयतासम्बन्धेन युगपदन्वयः। तथा च "तरोः पत्रं पतति" इत्यत्र तरुनिष्ठविभागजनिका तरुनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदिका च पतनक्रिया वाक्यार्थः।

खण्डदेवमतम्

खण्डदेवाचार्यस्तु "अपादाने पञ्चमी" इति योगादपादानत्वरूपः पञ्चम्यर्थः। तच्च "ध्रुवमपायेऽपादानम्" इति सूत्रेण निरुक्तम्। तथा हि अपाये विभागे ध्रुवं निश्चलं क्रियानाश्रयं यत् तदपादानसंज्ञं स्यादिति तदर्थः। तथा च क्रियानाश्रयत्वे सति क्रियाजन्यविभागाश्रयत्वमपादानत्वम्। अस्ति चेदं "वृक्षात्पर्णं

[10] प.वा.र.। पृष्ठाङ्कः-७४

पतति" इत्यत्र वृक्ष, पतनक्रियानाश्रयत्वात् पतनक्रियाजन्यविभागाश्रयत्वाच्च। अत्र चोदासीने घटादावतिव्याप्तिवारणाय विशेष्यम्। पर्णेऽतिव्याप्तिवारणाय सत्यन्तम्। अत्र विभागः परसमवेतत्वं च पञ्चमीशक्यम्। तत्र प्रकृत्यर्थो वृक्षो विभागे समवेतत्वसम्बन्धेन परशब्दार्थैकादेशे भेदे च प्रकृत्यर्थतावच्छेदकाश्रयो विभागाश्रयश्च या वृक्षव्यक्तिस्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वसम्बन्धेनान्वेति। यथा च वृक्षसमवेतविभागजनकवृक्षत्वरूपप्रकृत्यर्थतावच्छेदकाश्रयविभागाश्रयीभूतव्यक्तित्वावच्छिन्नवृक्षवन्निष्ठप्रतियोगिताकभेदाश्रयसमवेतपतनाश्रयः पर्णमिति बोधः। वस्तुतस्तु पूर्वोक्तगुरुभूतशक्यतावच्छेदकभेदेनानेकशक्तिकल्पनया गौरवम्। अपि च प्रकृत्यर्थस्य पञ्चम्यर्थे विभागे भेदे चान्वयस्वीकारात्तदनुसारेण प्रकृत्यर्थनिष्ठप्रकारतानिरूपितविभागनिष्ठविशेष्यतासम्बन्धेन पञ्चमीजन्योपस्थितिः कारणमिति, प्रकृत्यर्थनिष्ठप्रकारतानिरूपितभेदनिष्ठविशेष्यतासम्बन्धेन शाब्दबोधं प्रति भेदनिष्ठविशेष्यतासम्बन्धेन पञ्चमीजन्योपस्थितिः कारणमिति कार्यकारणभावद्वयं कल्पनीयम्। तथा च पञ्चम्यर्थस्य विभागस्य जनकतासम्बन्धेन धात्वर्थे, पञ्चम्यर्थस्य भेदस्य च प्रतियोगितावच्छेदकत्वसम्बन्धेन तत्रैवान्वय इत्यङ्गीकारात्तदनुसारेण पञ्चम्यर्थविभागनिष्ठजनकतासम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यतासम्बन्धेन शाब्दबोधं प्रति विशेष्यतासम्बन्धेन धातुजन्योपस्थितिः कारणमिति, पञ्चम्यर्थभेदनिष्ठप्रतियोगितावच्छेदकत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यसम्बन्धेन शाब्दबोधं प्रति विशेष्यतासम्बन्धेन धातुजन्योपस्थितिः कारणमिति च कार्यकारणभावद्वयं कल्पनीयमिति गौरवम्। एतदपेक्षया लाघवादपादानमित्यनुगतव्यवहारसाक्षिकतयापादानत्वमखण्डोपाधिरूपमेकं निरुक्तापादानत्वसमनियतं धर्मं कल्पयित्वा, तत्रैव पञ्चम्याः शक्तिं कल्पयित्वा तस्मिंश्च प्रकृत्यर्थान्वयायैका, तस्य व्याख्यातार्थान्वयायैकां व्युत्पत्तिं कल्पयितुमुचितम्। प्रकृत्यर्थस्यापादानत्वे आधेयतासंसर्गेणान्वयः। अपादानत्वस्य स्वनिरूपकधात्वर्थानुकूलत्वसम्बन्धेनाख्यातार्थकृतावन्वयः। वृक्षनिष्ठापादानतानिरूपकपतनानुकूला पर्णनिष्ठा कृतिरिति बोधः। तदेवं प्रचुरप्रयोगादखण्डेऽपादानत्वे पञ्चम्याः शक्तिः। "वृक्षाद्विभजते" इत्यादौ विभागजन्यविभागाश्रयत्वाभावान्नोक्तापादानत्वसम्भवः, अतोऽत्र लक्षणया स्वरूपसम्बन्धे विशेषरूपसमधित्वं पञ्चम्यर्थः। तस्मिन्पक्षेऽपि अपाये विभागे ध्रुवमवधिभूतमपादानसंज्ञं स्यादिति वाक्यपदीयादौ सूत्र व्याख्यातम्। तस्यापि स्वनिरूपकविभागानुकूलत्वसम्बन्धेन भावनायामन्वयः। वृक्षनिष्ठावधितानिरूपकविभागानुकूलकृतिः कर्तृवृत्तिरिति शाब्दबोधः। स्वनिष्ठविभागावधित्वस्य स्वस्मिन्नभावाच्च न स्वस्माद्विभजते इति प्रयोगः। अथवा सर्वेषु पूर्वोक्तेषु पक्षेष्ववधित्वमेव पञ्चम्यर्थः। तस्य च क्वचित् "वृक्षात्पर्णं पतति" इत्यादौ धात्वर्थजन्यविभागद्वारको भावनायामन्वयः स्वनिरू-

पकविभागानुकूलपतनानुकूलत्वेनान्वयः इति यावत्। कदाचित् "वृक्षाद्विभजते" इत्यादौ धात्वर्थद्वारकोऽन्वयः। स्वनिरूपकधात्वर्थभूतविभागानूकलत्वसम्बन्धेन पञ्चम्यर्थस्यावधित्वस्य भावनायामन्वयः इति यावदित्यपि सुवचम्[11]।

उपसंहारः

एवमुपर्युक्तक्रमेण वैयाकरणनैयायिकमीमांसकादीनां मतपरिशीलनेनायाति नैयायिकाः परसमवेतत्वमपि पञ्चमीवाच्यमिति कथयन्ति। नागेशखण्डदेवौ त्वखण्डमेवापादानत्वं पञ्चम्यर्थतयाङ्गीचक्रतुः। अपादानमवधिः, विभागाश्रयः इत्यादीनां पर्यायत्वात् शाब्दबोधे तदा तदा त्रयाणामप्यनुभूयमानत्वाच्च पञ्चम्या अवध्यर्थकत्वे, विभागाश्रयार्थकत्वे, अपादानार्थकत्वे वा न कश्चिद्विरोधः। तस्मात्सर्वशास्त्रकृत्सम्मतः पञ्चम्याः विभागाश्रयत्वरूपोऽर्थो युक्तः इति कौण्डभट्टहृदयम्[12]। अवधिः पञ्चम्यर्थः, अवधित्वञ्चाखण्डोपाधिः। भाष्यकारसम्मतं ध्रुवशब्दार्थं स्थिरं स्वीकुर्वाणस्य नागेशस्यापादानत्वलक्षणकथनमपि युक्तमिति। अन्यथार्थान्तरकल्पनारूपदोषप्रसक्तिरिति शम्।

11 भा.र.। पृष्ठाङ्कः- ९१

12 भू.सा.त.प्र.। पृष्ठाङ्कः- १४६

शब्दसंकेत

1. का.वृ.- काशिकावृत्तिः
2. प. ल. म.- परमलघुमञ्जूषा
3. प.वा. र.- पदवाक्यरत्नाकरः
4. प्रौ. म.- प्रौढमनोरमा
5. भा.र.- भाट्टरहस्यम्
6. भू.सा.त.प्र.- भूषणसारतत्त्वप्रकाशिका
7. व्यु.वा.- व्युत्पत्तिवादः
8. वै. भू. सा.- वैयाकरणभूषणसारः
9. वै. सि. कौ.- वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी
10. वै. सि. ल. म.- वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा
11. ल. श. शे.- लघुशब्देन्दुशेखरः
12. श.श.प्र.- शब्दशक्तिप्रकाशिका

सन्दर्भग्रन्थसूची

1. काशिकावृत्तिः, वामनजयादित्यौ, (सम्पा.) द्वारिकादासः कालिकाप्रसादः च, प्राच्यभारतीप्रकाशनम्, वाराणसी, १९६४
2. पदवाक्यरत्नाकरः, गोकुलनाथः, (सम्पा.) नन्दिनाथ मिश्रः, वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालयः, वाराणसी, १८८२
3. परमलघुमञ्जूषा, नागेशभट्टः, (सम्पा.) जयशङ्करलाल त्रिपाठी, चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, २०११
4. प्रौढमनोरमा, भट्टोजिदीक्षितः, (सम्पा.) सदाशिव शर्मा, चौखम्बा संस्कृत सिरीज अफिस, वाराणसी, १९३५
5. भूषणसारतत्त्वप्रकाशिका, के. वि. रामकृष्णाचार्यः, राष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्, तिरुपतिः, २०१०

6. वैयाकरणभूषणसारः, कौण्डभट्टः, (सम्पा.) चन्द्रिकाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, २०१३
7. वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा, नागेशभट्टः, (सम्पा.) माधवशास्त्री भाण्डारी, चौखम्बा संस्कृत सिरीज अफिस, वाराणसी, १९२५
8. व्युत्पत्तिवादः, गदाधरः, (सम्पा.) हरेदास त्रिपाठी, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, नवदेहली, २०११
9. शब्दशक्तिप्रकाशिका, जगदीशतर्कालङ्कारः, (सम्पा.) जीवनान्दविद्यासागर, चौखम्बा संस्कृत सिरीज अफिस, वाराणसी, १९३४
10. शाब्दबोधमीमांसा, एन एस रामानुजः तातार्यः, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम, नवदेहली, २००५

महाभाष्यवाक्यपदीययोर्गुणपदार्थानुशीलनम्

प्रमोदकुमारशर्मा

भगवता पाणिनिना संस्कृतव्याकरणस्य सुव्यवस्थितं स्वरूपं यथा व्यवस्थापितं तथैव व्याकरणदर्शनस्य स्पष्टरूपेण समारम्भोऽपि कृतः। अष्टाध्याय्यामनेकशः परिभाषासूत्राणां संज्ञाशब्दानां तथा पारिभाषिकशब्दानामाविर्भावो महर्षिणा स्वयमेव विहितः, तत्परिणामस्वरूपे व्याकरणदर्शनस्य एका विस्तृतपृष्ठभूमिः पाणिनिना स्वयमेव सज्जीकृता।

पाणिनिदर्शिताः विभाषा-पदविधि-आदेश-विप्रतिषेध-उपमान-लिङ्ग-क्रियातिपत्ति- कालविभाग-वीप्सा-प्रत्ययलक्षण-भावलक्षणशब्दार्थप्रकृतिसदृशाः शतशः शब्दाः प्रतीकभूताः सन्ति यत् पाणिनिः तात्कालिकदार्शनिकप्रवादान् पूर्णरूपेण न केवलं जानाति स्म अपितु स्वयमेव अत्युच्चकोटिकः चिन्तकोऽप्यासीत्।

पाणिनेर्नैकानि सूत्राणि दर्शनभूतानि सन्ति। तथाहि - सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ[1], जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्[2], वोतो गुणवचनात्[3], स्वतन्त्रः कर्ता[4], तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्[5], अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्[6], तस्य भावस्त्वतलौ[7] इत्यादीनि।

'सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वं यद्वृत्तौ यच्च वार्तिके' इति सूक्तिः व्याकरणदर्शनदृष्ट्यापि समुचिता प्रतिभाति। महर्षिपतञ्जलिप्रणीतमहाभाष्यमपि व्याकरणदर्शनस्य आकरग्रन्थोऽस्ति। अत्रैवोक्तं भाष्यकृता यत् - सर्ववेदपारिषदं हीदं व्याकरणशास्त्रम्, तत्र नैकः पन्थाः शक्य आस्थातुम्[8]। न सत्तां पदार्थो व्यभिचरति[9]। प्रातिपदिकनिर्देशाश्चार्थतन्त्रतः भवन्ति[10] इति। अत्र एकमेकं वाक्यं दर्शनस्य व्यापकभावभूमेः सङ्केतं करोति। एवमेव वाक्यपदीयग्रन्थोऽपि दार्शनिकग्रन्थोऽस्ति। अतोऽत्र गुणपदार्थस्वरूपविश्लेषणं व्याकरणदर्शनदिशा निरूप्यते -

---

1 पा.सू. 1-2-64
2 पा.सू. 1/2/58
3 पा.सू. 4/1/44
4 पा.सू. 1/4/54
5 पा.सू. 1/2/53
6 पा.सू. 1/2/45
7 पा.सू. 5/1/119
8 म.भा. 2/1/58
9 म.भा. 5/2/94
10 म.भा. 1/1/1

महाभाष्यानुसारगुणपदार्थानुशीलनम्

वोतो गुणवचनादिति सूत्रभाष्ये[11] गुणपदार्थं परिभाषयता भगवता पतञ्जलिनोक्तं यत् -

'सत्त्वे निविशतेऽपैति पृथग्जातिषु दृश्यते।
आधेयश्चाऽक्रियाजश्च सोऽसत्त्वप्रकृतिर्गुणः।।
उपैत्यन्यज्जहात्यदृष्टो द्रव्यान्तरेष्वपि।
वाचकः सर्वलिङ्गानां द्रव्यादन्यो गुणः स्मृतः।।[12] इति।

गुणः पाकादिना द्रव्येषु पूर्वतनं रूपं रसं स्पर्शं वा परित्यजति तथा अपरं रूपं रसं स्पर्शं वा धारयति। यथा च बदराम्रामलकादिषु फलेषु परिदृश्यत एव। अतः बदराम्रादीनि (द्रव्याणि) हरितादिकं गुणं त्यक्त्वा पीतादिकं गुणं गृह्णन्ति। एवमाम्लादिरसगुणं परित्यज्य मधुरादिरसयुक्ताश्च आम्रादयो भवन्ति। एवमेव वह्निसंयोगे सति घटः श्यामरूपं त्यक्त्वा रक्तरूपमाधत्ते। एतेन रक्तो निविशते श्यामो निवर्तते इति काचित् प्रत्यक्षप्रतीतिर्जायते। एते च शुक्लादयो गुणाः एकत्रैव नोपलभ्यन्ते किन्तु गवाश्वादिषु विभिन्नजातीयद्रव्येषु दृश्यन्ते।

अत एव शुक्लोऽयं गौः, पीतमिदं वस्त्रम् इति व्यवहार उपपद्यते। अत एव उपर्युक्तभाष्यव्याख्यावसरे कैयटाचार्येणोक्तं 'यत् द्रव्यमाश्रयते तत एव च द्रव्यान्निवर्तते भिन्नजातीयेषु च दृश्यते यः सः गुणः'[13] इति।

परन्तु इदमत्रावश्यमवधेयं यद् यथा गुणः द्रव्यमाश्रयति न तथा जातिः द्रव्यमाश्रयति। एतयोः गुणजात्योर्मध्ये द्रव्याश्रयणे अस्ति कश्चिद् भेदः। यतो हि जातिः उत्पत्तेरारभ्य द्रव्यनाशपर्यन्तं द्रव्यं न जहाति, यथा गोघटादिषु वर्तमानं गोत्वघटत्वादिसामान्यं गोघटादिद्रव्यमुत्पत्तेरारभ्य नाशपर्यन्तं न जहाति। अत एव गोत्वघटत्वसामान्यं गोघटादिष्वेव, न तु तेभ्यो भिन्नेषु द्रव्येषु उपलभ्यते। एतत् सर्वं महाभाष्यकृता स्वयमेवोक्तम्।[14] कैयटाचार्येणापि प्रदीपव्याख्यायां व्याख्यातमस्ति।[15]

गुणश्च पुनः नैतादृशः। रूपरसगन्धस्पर्शादिगुणास्तु विभिन्नद्रव्येषु निविशमाना निवर्तमानाश्च भवन्ति। अतो गुणो जातितः पृथगस्ति। अतः पृथग्जातिमत्त्वेषु

---

11 पा.सू. 4/1/44

12 म.भा. 4/1/44

13 म.भा.प्र. 4/1/44

14 'आविष्टालिङ्गा जातिः यल्लिङ्गमुपादाय प्रवर्तते उत्पत्तिप्रभृति-आविनाशान्न तल्लिङ्गं जहाति' इति म.भा. 1/2/52

15 'द्रव्ये निविशमाना द्रव्यं न कदाचिज्जहाति, न च भिन्नजातीयानि द्रव्याणि अभिनिविशते' इति म.भा.प्र. 4/1/14

द्रव्येषु निविशमानत्वे सति निवर्तमानत्वं गुणत्वमिति गुणलक्षणं स्वीक्रियते चेत् तर्हि लक्षणमिदं जातावसत्यामपि क्रियायां तु पुनः अतिव्याप्तिदोषग्रस्तं भविष्यति, यतो हि कर्म अपि कदाचित् कस्मिंश्चित् द्रव्ये निविशमानं ततो निवर्तमानं च दृश्यते। यथा चैत्रो गत्यात्मकं कर्म करोति तदा तत्र निविशते कर्म इति प्रतीयते, एवं तत्कर्मावस्थिते चैत्रे च पुनः गत्यात्मकं कर्म न दृश्यतेऽतस्ततो निवर्तते कर्म इति प्रतीयते। एवमेव विभिन्नगवाश्वप्रभृतिषु द्रव्येष्वपि कर्मदर्शनं क्रियते। एतेन उपर्युक्तगुणलक्षणेन कर्मणः (क्रियायाः) अपि गुणत्वं स्यात् इति कैयटाचार्येण स्वयमेव प्रदीपे प्रदर्शितम्।[16]

अतो गुणलक्षणं परिष्कुर्वन् महाभाष्यकृता 'आधेयश्चाक्रियाजश्च' इति पदद्वयमपि निवेशितम्। अत्र आधेयः=उत्पाद्यः, यथा घटादीनां पाकजो रूपादिः। अक्रियाजः=अनुत्पाद्यः, यथा आकाशादेर्महत्त्वादिः। क्रिया तु सर्वदा उत्पाद्यैव भवति, नत्वनुत्पाद्या, अतः क्रियायां गुणलक्षणं न संघटते। अतो गुणलक्षणं पृथग्जातिमत्त्वेषु द्रव्येषु निविशमानत्वे सति निवर्तमानत्वं तथा उत्पाद्यत्वे सत्यनुत्पाद्यत्वमिति संजातम्। परन्तु लक्षणमिदं द्रव्ये पुनः अतिव्याप्तम्, यतः समवायिद्रव्यं समवायसम्बन्धेन स्वावयवे निविशमानं दृश्यते, यथा पटः स्वावयवतन्तुषु निविशते, घटश्च स्वावयवकपालयोः निविशते। एवमसमवायिकारणसंयोगस्य समवायिकारणस्य च नाशान्नश्यति पटः घटश्च इति व्यवहारः, तेन निवर्तते पटो घटो वा इति गम्यते। एतच्च द्रव्यं गोकच्छपाश्वादिविभिन्नजातीयेष्वपि दृश्यते एव।

किञ्च उत्पाद्यत्वमनुत्पाद्यत्वं च द्रव्येऽपि स्तः। तत्रोत्पाद्यं कार्यद्रव्यम्, अनुत्पाद्यं च परमाणुद्रव्यम्, अतः द्रव्यस्यापि गुणत्वं प्रसज्यते। एतत्सर्वं कैयटाचार्येण प्रदीपव्याख्यायामुक्तमस्ति।[17] अतो द्रव्यस्यापि गुणत्वं यथा न स्यात् एतदर्थं महाभाष्यकारो गुणलक्षणे 'सोऽसत्त्वप्रकृतिर्गुणः'[18] इत्यपि निवेशितवान्। एवं कृते सति नास्ति कुत्रापि दोषः। अत्राऽसत्त्वप्रकृतिरित्यस्य अद्रव्यस्वभावः इत्यर्थः। अत एवोक्तं 'द्रव्यादन्यो गुणः स्मृतः' इति।[19] किञ्च गुणः द्रव्यगतं यल्लिङ्गं वचनं च भवति तद् लिङ्गं वचनं च गृह्णाति, परन्तु यद् द्रव्यं भवति तद् द्रव्यान्तरस्य लिङ्गं

16 'क्रियायास्तु पूर्वोक्तलक्षणयोगात् गुणत्वं प्राप्नोति। साऽपि द्रव्ये निविशते, कदाचित् द्रव्यान्निवर्तते। निष्क्रियं च द्रव्यं कदाचिद् भवति, कदाचित् सक्रियम्, विभिन्नजातीयानि च द्रव्याणि आश्रयतीति। म.भा.प्र. 4/1/44

17 'एवन्तु द्रव्यस्यापि गुणत्वं प्राप्नोति, अवयवि द्रव्यम् अवयवेषु द्रव्येषु निविशते असमवायिकारणसंयोगनिवृत्तौ च विनाशात् ततोऽपैति, भिन्नजातीयेषु हस्तपादादिषु दृश्यते। द्विविधं च तन्नित्याऽनित्यभेदेन। निरवयवस्य द्रव्यात्मपरमाण्वादेः नित्यत्वादवयविद्रव्यस्याऽनित्यत्वात् इति म.भा.प्र. 4/1/44

18 म.भा. 4/1/44

19 म.भा. 4/1/44

वचनं वा नादत्ते। एतेन सर्वलिङ्गानां वाचको यः शुक्लादिशब्दः सः यल्लिङ्गंगं द्रव्यं भवति, तस्य लिङ्गं वचनं च गृह्णाति। अत एव शुक्लं वस्त्रम्, शुक्ला शाटी, शुक्लो गौः इति व्यवहारो भवति।[20] अत आह - 'वाचकः सर्वलिङ्गानाम्' इति।[21]

तदेवं महाभाष्यकारेण श्लोकद्वयेन परिभाषितो गुणः सर्वलिङ्गवाचकः असत्त्वप्रकृतिकः, आधेयः, अक्रियाजः, द्रव्ये निविशमानः, निवर्तमानश्चेति वर्तते। अर्थात् - 'जातिक्रियाद्रव्यभिन्नत्वे सति समवेतत्वम्' इति गुणलक्षणं वक्तुं शक्यते। लक्षणेऽस्मिन् समवेतपदनिवेशाद् अभावस्य स्वतो निराशः भवति। तथा तार्किकाभिमतविशेषनिराशायात्र तद्भिन्नमपि निवेशनीयम्। अतो 'द्रव्यजातिक्रियाविशेषभिन्नत्वे सति समवेतत्वमिति गुणलक्षणस्वरूपमागतम्।'

परन्तु एतल्लक्षणस्वीकारेऽपि पुनरत्र शङ्केयं जायते यत् यथा रूपरसगन्धस्पर्शाः गुणाः आम्रादिद्रव्ये निविशमानाः निवर्तमानाश्च लक्ष्यन्ते न तथा कठोरमृदुपटुप्रभृतयो गुणाः कश्चिमंश्चिद् द्रव्ये निविशन्ते न च ततो निवर्तन्ते अतः 'सत्त्वे निविशतेऽपैति' इत्यादिलक्षणेन कठोरमृदुपटुप्रभृतीनां संग्रहाभावादत्र पारतन्त्र्यलक्षणो गुणः अङ्गीकर्तव्यः। उपर्युक्तलक्षणे च पारतन्त्र्यलक्षणगुणस्य चर्चा भाष्यकृता कण्ठतो न कृता। किन्तु अन्यत्र 'तस्य भावस्त्वतलौ'[22] इति सूत्रभाष्ये इदमाशङ्कितं यत् 'किं पुनर्द्रव्यम्? के गुणाः? इति। तथा समाहितमपि यत् 'शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः गुणाः ततोऽन्यद्द्रव्यम्' इति।[23] महाभाष्यकारस्य शङ्कासमाधानमेतत् द्रव्येषु परतन्त्रतया स्थितानां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानामपि गुणत्वं साध्नोति। अनेन प्रकारेण गुणानां पारतन्त्र्यं (द्रव्याधीनत्वम्) इति स्वरूपमपि समक्षमायाति। समर्थः पदविधिः[24] इति सूत्रभाष्ये 'वीरपुरुषः' इत्यत्र प्रदर्शितः समासोऽपि इदमेव साधयति यत् वीरत्वगुणः पुरुषाधीनोऽस्ति। तदा एव तत्र एकार्थीभावरूपसामर्थ्यं तदैवात्र समासोऽपि भवति, नान्यथा।[25] कैयटाचार्येणापि पराश्रयस्य जात्यादेरपि गुणत्वमुक्तम्।[26] कथनस्यास्य तात्पर्यमिदमस्ति यत् शब्दशास्त्रे सोऽपि गुणो भवति यः परतन्त्रतया गृहीतो भवति। यथा 'धनमानय' इत्यत्र आनयनक्रियायां धनस्य

---

20 यदसौ द्रव्यं श्रितो भवति गुणः, तस्य यल्लिङ्गं वचनञ्च तद्गुणस्यापि भवति। इति महाभाष्यम्। अनेकमन्यपदार्थे 2/2/24

21 म.भा. 4/1/44

22 पा.सू. 5/1/119

23 म.भा. 5/1/119

24 पा.सू. 2/1/1

25 'यदि द्रव्यं पदार्थः, भवति तदासामर्थ्यम्, अन्यो हि वीरत्वं गुणः, अन्यो हि पुरुषत्वम्' इति म.भा. 2/1/1

26 'एतच्चोपलक्षणम्, पराश्रयस्य सर्वस्य भेदकस्य जात्यादेरिह गुणत्वे अभिमतत्वात्' इति म.भा.प्र. 5/1/119

पारतन्त्र्यम्, तेन धनमपि गुणः, न च धनमुपर्युक्तगुणलक्षणेन ग्रहीतुं शक्यते। अतः परतन्त्रतया (पराश्रयतया) यत्किमपि स्यात् तत्सर्वमपि परतन्त्रलक्षणलक्षितो गुणो भवतीति गम्यते।[27]

किञ्च गुणभेदेन द्रव्यस्य भेदव्यवहारो जायते, यथा - शुक्लमिदं वस्त्रम्, रक्तो घटः, दण्डी पुरुषः, धनी व्यक्तिः।[28] एकमेव उदकद्रव्यं गुणभेदेन तस्य अन्यत्वव्यवहारो जायते।[29] अतो भेदकाः गुणाः इति पक्षः महाभाष्ये दृश्यते। अत्र आश्रियमाणगुणो भेदको भवतीति तात्पर्यम्।

'अभेदकाः गुणाः'[30] इति वृद्धिरादैच्[31] इति सूत्रस्थमहाभाष्यस्य तु तात्पर्यमिदमस्ति यत् यथा एकस्मिन्नेव चैत्रे बाल्याद्यवस्थाभेदसत्त्वेऽपि भेदो न गृह्यते, स एव चैत्रो वार्द्धक्याद्यवस्थायामपि भवति। अत्र चैत्रो बाल्याद्यवस्थाभेदे सत्त्वेऽपि चैत्रेत्याख्यां न जहाति। परन्तु 'अयं स एव चैत्रः यो बाल्ये दृष्टः' इति बोधो जायते। किञ्च मुण्डी, जटी, शिखीत्यादिगुणभेदेनाऽपि चैत्रस्य भेदो न भवति किन्तु मुण्डी यश्चैत्रः स एव शिखी जट्यपि भवति। तथा च गुणानां भेदेऽपि न द्रव्यस्य भेदो भवति।

महाभाष्ये गुणशब्देन केवलगुणवाची शब्दोऽपि गृह्यते, यस्तु गुणवाची सन् गुणिनं बोधयति, न स तेन गृहीतो भवति। अत एव 'पूरणगुणे'त्यादिसूत्रभाष्ये द्रव्याद् गुणस्य भेदोपपत्तये षष्ठ्या विभक्त्या भेदो दर्शितः भाष्यकृता।[32] तद्यथा - ब्राह्मणस्य शुक्लाः, काकस्य काष्ण्यम्, कण्टकस्य तैक्ष्ण्यम् इति। कुत्रचित् विशेष्यपदस्याऽभावात् शुक्लादिशब्दाः अपि गुणमात्रवचनाः दृश्यन्ते। अत एव शुक्लादीनां शब्दत्वमाशङ्क्य तेषां गुणत्वमुक्तं महाभाष्यकृता - 'यत्तर्हि तत्

---

27 'धनादीनां साकाङ्क्षत्वात् भेदकत्वात् क्रियायां पारतन्त्र्याच्च गुणत्वम्। यथा शुक्लमित्युक्ते किं तदिति नित्यं द्रव्यमाकाङ्क्षति शुक्लं च वस्त्रमिति द्रव्यस्य भेदकं शुक्लमानयेत्युक्ते क्रियायां द्रव्यपरतन्त्रम्। द्रव्यानयनमन्तरेण गुणाऽनयना-ऽसम्भवादिति शौक्ल्यं गुणः। धनमानयेत्युक्ते गवादिद्रव्याऽनयनात् क्रियायां पारतन्त्र्यं धनं गुणः' इति म.भा.प्र. 5/1/59

28 'आश्रियमाणो गुणो भेदको भवति, तद्यथा - शुक्लमालभेत, न हि तेन यथोक्तं कृतं भवति' इति म.भा. 1/1/1

29 'एवं हि दृश्यते लोके, एकोऽयमात्मा उदकं नाम, तस्य गुणभेदात् अन्यत्वं भवति-अन्यदिदं शीतम्, अन्यदिदमुष्णम्' इति म.भा. 1/1/1

30 'ननु च अभेदकाः अपि गुणाः दृश्यन्ते, तद्यथा देवदत्ते मुण्ड्यपि जट्यपि शिख्यपि स्वाख्यां न जहाति, तथा बालो, युवा वृद्धो वत्सो दम्यो वलीवर्द' इति म.भा. 1/1/1

31 पा.सू. 1/1/1

32 'गुणस्य किमुदाहरणम्? ब्राह्मणस्य शुक्लाः, वृषलस्य कृष्णाः, इति नैतदस्ति प्रयोजनम्, इदं तर्हि काकस्य काष्ण्यम्, कण्टकस्य तैक्ष्ण्यम्, बलाकायाः शौक्ल्यम्, इदञ्चाप्युदाहरणं ब्राह्मणस्य शुक्लाः, वृषलस्य कृष्णाः इति' म.भा. 2/1/11

शुक्लो नीलः कपिलः कपोतः सः शब्दः ? नेत्याह गुणो नाम सः' इति[33]। गुण-शब्दस्य प्रयोगो महाभाष्ये बहुषु अर्थेषु दृश्यते। अत एवोक्तं पतञ्जलिना - 'गुण-शब्दोऽयं बह्वर्थः'। अस्त्येव समेषु अवयवेषु वर्तते। तद्यथा द्विगुणा रज्जुः, त्रिगु-णारज्जुरिति, अस्ति द्रव्यपदार्थः तद्यथा - योऽत्राप्रधानं भवति स आह गुणभूताः वयमत्र। अस्त्याचारे संस्कारे तद्यथा - संस्कृतमन्नं गुणवदित्युच्यते, इति।

तदेवं शाब्दिकशास्त्रे गुणो द्विविधः - लौकिकः शास्त्रीयश्च। तत्राद्यस्तावत् रूपरसगन्धस्पर्शादयः न्यायवैशेषिकदर्शने प्रसिद्धाः। सत्त्वरजस्तमसां परिणामभूताः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्रारूपा अतिसूक्ष्माः तेषामपि परिमाणाः स्थूलाः शब्दस्प-र्शादयः सांख्यवेदान्तादिशास्त्रे प्रसिद्धाः। व्याकरणेऽपि पाणिनीये तन्त्रे रूपादयो गुणविशेषाः बहुशो व्यवहृताः। तद्यथा - 'सत्यापपाशरूपवीणातूल' इति सूत्रे रूप-ग्रहणम्, 'रसादिभ्यश्च' इति सूत्रे रसग्रहणम्, 'गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः' इत्यत्र गन्धग्रहणम्, द्रवमूर्तिस्पर्शयोः श्यः, इत्यत्र स्पर्शग्रहणम्, 'शब्दवैरकलहाभ्रकण्व-मेघेभ्यः करणे' इत्यत्र ध्वनिरूपशब्दस्य, 'स्नेहे तैलच्' इत्यत्र स्नेहस्य, परिमाणा-न्तस्यासंज्ञाशाणयोः इत्यत्र परिमाणग्रहणं, संख्यायाः अतिशदन्तायाः कन् इत्यत्र संख्याशब्दस्य, 'पृथग्विनानानाभि'रित्यत्र पृथक्शब्दस्य, तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ इत्यत्र संयोगस्य कालविभागे चानहोरात्राणाम् इत्यत्र विभागस्य, परश्च इत्यत्र पर-त्वस्य, पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि इत्यत्र परत्वापरत्वस्य, बह्वादिभ्यश्च इत्यत्र बह्वादिगणे गुरुत्वस्य, द्रवमूर्तिस्पर्शयोः श्यः इत्यत्र द्रवत्वस्य, 'सुखादिभ्यः कर्तृवे-दनायाम्' इत्यत्र सुखस्य, दुःखात्प्रातिलोम्ये इत्यत्र दुःखस्य, 'धातोः कर्मणः समा-नकर्तृकादिच्छायां वा, इत्यत्रेच्छायाः, क्रुधद्रुहेर्ष्याऽसूयार्थानां यं प्रतिकोपः, इत्यत्र कोपस्य, धर्मं चरति, इत्यत्र धर्मस्य, अधर्माच्चेति वक्तव्यम्' इत्यत्र अधर्मस्य, 'भासनोपसंभाषाज्ञानयत्नविमत्युपमन्त्रणेषु वदः' इत्यत्र ज्ञानयत्नयोः, संस्कृतम् इत्यत्र संस्कारस्य च ग्रहणं कृतं वर्तते।

शास्त्रीयगुणस्तु 'अदेङ् गुणः' इत्यत्र संकेतितः अकारादिः गुणः। कुत्रचित्तु विशेषणतया भासमानधर्मो गुणपदेन गृह्यते। तद्यथा - 'तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन' इत्यादौ। एवमेव गुणकृतसादृश्ये गुणशब्दः बाह्यप्रयत्नार्थः, इत्येव गुणस्वरूपं विवेचितमस्ति।

आचार्यभर्तृहरिमतेन गुणपदार्थानुशीलनम्

आचार्यभर्तृहरिमतेन वाक्यपदीयानुसारं यदा गुणपदार्थस्वरूपं विवेचयाम-स्तर्हि तत्र पदकाण्डे गुणसमुद्देशे एवमाह भर्तृहरिः - संसर्गि भेदकं यद्यत् सव्यापारं

[33] म.भा.पस्प.।

प्रतीयते। गुणत्वं परतन्त्रत्वात् तस्य शास्त्र उदाहृतम्।।[34] इति।

अस्यार्थोऽयमस्ति यत् न्यायवैशेषिकदर्शनानुसारं यद् यद् रूपरसादिकं गुणत्वेन तथा सामान्यादिकं धर्मिपरतन्त्रत्वेन प्रसिद्धं तत् तत् संसर्गि अर्थात् स्वस्य आधारेण सह संसृष्टम्, भेदकम् = शुक्लादिगुणवत् गौरयं नाश्वः इत्येवं वा स्वाधारस्य द्रव्यान्तराद् व्यवच्छेदकम्, सव्यापारम् = व्यावर्तकत्वरूपव्यापारविशिष्टम्, प्रतीयते = प्रतीयमानमस्ति तत् तस्य एव परतन्त्रत्वात् = धर्मिपराधीनत्वात् शास्त्रे समर्थसूत्रभाष्ये[35] गुणत्वमुदाहृतम्[36] इति।

कथनस्य तात्पर्यमिदमस्ति यत् भर्तृहरिमते गुणः संसर्गी वर्तते, अर्थात् गुणः स्वाश्रये समवेतः सन् विश्रान्तो भवति। अस्मादेव कारणात् सः व्यावर्तकत्वरूपव्यापारविशिष्टो गुणः स्वाश्रयम् अन्येभ्यः पृथक्करोति। धर्मिपराधीनत्वात् पराश्रितत्वाद् वा अयं गुणः परतन्त्रो भवति। अतः परतन्त्रतया भेदकतया च यस्य बोधो भवति सः गुणः। अत एव हेलाराजोऽपि परतन्त्रत्वं भेदकत्वञ्च मुख्यं गुणलक्षणमस्ति इति सम्यगाह।[37]

अग्रे पुनः भर्तृहरिः गुणविषये एवमाह यत् किमपि वस्तु आत्मना एव आत्मानं परिच्छेत्तुं न शक्नोति। वस्तु स्वगुणमादाय एव स्वप्रकर्षस्य बोधं कारयति। तथाहि - 'द्रव्यस्याव्यपदेशस्य य उपादीयते गुणः। भेदको व्यपदेशाय तत्प्रकर्षोऽभिधी-

---

34 वा.प. पदकाण्डे गुणसमुद्देशकारिका-1

35 समानाधिकरणेषूपसंख्यानमसमर्थत्वात्। समानाधिकरणेषु उपसंख्यानं कर्तव्यम् वीरः पुरुषो वीरपुरुषः। किं पुनः कारणं न सिद्ध्यति ? असमर्थत्वात्। कथमसामर्थ्यम् द्रव्यं पदार्थः इति चेत्। यदि द्रव्यं पदार्थो, न भवति तदा सामर्थ्यम्। भेदाऽभावात्। अथ हि गुणः पदार्थः, भवति तदा सामर्थ्यम्, अन्यो हि वीरत्वं गुणः, अन्यो हि पुरुषत्वम्। नान्यत्वमस्तीति इयता सामर्थ्यं भवति। अन्यो हि देवदत्तो गोभ्यश्चाश्वभ्यश्च। न चैतस्यैतावता सामर्थ्यं भवति को वा विशेषो यद् गुणे पदार्थे सामर्थ्यं स्यात् द्रव्ये च न स्यात्। एष विशेषः। एकं तयोरधिकरणम्। अन्यश्च वीरत्वं गुणः, अन्यः पुरुषत्वम्। द्रव्यपदार्थिकस्यापि तर्हि गुणभेदात् सामर्थ्यं भविष्यति इति महाभाष्यम्। समर्थः पदविधिः 2/1/1।।

36 द्रव्यं पदार्थः इति पक्षः स्वीक्रियते चेत् समानाधिकरणेषु 'वीरपुरुषः' इत्यादिषु समासस्योपसंख्यानं कर्तव्यम् असमर्थत्वात्। अनेकस्यार्थस्यैकार्थभवनं हि एकार्थीभाव-रूपं सामर्थ्यमिति। इत्येवं 'वीरपुरुषः' इत्यादिषु समानाधिकरणसमासेषु वीरपुरुषपदार्थयोर्द्रव्ययोरत्यन्तमभेदात्। सामर्थ्याभावे सति द्रव्यपदार्थपक्षे समासाभावे चोदिते=आशङ्कते। अथ हि गुणः पदार्थो भवति तदा सामर्थ्यम्। अन्यो हि वीरत्वं गुणः, अन्यो हि पुरुषत्वम् इति द्रव्ये समवायाज्जातेरपि पारतन्त्र्यात् गुणत्वमुक्तम्। तथा च द्रव्यस्यैकत्वेऽपि तदाश्रितयो-र्वीरत्वपुरुषत्वयोर्गुणयोर्भेदात् तन्निमित्तकं तत्र भेदमादाय तत्र प्रतीयमानं सामर्थ्यमिति तत्र समानाधिकरणसमासः सिद्धः। इति अम्बाकर्त्रीव्याख्या, वा.प. पदकाण्डे गुणसमुद्देश कारिका-1

37 'संसर्गि भेदकं यद्यत्' इति हि लक्षणम्। 'भेदकत्वं चात्र मुख्यं लक्षणम्' इति हेलाराजः, वा.प. पदकाण्डे गुणसमुद्देशे कारिका-2

यते।।'[38] इति।

अस्यायमर्थो यत् अव्यपदेशस्य = व्यपदेशानर्हस्य निरूपयितुमशक्यस्य द्रव्यस्य व्यपदेशाय द्रव्यस्य अन्यस्माद् व्यवच्छेदको यो गुणः उपादीयते = शब्देन गृह्यते, तत्प्रकर्षः तत्कृतो द्रव्यस्य प्रकर्षः प्रत्ययेन तरप्तमबादिना अभिधीयते। यथा - शुक्लतरः पटः, अत्र शुक्लगुणनिमित्तो द्रव्यप्रकर्षः। संसर्गिभिः गुणादिभिरेव विशेष्यमाणं द्रव्यं सजातीयात् द्रव्यात् प्रकृष्यते। इति अम्बाकर्त्री व्याख्यायां सुस्पष्टम्। अत एव च ब्रह्मकाण्डेऽपि दृश्यते - गुणप्रकर्षहेतुर्यः स्वातन्त्र्येणोपदिश्यते। तस्याश्रितगुणादेव प्रकृष्टत्वं प्रतीयते।।[39] इति।

'शुक्लतरः पटः' इत्यत्र स्वतः पटरूपद्रव्यस्य न प्रकर्षोपकर्षौ किन्तु गुणप्रकर्षादेव, इति यो द्रव्यप्रकर्षहेतुः गुणः शुक्लादिः स्वातन्त्र्येण उपदिश्यते तस्य शुक्लरूपस्य अश्रितात् संसर्गिभेदकत्वेन विवक्षितात् गुणात् शुक्लत्वरूपधर्मात् एव प्रकृष्टत्वं प्रतीयते। यथा - निरुपाधिनः निर्गुणस्य द्रव्यस्य प्रकर्षो नास्ति तथा द्रव्यान्निष्कृष्टस्य स्वतन्त्रस्य गुणस्यापि शुक्लतरं रूपतरं रूपमिति स्वतः प्रकर्षो नास्ति अपितु तदवस्थायां द्रव्यायमाणत्वात् गुणस्य संसर्गिधर्मान्तरनिमित्त एव प्रकर्षः। अत एवोक्तं भर्तृहरिणा - सर्वस्यैव प्रधानस्य न विना भेदहेतुना। प्रकर्षो विद्यते नापि शब्दस्योपैति वाच्यताम्।।[40] इति।

अर्थात् प्रधानस्य द्रव्यस्य गुणस्य वा सर्वस्य एव तरबादिप्रत्ययोत्पत्तिहेतुभूतः प्रकर्षः भेदहेतुना व्यवच्छेदकस्वगतविशेषेण विना न विद्यते, नापि स्वगतः सर्वो विशेषः शब्दस्य वाच्यतामुपैति। शब्दस्य क्वचिदेव स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूते विशेषे एव वाच्यतामुपैति। यथा - शुक्लशब्देन शुक्लत्वगुणरूप एव शुक्लद्रव्यगतो विशेषोऽभिधीयते। गुणाभिधायिना तु शुक्लशब्देन स्वगतो जातिरूप एव विशेषोऽभिधीयते। न तु भासुरत्वादिरूपाः विशेषाः अभिधीयन्ते।

अत्रैव विचार्यते यत् प्रत्येकार्थस्य कृते प्रत्येकशब्दाभिनिवेशः अर्थात् प्रत्यर्थं शब्दाभिनिवेशः इति भाष्यसिद्धान्तमाश्रित्य भासुरत्वादयोऽर्थाः न शुक्लशब्दस्य वाच्याः, तेषां तत्प्रवृत्तिनिमित्तत्वाभावात्। अतः शुक्लतरं रूपमित्यत्र शब्दावाच्यप्रतीयमानभासुरत्वादिधर्मनिमित्तके प्रकर्षे अनेकोपाधिसन्निधानात् किमुपाधिकृतोऽयं प्रकर्षः इति अनियमः स्यात् एतदर्थमाह भर्तृहरिः - विद्यमानाः प्रधानेषु न सर्वे भेदहेतवः। विशेषशब्दैरुच्यन्ते व्यावृत्तार्थाभिधायिभिः।।[41] इति।

---

38 वा.प.पदकाण्डे गुणसमुद्देशे कारिका-2

39 वा.प. ब्रह्मकाण्डे कारिका-64

40 वा.प. पदकाण्डे गुणसमुद्देशे कारिका-3

41 वा.प. पदकाण्डे गुणसमुद्देशे कारिका-4

अस्यायमभिप्रायः यत् प्रधानेषु = प्राधान्येन शब्दवाच्येषु ये अनेके भेद-हेतवः = व्यवच्छेदहेतवः सन्ति ते सर्वे व्यावृत्तार्थाभिः शब्दैः तत एव हेतोः नोच्यते। तेषां सर्वेषां विशेषाणां प्रतिनियतव्यावृत्तिविशिष्टार्थाभिधायिभिः शब्दैः असम्बन्धात्। तस्माद् अभिधीयमानधर्मसमानाधिकरणप्रतीयमानधर्मनिमित्तक एव गुणस्य प्रकर्षः इति शुक्लतरं रूपमित्यत्र अभिधीयमानशुक्लत्वजातिसमानाधिकरणतदविनाभूत-प्रतीयमानभासुरत्वादिधर्मनिमित्तक एव प्रकर्ष इति नानियमः।

न शुक्लादिशब्दाः भासुरत्वादिषु संकेतिता इति न ते तदर्थाभिधायिनः। तस्मात् शुक्लतरं रूपमस्येत्यादौ शब्दानुपात्तप्रतीयमानभास्वरत्वादिधर्महेतुक एव प्रकर्षः इति प्रयोगप्रामाण्यान्निश्चीयताम्। 'शुक्लतरः पटः' इत्यादौ तु शब्दोपात्तशु-क्लादिगुणहेतुको द्रव्ये प्रकर्षः। शुक्ले गुणे त्वनुपात्तभासुरत्वादिगुणहेतुकः प्रकर्षः इति परम्परा इति अम्बाकर्त्रीव्याख्यायां स्पष्टम्।[42]

व्यपदेशानर्हस्य द्रव्यस्य संसर्गिधर्मरूपगुणरूपनिमित्तापेक्षा स्वतः व्यपदेशप्र-वृत्तिः, तत्रैव व्यपदेशे संसर्गिणः सामर्थ्योपक्षयात् प्रकर्षेऽपि कथं तस्य संसर्गिधर्मस्य व्यापारः कल्प्यते इत्याशंक्य भर्तृहरिणा स्वयमेवोक्तं यत् - वस्तूपलक्षणे तत्र विशेषो व्यापृतो यदि। प्रकर्षो नियमाऽभावात् स्यादविज्ञातहेतुकः।।[43] इति।

अर्थात् 'शुक्लतरः पटः' इत्यादौ वस्तूपलक्षणे एव यदि विशेषः शुक्लत्वादिः गुणो व्यापृतः न तु प्रकर्षेऽपि, तदा प्रकर्षस्य नियामकाभावात् प्रकर्षोऽविज्ञात-हेतुकः स्यात् (अयमेव विशेषोऽत्र प्रकर्षहेतुरिति विशेषणज्ञानं निश्चयात्मकं न स्यात्) तथा च गरिमादिगुणेनापि 'शुक्लतरः पटः' इति प्रतीयेत।

तात्पर्यमिदमस्ति यत् द्रव्यस्य सजातीयात् व्यवच्छेदे उपाधिभूतस्य विशे-षस्य शुक्लत्वादेः वस्तुनिर्देशमात्रचरितार्थत्वे वस्तुव्यपदेशमात्र एव हेतुत्वे यः शुक्लो दृष्टः स गरिमादिना प्रकृष्टः शुक्लतरः प्रतीयेत। तथा च शुक्लत्वादिरूपो नियतो विशेषः प्रकर्षस्य निमित्तं न ज्ञायेत। परन्तु नैवं प्रसिद्धिरस्ति। शुक्लगुणनिमित्तस्यैव प्रकर्षस्य शुक्लतरः पट इति वाक्यादवबोधो भवति। तथा च शुक्लतरः पटः इति प्रतीतिमनुसृत्य व्यपदेशहेतोरेव विशेषस्य प्रकर्षेऽपि व्यापारः कल्पयितुं न्याय्यः इति अम्बाकर्त्री व्याख्या।[44]

इदमिदानीं विचार्यते यत् प्रकर्षद्योतकोऽयं तरप्प्रत्ययः निकृष्टे प्रकर्षाभावात् निकृष्टतरः इति तथा प्रकृष्टे च पुनः प्रकर्षान्तराभावात् प्रकृष्टतरः इति निकृष्टप्र-कृष्टाभ्यां शब्दाभ्यां कथं स्यात् ? एतदेव समाधातुमाह वाक्यपदीयकारः - सर्वं च

42 अम्बाकर्त्री व्याख्या, वा.प.पदकाण्डे गुणसमुद्देशे कारिका-4

43 वा.प. पदकाण्डे गुणसमुद्देशे कारिका-5

44 अम्बाकर्त्री व्याख्या, वा.प. पदकाण्डे गुणसमुद्देशे कारिका-5

सर्वतोऽवश्यं नियमेन प्रकृष्यते। संसर्गिणा निमित्तेन निकृष्टेनाधिकेन वा।।[45] इति।

अस्यायमभिप्रायोऽस्ति यत् सर्वं च निकृष्टं प्रकृष्टं वा वस्तु संसर्गिणा निकृष्टेन गुणेन अथवा अधिकेन = प्रकृष्टेन गुणेन निमित्तेन सर्वतः = निकृष्टात् प्रकृष्टात् वा अवश्यं नियमेन प्रकृष्यते। तद्यथा जात्यादौ द्वौ निकृष्टौ, तयोरेको नीचकर्मणापि निकृष्ट इति नीचकर्मनिमित्तकः तत्र निकृष्टे प्रकर्षः। एवमेव जात्या द्वौ प्रकृष्टौ तयोरेकः शोभनेन कर्मणापि प्रकृष्ट इति शोभनकर्मनिमित्तकस्तत्र प्रकृष्टे प्रकर्षः इति यथायथं निकृष्टतरः प्रकृष्टतरः इति प्रयोगोपपत्तिः भवतीति तात्पर्यम्। एवमेव शुक्लतरं रूपमित्यादौ गुणप्राधान्येऽपि भासुरत्वादिरूपापरधर्मनिमित्तकं प्रकर्षं सूचयति इति भावः।

अत्र पुनः प्रश्नोऽयं जागर्ति यत् इह शाब्दे व्यवहारे लोके गोतरा इति प्रयोगो दृश्यते। तत्र जातेः सजातीयात् व्यवच्छेदकत्वाभावात् न जातिनिमित्तकः प्रकर्षः सम्भवति। न च तदतिरिक्तं निमित्तमत्र 'गोतरा' इत्यत्र गोनिष्ठे प्रकर्षे सव्यापारं प्रतीयते, अतो निर्निमित्तोऽत्र प्रकर्षो द्रव्यस्य वाच्यः। एवं 'शुक्लतरः पटः' इत्यादावपि द्रव्यस्य प्रकर्षो निर्निमित्त एव भविष्यति। अतः गुणहेतुकः प्रकर्षः कथं समुद्भोष्यते ? एतदर्थमाह भर्तृहरिः - नोपेक्षते निमित्तं च प्रकर्षे व्यापृतं यदि। द्रव्यस्य स्यादुपादानं प्रकर्षं तु अनर्थकम्।।[46] इति।

अस्य तात्पर्यमिदमस्ति यत् यदि अपचयोपचयसम्बन्धायोग्यं परिनिष्ठितरूपं द्रव्यं स्वनिमित्तकं प्रकर्षं नानुभवति, यदि च स्वोपाधिरूपं स्वप्रकर्षे व्यापृतं निमित्तमपि न अङ्गीकरोति तदा प्रकर्षं प्रति प्रकर्षबोधनाय 'शुक्लतर' इति रूपेण द्रव्यस्य = द्रव्यबोधकशब्दस्य उपादानमनर्थकं स्यात्। अतः प्रयोगप्रामाण्यात् यथोपपत्तिप्रकर्षः अनुविधेयः इति व्यपदेशहेतुस्वसंसर्गिवाच्यधर्मनिमित्तक एव सर्वत्र गुणोपाधिकद्रव्याभिधाने 'शुक्लतरः पटः' इत्यादौ व्यवस्थाप्यः।

अर्थात् 'गोतरा' इत्यादौ जात्युपाधिकद्रव्याभिधाने तु जातेः व्यपदेशहेतुभूतायाः प्रकर्षहेतुत्वासम्भवे यथा शुक्लतरं रूपमित्यत्र व्यपदेशहेतुना सह एकार्थसमवेतप्रतीयमानभासुरत्वादिधर्मनिमित्तकः प्रकर्षो व्यवस्थाप्यते, तथा 'गोतरा' इत्यत्रापि व्यपदेशहेतुना सह एकार्थसमवेतात् प्रतीयमानात् वाहदोहदादेर्धर्मात् प्रकर्षो व्यवस्थाप्यः, अत एव प्रकृष्टवाहदोहो गौः 'गोतरा' इति भण्यते इति अम्बाकर्त्री व्याख्यायां सुस्पष्टम्।[47]

'शुक्लतरः पटः' इत्यत्र गुणप्रकर्षस्य द्रव्यप्रकर्षं प्रति निमित्तत्वं ज्ञापकत्व-

[45] वा.प. पदकाण्डे गुणसमुद्देशे कारिका-6

[46] वा.प. पदकाण्डे गुणसमुद्देशे कारिका-7

[47] अम्बाकर्त्री व्याख्या, वा.प. पदकाण्डे गुणसमुद्देशे कारिका-7

मेव न तु कारकत्वम् अनेन हि गुणप्रकर्षस्यैव भानमिति प्रतीयते, अत आह - सव्यापारो गुणस्तस्मात् स्वप्रकर्षनिबन्धनः । द्रव्यात्मानं भिनत्त्येव स्वप्रकर्षं निवेशयन् ।।[48] इति ।

स्वप्रकर्षनिबन्धनो हि गुणो द्रव्यप्रकर्षे सव्यापारः, अत एव स्वप्रकर्षं द्रव्ये निवेशयन् द्रव्यात्मानं भिनत्ति=व्यवच्छिनत्ति । द्रव्यस्य स्वतो निरतिशयत्वात् जातेश्च सजातीयव्यवच्छेदकत्वेन तत्कृतप्रकर्षस्यापि तत्राभावात् स्वनिमित्तभूतप्रकर्षाधानोद्युक्तः संसर्गिलक्षणो गुणः स्वगतप्रकर्षहेतुकेन द्रव्यप्रकर्षेण विशेषेण द्रव्यस्य आश्रयान्तराद् व्यवच्छेदं विदधाति इति भावः ।

गुणस्य प्रकर्षेण द्रव्यं प्रकृष्टं कथं भवति ? इति जिज्ञासायामाह भर्तृहरिः - 'अरूपं पररूपेण द्रव्यमाख्यायते यथा । अप्रकर्षं प्रकर्षेण गुणस्याविश्यते तथा ।।'[49] इति ।

रूप्यते व्यपदिश्यते द्रव्यं येन तद् रूपम् उपाधिः जातिगुणादिकम्, तद्रहितम् अरूपं द्रव्यस्वरूपं यथा पररूपेण परस्य जात्यादेः रूपेण स्वरूपेण यथा आख्यायते तथा स्वतोऽप्रकर्षं द्रव्यं कर्मभूतम्, गुणस्य प्रकर्षेण कर्त्रा आविश्यते प्रविश्यते इति भावः ।

जात्यादिरूपस्य उपाधेः तदुपहितस्य द्रव्यस्य च यो विवेकः = पृथग्भावः भेदो वा तस्य तयोस्तादात्म्यप्रत्ययेन दुरवधारत्वात् तयोः संकरः = नीरक्षीरयोरिव सम्मेलनम् इति शाब्दे व्यवहारे गुणप्रकर्षो गुणिनि = गुणतादात्म्यापन्ने द्रव्ये विश्राम्यति । अतः गुणस्य प्रकर्षेण द्रव्यं प्रकृष्टमिति व्यवहारो भवति ।

शब्दसंकेत

1. पा.सू. - पाणिनीयसूत्रम्
2. म.भा. - महाभाष्यम्
3. वा.प. - वाक्यपदीयम्

[48] वा.प. पदकाण्डे गुणसमुद्देशे कारिका-9
[49] वा.प. पदकाण्डे गुणसमुद्देशे कारिका-9

सन्दर्भग्रन्थसूची

1. अष्टाध्यायी, पुष्पा दीक्षित, दीन दयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली
2. पाणिनिविरचिता अष्टाध्यायी, परिष्कर्ता श्री गोपालदत्तशास्त्री, सम्पा. श्री गोपालदत्तपाण्डेयः, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन ग्रन्थमाला, २०१७
3. वाक्यपदीयम्, भर्तृहरि, अनुसन्धान केन्द्र, सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्व-विद्यालय, वाराणसी, १९८८
4. वाक्यपदीयम्, भर्तृहरि, रघुनाथशर्मप्रणीत-अम्बाकर्त्रीव्याख्यासहितम्, वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी, १९६३
5. श्रीमन्महर्षिपतञ्जलिविनिर्मितं पाणिनीयव्याकरणमहाभाष्यम्, श्रीमन्नागेश-भट्टविरचित भाष्यप्रदीपोद्योतोद्भासितेन, 1-6 खण्डः, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, १९८७

महामहोपाध्याय आचार्यरेवाप्रसाद का अलं ब्रह्मवाद सिद्धान्त

भगवत्शरण शुक्ल

यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥[1]

इस गीता वचन के अनुसार विश्व के किसी भी क्षेत्र में अलौकिक कर्म करने वाले जो भी विशिष्ट जन हैं उनमें भगवान् श्रीमन्नारायण का विशिष्ट तेज अवश्य रहता है। इसी से उसके कार्य चमत्कारक होते हैं। इस कारण वे सभी महानुभाव देवतुल्य है तद्वत् सम्माननीय हैं।

महामहोपाध्याय आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी जी ने भी उस परमात्मा के उत्कृष्ट तेज से अलङ्कृत होने के कारण अपनी विलक्षण प्रतिभा के द्वारा कठिनतम कार्यों को सिद्ध किया। यही कारण है कि जिस अध्ययन के क्षेत्र में अपनी प्रातिभ दृष्टि का प्रयोग आप करते हैं उसमें लोकोत्तरता प्रस्फुटित होने लगती है।

साहित्यशास्त्र समस्त शास्त्रों का प्रायोगिक शास्त्र है। इसे ज्ञात करने के लिए व्याकरणशास्त्र, न्यायशास्त्र, मीमांसाशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा विविधकलाओं का सैद्धान्तिक ज्ञान रहेगा तभी इस शास्त्र में सम्यक् प्रवेश सम्भव होगा। अन्यथा शब्दार्थ का ज्ञान तो हो सकता है पर तात्त्विक मर्म का ज्ञान सम्भव नहीं है इनके ज्ञान के बिना।

आचार्य रेवा प्रसाद जी ने इन सभी शास्त्रों का ज्ञान गुरु परम्परा से अपने आचार्यों से प्राप्त किया। अपने प्रतिभा के प्रकाश से काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का अ-ध्ययन करके तर्कपूर्ण नूतन काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की स्थापना की। इसी उपक्रम में आपकी नूतन विचारधारा है अलं ब्रह्म की। जिसकी चर्चा प्रायः आपके सभी काव्यशास्त्रीय व्याख्यानों में होती है। आपने तद्विषयक सम्पूर्ण विचारों की सम्यक् स्थापना हेतु अलं ब्रह्म शीर्षक पर महत्त्वपूर्ण रचना की तथा उससे सम्बद्ध अन्य काव्यशास्त्रीय नाट्यशास्त्रीय निबन्धों का विस्तार करके जिस ग्रन्थ का प्रकाशन का उसका नाम भी अलंब्रह्म यह स्थापित किया।

अलं ब्रह्म इस ग्रन्थ में आपके सत्ताईस शोध निबन्ध निबद्ध हैं। जिनका परिचय इस प्रकार है -

---

[1] गी. 10/41

1. अलंब्रह्म
2. किं तावत् काव्यतत्त्वम्
3. काव्ये धर्मधर्मिभावः
4. काव्यनिष्पत्तिप्रक्रिया
5. किमिदं शब्दत्वं नाम
6. साहित्यतत्त्वविमर्शः
7. साहित्यदर्शने तात्पर्यरूपम्
8. संस्कृतकाव्यशास्त्रे ध्वनिसंज्ञा
9. रसस्य शाब्दत्वम्
10. रसनिष्पत्ति प्रक्रियाया-मुत्पत्तिवादः
11. भुक्तिवादे स्थापि भावाश्रयः
12. कवि रसं स्वदे न वा
13. ध्वनिसम्प्रदाये केचन प्रश्नाः
14. व्यञ्जनाविषये राजशेखरः
15. भोजदेवस्य ध्वनिविचारः
16. नैषधस्य (22/152)
17. लक्षणायाः षड्विधत्वं हेत्व-लङ्कारश्च
18. अलङ्कारसर्वस्वे संशोधनम्
19. जगन्नाथकाव्यलक्षणे दंशः
20. रसगङ्गाधरे सन्दर्भशुद्धिः
21. पण्डितराजकृता उत्प्रेक्षा-भेदाः
22. भारतीया व्याख्या पद्धतिः

इत्येवं द्वाविंशतिः निबन्धाः काव्यखण्डे विद्यन्ते। नाट्यखण्डे च पञ्च सन्ति। तद्यथा -

23. भरतनाट्यशास्त्रादिसम्पा-दनविधिः पाठसमीक्षा च
24. कालिदासरूपकेषु वस्तु-विभागः
25. अवस्थार्थप्रकृतिसन्धिभेदाः
26. नाट्यप्रयोगे कुतपविन्यासाः
27. संस्कृतकाव्यशास्त्रं ब्रह्मविद्या

शून्य के मङ्गलाचरण के रूप में प्रथम निबन्ध इस ग्रन्थ का अलं ब्रह्म है। इसमें अलं शब्द का क्या तात्पर्य है? इस पर आपका विशिष्ट चिन्तन है। सामान्यतया अलं शब्द स्वरादिगण पठित होने से अव्यय प्रातिपदिक है जो अमरकोष[2] के "अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्" इस वचन के अनुसार तथा "अलं भूषणपर्याप्तिवारणेषु निरर्थके। अलं शक्तौ च निर्दिष्टम्" इस विश्वकोष[3] के वचनानुसार भूषण पर्याप्ति शक्ति वारण (निषेध) निरर्थक इतने अर्थों में निर्दिष्ट है। अलं शब्द ब्रह्म का भी वाचक है, कोष ग्रन्थों में इसका कहीं भी उल्लेख नहीं है। आचार्य द्विवेदी जी सर्वप्रथम ब्रह्मवाचक अलं शब्द का अन्वेषण करके तदर्थ में उसकी

[2] अमर. 3/4/252
[3] अमर. रामाश्रमी टीका 3/4/252

सम्यक् स्थापना की। आपके अनुसार निर्णय सागर प्रेस मुम्बई से सन् 1936 में प्रकाशित साहित्य दर्पणम् इस ग्रन्थ के परिशिष्ट में अग्निपुराण का एक वचन निर्दिष्ट है जिसमें 'अलं' शब्द ब्रह्मपर्यायत्वेन प्रयुक्त है। तत् पद्य इस प्रकार है -

अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमलं विभुम्।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्॥[4]

वर्तमान में प्रकाशित अग्निपुराण के सभी संस्करणों में "सनातनमजं विभुम्" ऐसा ही पाठ है न कि अलं विभुम्। निर्णय सागर की पूर्व विश्वसनीयता प्रामाणिक मानी जाय जैसा की सभी लोग प्रायः मानते हैं तो अलं शब्द को ब्रह्मार्थक माना जा सकता है। आपने अपने निबन्ध में अजम् अलं दोनों पाठों का विवेचन किया है।

ताण्ड्य ब्राह्मण में 'अलम्' शब्द का प्रयोग 'अलम्मः' पद के निर्वचन के प्रसङ्ग में इस प्रकार आया है - "तम् (ऋषयः) अब्रुवन् को न्वयं कस्मा अलम् इत्यलन्नु वै मह्यम् इति (सामाब्रवीत्) तदलम्मस्यालम्मत्वम्।"[5]

इस ब्राह्मण ग्रन्थ में प्रयुक्त अलं शब्द पर्याप्ति आदि अर्थ का बोधक है। इसमें प्रमाण कस्मै मह्यम् यह चतुर्थी विभक्यन्त प्रयोग जह्यां अलम् पद के योग में नमः स्वस्ति स्वाहा स्वधाऽलं वषड् योगाच्च।

इस सूत्र के द्वारा चतुर्थी विभक्ति का विधान हुआ है। जिसका विधान पर्याप्त्यर्थक शब्द है प्रभुः समर्थः शक्तः इत्यादि। इसके आधार पर प्रभु अर्थ बोधक अलम् शब्द के स्वीकार करने पर वह ब्रह्म वाचक भी माना जा सकता है। फलतः ताण्ड्य ब्राह्मण प्रयुक्त भी अलम् शब्द भी ब्रह्म का वाचक माना जा सकता है। "विश्वं विष्णुर्वषट्कारो भूतभव्यभवत्प्रभुः।"[6] इस विष्णुसहस्रनाम में प्रभु शब्द विष्णुवाचक है। तथैव ब्रह्म पदेन भी विष्णु का ग्रहण होता है - "ब्रह्मण्यो ब्रह्मकृत ब्रह्मा ब्रह्म ब्रह्मविवर्धनः"[7]।

आचार्य द्विवेदी जी ने इस निबन्ध के प्रारम्भ में ही "अहं ब्रह्म" इस महावाक्य के समान "अलं ब्रह्म" का अवतरण दिया है। इस स्थल पर आपने अहं शब्द से अकारादि हकारान्त सम्पूर्ण वर्ण राशि का ग्रहणकर शब्द ब्रह्म की अवधारणा जैसे करते हैं उसी के समान अल् शब्द से भी माहेश्वर सूत्र बोध्य वर्ण समाम्नाय में अ इ उ ण् के 'अ' से हल् के ल् तक सम्पूर्ण वर्ण राशि का ग्रहण करके उससे शब्द ब्रह्म

4 अग्नि. 339/1
5 तांड्य. 13/10/8
6 वि.स. श्लोक 1
7 वि.स. स्तोत्र श्लोक सं. 71

की अवधारण करते हैं। इससे अहं तथा अलं की पर्यायता सिद्ध होती है। जिसको सिद्ध करने का आपके द्वारा सफल प्रयास किया गया है।

आपने भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से भी वैदिक प्रयोग अरम् से अलम् सिद्ध किया है - 'अलम्' इत्यन्ययपदं संहितास्वारज्यकेषु सुलभमेव। तस्यैवास्य विकासः अवम् इति भाषाविज्ञान वित्षु विदित एष पन्थाः। अस्य स एवार्थो यो हि 'अटम्' इत्यस्य। पर्याप्तिरेष्वन्यतमोऽर्थः।[8]"

अलम् शब्द व्याकरण शास्त्र के अनुसार यद्यपि रूढ़ रूप में स्वरादिगण में पठित होने के कारण अव्यय पद है तथापि 'सर्वं नाम धातुजमाह' इस सिद्धान्तानुसार भ्वादिगण पठित अव – पर्याप्ति भूषण वारणेषु धातु से अवति समर्थो भवति, भूषयति प्रभवति वारयति इति 'अवम्' इस विग्रह में औणादिक अम् प्रत्यय का बाहुलकात् विधान करने पर तथा अम् प्रत्ययान्त अवम् की कृन्मेजन्तः सूत्र से अव्यय संज्ञा करने पर अलं शब्द व्युत्पत्ति पक्ष में भी सिद्ध होता है। यद्यपि उणादि प्रकरण में (पञ्चपादी उणादिप्रकरण में) अम् प्रत्यय विधायक सूत्र नहीं है। रामाश्रमी टीकाकार ने भी अमरकोष के इस स्थल 3/4/252 में केवल बाहुलकात् अम् प्रत्यय इतने का ही उल्लेख किया है तद् तद् विधायक सूत्र का उल्लेख नहीं किया। तथापि "उणादयो बहुलम्" इस के द्वारा ही बाहुलवात् अव धातु एवं अम प्रत्यय (अकारन्त) की परिकल्पना करके घटक अनुनासिक अकार की इत् संज्ञा लोप अव्यय संज्ञा एवं स्वादि कार्य करने पर अवम् शब्द निष्पन्न होता है। आचार्य द्विवेदी अलङ्कार परम्परा के संवाहक आचार्य हैं। अलंकारवादी आचार्य महिमभट्ट के सिद्धान्त के पोषक हैं। आप ध्वनिवादी परम्परा का पूर्णतया निराकरण इन शब्दों में करते हैं - "यो हि साम्राज्यसिंहासनात् प्रच्यावितस्तस्य कीदृशो वधः पातोऽसुलभः। सैवेयं कथा अलङ्कारपरिभाषायाः कटककुण्डलादितुल्यतां प्रापित एष प्रमुखतमं रसरूपमर्थं सर्वथैव परित्यज्य। आग्रहग्राहिलास्तिष्ठन्त्यत्र ध्वनि मार्गिषः अलङ्कारत्वं रसत्वं चान्धकारप्रकाशयोरिव विप्रतिषिद्धमेव सर्वथेति।"[9]

आचार्य द्विवेदी अलङ्कार शब्द को अलं का पर्याय मानते हैं - "ननु ब्रूमः अलमित्येवालङ्कारः इति आगतमेवं ब्रह्मार्थकत्वमेवालं शब्दस्य।"[10]

अलङ्कार शब्द से जब अलं ब्रह्म का तात्पर्य गृहीत होता है तो अलं शब्द से सम्बद्ध यह कार शब्द का रहस्य यहाँ क्या है! क्या यह कार प्रत्यय है अथवा कृ धातु से भाव या करण घञन्त कार शब्द है। कार प्रत्यय हो नहीं सकता क्योंकि

8 अ.ब्र. पृ. 2
9 अ.ब्र. पृ. 3
10 अ.ब्र. पृ. 3

कार प्रत्यय वर्ण पदवाच्य अक्षर अ, क आदि से ही "वर्णात्कारः" इस वार्त्तिक से विहित होता है। यदि घञन्त कार शब्द ग्रहण किया जाय तो अलङ्कार शब्द ब्रह्म प्रतिपादक नहीं होगा। यद्यपि प्रयोग में एवकार, वषट्कार, ओङ्कार शब्दों का प्रयोग एव वषट् ओम् के बोधक के रूप में होता है। तथापि तत्प्रयोजक सूत्रादि विधि वाक्य शास्त्रगोचर नहीं है। अतः इसका समाधान क्या होगा यह जटिल प्रश्न है।

शाब्दिक सिद्धान्त है "प्रयुक्तानामन्वाख्यानं नाप्रयुक्तानाम्" अतः शास्त्रों में प्रयुक्त एवकार वषट्कार ओङ्कार शब्दों में 'कार' शब्द योजना का उपाय खोजना पड़ेगा। लघुशब्देन्दुशेखर के "कारप्रत्ययोऽपि न बाहुलकात्" इस ग्रन्थ के विवेचन के प्रसङ्ग में तत् टीकाकार आचार्य श्री विश्वनाथ दण्डि भट्ट ने अपनी अभिनव चन्द्रिका टीका में लिखा है - 'न चाल्लपोऽनः' इति सूत्रोदाहृतेऽन्कारः अस्कार इत्यादौ कार प्रत्ययानुपत्तिरिति वाच्यम्, 'अनिनस्मन् ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन' इति परिभाषया अनादिषु वर्णबोधकत्वातिदेशात्। अन्ये तु एवकार, वषट्कार इत्यादाविव कारप्रत्ययादन्य एव वा कारशब्दस्तेन समास इत्याहुः।"[11]

इस अभिनवचन्द्रिका के व्याख्यान से दो सिद्धान्त स्पष्ट होते हैं। प्रथम अन्, अष्, एव, वषट् के बोधार्थ अन् कार, अस् कार, एव कार, वषट् कार इनके महाभाष्यादि ग्रन्थों में प्रयुक्त होने के कारण अन् अष् आदि में वर्णत्व का आरोप प्रयोग सामर्थ्य से मानकर कार प्रत्यय माना जाय। उसी तरह प्रयोग सामर्थ्य से 'अलम्' में वर्णत्व का आरोप करके इससे भी कार प्रत्यय माना जाय। किन्तु आचार्य विश्वनाथ दण्डि भट्ट इसमें अन्ये तु शब्द से अरुचि प्रकट करते हैं। दूसरा समाधान अन्य कार शब्द अर्थात् कार प्रत्यय व्यतिरिक्त घञन्त कार शब्द का संयोजन कर समास किया जाय। घञ् प्रत्यय भाव अर्थ में, करण अर्थ में तथा संज्ञा अर्थ गम्यमान रहने पर कर्तृभिन्न कारक में विहित होता है। यहाँ पर भाव या कर्तृभिन्न अन्य कारकों में घञ् प्रत्यय विधान से अभिलषित अर्थ की प्राप्ति नहीं होगी। फलतः "धातूनामनेकार्थाः" इस सिद्धान्त का आश्रय करके कृ धातु का अर्थ ज्ञान या ग्रहण करेंगे। फलतः "एव वषट् ओम् अव् का क्रियते गृह्यते जायते वा अनेन असौ एवकारः, वषटकारः, ओम् कारः अलङ्कारः" इस प्रकार व्युत्पत्ति करके करण अर्थ में घञ् का विधान कर सिद्ध प्रयोग क्रमशः एव वषट् ओम् अलम् के बोधक होंगे। इस व्युत्पत्ति की सत्ता में प्रमाण ये तत् तत् प्रयोग जो लक्ष्यैकचक्षुष्क आचार्यों के ग्रन्थों में आये हैं वे ही है। इस प्रकार अलं शब्द के समान अलङ्कार शब्द भी ब्रह्म वाचक हो सकता है।

यद्यपि अलं शब्द साक्षात् कहीं भी ब्रह्म अर्थ प्रतिपादक के रूप में कोषादि

[11] ल.श.शे. सटीकोपेत पृ. 14

ग्रन्थों में पठित नहीं है। अग्निपुराण के किसी भी संस्करण में 'अलम्' पाठ नहीं है। आचार्य द्विवेदी जी द्वारा साहित्य दर्पण के परिशिष्ट में दर्शित अग्निपुराण के वचन में 'अलम्' पाठ कहीं उपलब्ध नहीं है। तो केवल मात्र उसी पाठ के आधार पर 'अलम्' शब्द ब्रह्मवाचक कैसे मान सकते हैं? इस विषय में द्विवेदी जी के अनुसार अल् प्रत्याहार के रूप में अक्षर ब्रह्म के स्वरूप के आधार पर उसे ब्रह्म प्रतिपादक मान सकते हैं। अल् इति अखिलो वर्णसमाम्नायः अत्यते तत्त्वतया सम्यग् ज्ञायते अनेन तत् अलम् ब्रह्म। इस विग्रह से अलम् शब्द ब्रह्म वाचक हो सकता है। अल् पूर्वक अत सातत्य गमने (जो गमनार्थक होने से ज्ञानार्थक भी मानी जाती है) से अन्येष्वपि दृश्यते ॥3/2/10॥ इस सूत्र से ड प्रत्यय करने पर 'अलम्' शब्द सिद्ध होता है। अल् + अत् + अ इस स्थल में टिलोप स्वादि कार्य करने पर ब्रह्म वाचक होने से नपुंसक लिंग अलं शब्द सिद्ध होगा। यद्यपि अन्येष्वपि दृश्यते ॥3/2/10॥ यह सूत्र केवल जन धातु से ड प्रत्यय का विधान करता है। तथापि सूत्रस्थ अपि शब्द के कथन सामर्थ्य से यह अन्य धातु तथा अन्य कारकों के अर्थ में भी ऽ प्रत्यय का विधान करता है। काशिकाकार इस विषय में लिखते हैं कि –"अपि शब्दः सर्वोपाधिव्यभिचारार्थः। तेन धात्वन्तरादपि भवति कारकान्तरेऽपि"[12]

अतः इस प्रकार की व्युत्पत्ति में कोई दोष नहीं है। इसी प्रकार अलं भूष-णपर्याप्तिवारणेषु इस भ्वादिगण पठित धातु से भी अवति अखिल ब्रह्माण्डविधाने पर्याप्तो भवतीति अलम् ब्रह्म। इस विग्रह में "उणादयो बहुलम्" ॥3/3/9॥ इस सूत्र के द्वारा कर्त्ता अर्थ में बाहुलकात् 'अम्' प्रत्यय का विधान अनुबन्ध लोप स्वादि कार्य करने पर सिद्ध अलं शब्द ब्रह्म वाचक हो सकता है। तीसरा समाधान हो सकता है। इस प्रकार अ शब्द वासुदेव परब्रह्म का वाचक है = अकारो विष्णु-रुद्दिष्टः उकारस्तु महेश्वरः[13] तद् ब्रह्म अं = विष्णुस्वरूपं जगत् परिपालनाय लाति आदत्ते स्वस्मै तत् अलम् ब्रह्म। यहां अ पूर्वक ला आदाने अदादिगणपठित धातु से आतोऽनुपसर्गे कः ॥3/2/3॥ इस सूत्र के द्वारा क प्रत्यय का विधान करने पर ब्रह्म वाचक नपुंसकलिंग अलम् शब्द सिद्ध होगा। परब्रह्म सृष्टि कार्य सम्पादनाय ब्रह्मा विष्णु शिव के स्वरूप को धारण करता है ऐसा विष्णु आदि पुराणों में प्रतिपादित है -

नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः॥
ब्रह्मत्वे सृजते विश्वं स्थितौ पालयते पुनः।
रुद्ररूपाय कल्पान्ते नमस्तुभ्यं त्रिमूर्तये॥1॥

[12] का. 3/2/1
[13] वाच. अ शब्द में

सृजेत्येष जगत् सृष्टौ स्थितौ पाति सनातनः।
हन्ति चैवान्तकत्वेन रजः सत्त्वादि संश्रयः ॥2 ॥

इस प्रकार तीन व्युत्पत्तियों से अलं शब्द ब्रह्म वाचक सिद्ध होता है। पर अलंकार शब्द की व्युत्पत्ति में अल धातु से निष्पन्न अम् प्रत्ययान्त अलम् शब्द ही गृहीत होगा। अन्य नहीं। काव्य घटक अलङ्कार शब्द भी जो अलङ्कार को काव्य की आत्मा मानते हैं ऐसे अलङ्कारवादी परम्परा के पोषक विद्वानों के मत में ब्रह्म वाचक कथमपि इस व्युत्पत्ति के द्वारा हो सकता है - अलं ब्रह्मत्वेन आत्मत्वेन वा कार्यते स्थाप्यते स्वप्रेरणा काव्यादिसाहित्ये अनेन सः अलङ्कारः।

इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि आचार्य द्विवेदी जी द्वारा स्वीकृत अलं शब्द तथा अलङ्कार शब्द दोनों ब्रह्म के वाचक हो सकते हैं।

आचार्य द्विवेदी जी के इस ग्रन्थ की विशेषता है आदि में अलं ब्रह्म का विवेचन किया है और अन्त में 'संस्कृत काव्यशास्त्रं ब्रह्मविद्या' इस निबन्ध में ब्रह्म का विवेचन करने के साथ संस्कृत काव्य शास्त्रों को भी ब्रह्मप्रतिपादक शास्त्रों की शृङ्खला में रखा है। वे कहते हैं -

आनन्दकोषस्योल्लासे लोकोत्तरविभावना।
अलङ्कृतार्थसंवित्तिः शाब्दी चेत् काव्यमुच्यताम् ॥[14]

आप साहित्य विद्या को आनन्दं ब्रह्म के रूप में स्वीकार करते हैं। इसीलिए ग्रन्थान्त मङ्गल हेतु "संस्कृतकाव्यशास्त्रं ब्रह्मविद्या" इस निबन्ध की रचना की है।

आचार्य द्विवेदी की प्रतिभा, उनका अलौकिक चिन्तन, निरन्तर शास्त्र विषयिणी चर्चा, सतर्क अपने सिद्धान्तों की स्थापना अद्भुत है, स्तुत्य है अनुकरणीय है।

शब्दसंकेत

1. अ.ब्र. - अलं ब्रह्म
2. अग्नि. - अग्निपुराण
3. अमर. - अमरकोष
4. का. - काशिका
5. गी. - गीता
6. तांड्य. - ताण्ड्यब्राह्मण

[14] अ.ब्र. पृ. 329

7. ल.श.शे. - लघुशब्देन्दुशेखर
8. वाच. - वाचस्पत्यम्
9. वि.स. - विष्णुसहस्रनाम

सन्दर्भग्रन्थसूची

1. अग्निपुराणम् हिन्दीव्याख्योपेतम् (व्रजजीवन प्राच्यभारती ग्रन्थमाला 106)- व्याख्याकार आचार्य शिवप्रसाद द्विवेदी, निवृत्त प्राचार्य श्रीहनुमत्संस्कृत महाविद्यालय, हनुमानगढ़ी, अयोध्या, प्रकाशक - चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, 38 यू.ए., जवाहर नगर, बंगलो रोड, पो.बा. 2113, दिल्ली-110007, प्रथम संस्करण 2004 ई.।
2. अमरकोषः, हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला-30, नामलिङ्गानुशासनम् (सटिप्पण 'मणिप्रभा' हिन्दीटीकोपेतः)- श्री पं. हरगोविन्दशास्त्री, प्रकाशक-चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, संस्करण - षष्ठम् वि.सं. 1998।
3. अलं ब्रह्म, रचयिता - आचार्य श्रीरेवाप्रसाद द्विवेदी महामहोपाध्यायः, प्रकाशकं - कालिदाससंस्थानम्, वाराणसी, प्रथम संस्करण - 2005।
4. काशिकावृत्तिः, वामनजयादित्यौ, (सम्पा.) द्वारिकादासः कालिकाप्रसादः च, प्राच्यभारतीप्रकाशनम्, वाराणसी, १९६४
5. लघुशब्देन्दुशेखरः, वैकुण्ठीहिन्दीटीकासमलङ्कृत, व्याख्या. पं. वैकुण्ठनाथशास्त्री, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, १९९४

आचार्यजगन्नाथपाठकस्य कृतीनां सामाजिकं सांस्कृतिकञ्चानुशीलनम्

शीतलाप्रसादतिवारी

संस्कृतसाहित्यविषये इदमारोप्यते यत् अस्मिन् नायकनायिकाप्रकारकाः परम्परागतविषयाः प्राचुर्येण लभ्यन्ते, परञ्च सामान्यमानवीयजीवनमाश्रित्य रचितानां कृतीनामभावो विद्यते। महार्घता, शिक्षायाः व्यवसायीकरणम्, साम्प्रदायिकसद्भावादयः सामान्यमानवीयजीवनस्य विषयाः सन्ति। जगन्नाथपाठकस्य कृतेः अध्ययानात् उपर्युक्तधारणा मिथ्या सिद्ध्यति। कविवरपाठकः न केवलं सामान्यजीवनं वर्णयति, अपितु छन्दोदृष्ट्या सांस्कृतिकदृष्ट्या अपि तस्य विचारः समन्वयात्मकोऽस्ति 'पिपासा' 'ग्रालिबकाव्यम्' च तस्य समन्वयात्मकदृष्टिकोणस्य निदर्शनमस्ति।

सामाजिकानि सांस्कृतिकानि च तत्त्वानि परस्परमन्योन्याश्रितानि वर्तन्ते। मनुष्यः सामाजिकप्राणी अस्ति अतः विचाराः व्यवस्थाः परम्पराः च मानवजीवनं प्रभावयन्ति, इमानि सर्वाणि सामाजिकतत्त्वानि भवन्ति। कस्याश्चित् व्यवस्थायाः पृष्ठे एकः विचारः वर्तते स एव तस्याः व्यवस्थायाः हेयोपादेयतां प्रतिपादयति। तद् विचारतत्त्वं 'संस्कृतिः' कथ्यते। प्रत्येकं कृतीनां सामाजिकं सांस्कृतिकञ्चानुशीलनम् अधोलिखितं वर्तते।

कापिशायन्याः सामाजिकं सांस्कृतिकञ्चानुशीलनम्

अस्मिन् उपविभागे मया कापिशायन्याः धार्मिकपक्षः वेदान्तपक्षः राष्ट्रवादः च इत्यादिविषयाः प्रस्तूयन्ते।

कापिशायन्याः धार्मिकपक्षः

प्रायः प्रत्येकं धर्मे एतादृशाः जनाः भवन्ति ये प्रचारयन्ति यत् केवलं ते एव सत्यं जानन्ति। ते यत्किञ्चिदपि वदन्ति तद् एव सत्यं तदितरं यत्किञ्चिदपि केनचिदपि उच्यते तदसत्यम्। अर्थात् सत्यस्य ईश्वरस्योपरि च केवलं तेषामेव एकाधिकारोऽस्ति। यः कोऽपि सत्यं ज्ञातुमिच्छति ईश्वरेण सह मेलितुं वाञ्छति तेषां कृते प्रथमं तैः सह मेलनमावश्यकं वर्तते। कविः एतादृशान् जनान् 'धार्मिक' इति कथयति। अद्यत्वे एतादृशानां कृते 'कट्टरपंथी'ति संज्ञा प्रयुज्यते।

कविः कथयति यत् एतादृशाः धार्मिकाः समाजस्य समक्षं विविधाडम्बरान्

कुर्वन्ति तेषां कर्मवचनयोः मध्ये काचित् संगतिः न भवति। ते कथयन्ति अन्यत् कुर्वन्ति चान्यत्। ते समाजं येभ्यः वारयन्ति स्वयमेव तान् स्वीकुर्वन्ति। यथा -

मधु निन्दति धार्मिको यदा विहसन्नेव शृणोम्यहं तदा।
नहि जिघ्रति कोऽपि तस्य यन्मधुगन्धः प्रसरत्यहो मुखात्।।[1]

पद्येऽस्मिन् यदा धार्मिकः मधु निन्दति तदा कविः विहसन्नेव शृणोति यतोहि धार्मिकः स्वयं मधु आसेवते अतः मधुनिन्दा तेन न कर्तव्या। परञ्च समाजे स स्वसर्वोच्चतां दर्शयितुमेतादृशाडम्बरं करोति यत् मधु त्याज्यमस्ति। स स्वयं रोद्धु नार्हति तथापि मधुनः जनान् वारयति। कविः जनेभ्यः कथयति यत् जनाः अपि धार्मिकस्य प्रपञ्चं न जानन्ति, ते धार्मिकस्य मुखात् प्रसरन्तं मधुगन्धं न जिघ्रन्ति। यदपि धार्मिकस्य प्रपञ्चाभिज्ञानं सरलं परञ्च तं न पश्यन्ति, केवलं अन्धश्रद्धया आचरन्ति।

अन्यस्मिन् पद्ये कविः धार्मिकस्य द्विधाचरणमुद्घाटयति -

अयमेव कथं नु धार्मिको मदिरापाननिषेधमिच्छति।
सह हन्त मयैव धार्मिका मदिरापानगृहेषु यान्त्यमी।।[2]

यः स्वयं मधु पिबति स अन्यान् कथं वारयति। कुत्रचिदपि धार्मिकस्य वचने कर्मणि च संगतिः न दृश्यते। स्वयं मधुनाम्नः धृतिं परित्यजन्ति परञ्च मधुपाने मामुपहसन्ति।

धृतिमेव परित्यजन्त्यमी मधुनाम्ना श्रुतिमागतेन ये।
मधुपानरतं त एव मां प्रसहन्तां कथमेव धार्मिकाः।।[3]

धार्मिकैः धर्मविषयाः निर्णीयन्ते। कविः कथयति यत् धार्मिकाः जनान् तत् तत् निर्दिशन्ति यद्यद् कठिनमस्ति। कविमते जीवनस्य सारोऽस्ति 'कठिनाद् सरलं प्रति गमनम्'। कविः कथयति मम रचना कापिशायनी धर्मनिर्णयकर्त्री नास्ति। इयं जीवनाय सरलं मार्गं निर्दिशति। जीवनं तु आनन्दस्य कृते अस्ति, न तु काठिन्यजन्यस्य दुःखस्य कृते। वस्तुतः धर्मनाम्नि जीवने य आडम्बरः भवति कविः तं रुणद्धि।

---

1 कापि. १९३
2 कापि. १९४
3 कापि. ३७८

मम धार्मिककापिशायनी तव कर्त्री नहि धर्मनिर्णयम्।
मधुनि प्रणयस्य मत्कृतिः सरलं वर्त्म निदर्शयिष्यति।।[4]

कविमनसि धार्मिकात् स्पर्धा जायते। बहवः जनाः धार्मिकमनुसरन्ति तस्य जीवने भौतिकसम्पन्नत्वञ्च वर्तते, धार्मिकेण सह लोकमतमप्यस्ति तदपि कविः धार्मिकस्य आडम्बरपूर्णं जीवनं विनिन्दति, तस्मिन् काचिदपि स्पृहां न दर्शयति। यथा -

यदि नाम भवन्ति धार्मिकाः सुखिनः किं सुखमेव जीवनम्।
न तदीप्सितमस्ति मादृशां न च तत्रास्ति प्रवृत्तिरात्मनः।।[5]

यदि धार्मिकाः सुखिनः भवन्ति, तर्हि भवन्तु नाम, यतो हि जीवनं तु केवलं सुखं नास्ति अपितु तस्मात् परमपि अस्ति। जीवनं तु उत्थानपतने यात्रायाः अपरं नाम अस्ति। ताभ्यां विना जीवनस्य काचित् सार्थकत्वं नास्ति। ताभ्यां विना जीवनं पशुतुल्यं भवति यस्मिन् किञ्चित् उत्थानपतनौ न दृश्येते। मानवजीवने अन्तस्थ-गुणानां विकासाय सततं संघर्षः करणीयो भवति। सुखं दुःखं तु आतप-छायावत् आगमापायिनौ स्तः। प्रत्येकं स्थितौ समभावो भवेत्, आनन्दस्वरूपस्य अनुभूतिः सततं करणीया।

दृषदर्चनस्योपरि व्यङ्ग्यं दर्शनीयं वर्तते -

रुदितानि वृथैव साम्प्रतं किमपि श्रोष्यति नैव धार्मिकः।
हृदयं दृषदर्चका इमे दृषदा निर्मितमेव बिभ्रति।।[6]

धार्मिकस्य हृदये दया नास्ति। तस्य हृदयं दृषद्वत् कठोरमस्ति। अतः तस्याग्रे रुदितं वृथा भविष्यति। कविः धार्मिकाद् सदैव विरुणद्धि, तौ परस्परं अन्योन्यं निन्दन्तौ कदापि अन्योन्येन सन्तुष्टौ न भवतः। यथा -

नहि तुष्यति धार्मिको मया नहि तुष्यामि च तेन साम्प्रतम्।
अयमेव दुराग्रहो न मे न च तस्यापि मनो विमुञ्चति।।[7]

---

4 कापि. १५६
5 कापि. १५५
6 कापि. ११३
7 कापि. १०५

जनाः धार्मिकमेवानुसरन्ति, तस्य एव श्रेष्ठत्वं प्रतिपादयन्ति। यदपि स धार्मिकः कवेः प्रश्नानामुत्तरं दातुं नार्हति। एतत् निश्चितं नास्ति यत् कः श्रेष्ठः कः हीनः। परञ्च जनः धार्मिकमेव जयति, कविञ्च पराजयति।

निपतन्नभवं निपातयन्नभवं वा कलहेषु धार्मिकम्।
विजयं तु वदन्ति सर्वतो बत तस्यैव, पराजयं मम।[8]

इयमस्ति समाजस्य विडम्बना। अस्मात् कारणात् सत्यस्य स्थापना दुष्करा अस्ति। प्राथम्येन जनाः सत्यं न विश्वसन्ति शनैः शनैः घातप्रतिघातैः सत्यं ज्ञायते।

अन्ते कविः कथयति यत् आडम्बर एव धार्मिकस्य मुख्यः धर्मोऽस्ति। यदि धार्मिकः न प्रवञ्चयति तर्हि कविः तं प्रति सर्वथा प्रणतोऽस्ति।

कुरुते यदि न प्रवञ्चनां परिशुद्धेन हृदा च तिष्ठति।
अपि धार्मिक एव किं न स प्रणतास्तं प्रति सर्वथा वयम्।।[9]

कापिशायन्यामद्वैतवादः

कविवरपाठकः यत्र तत्र वेदान्तस्याद्वैतवादमपि प्रतिपादयति यथा स कथयति यत् हे ईश्वर आवयोर्मध्ये कश्चित् भेदः नास्ति तव मायाशक्त्या रूपमेव आवयोर्मध्ये भेदं जनयति।

तव वा मम वाऽस्ति जीवने नहि काचित् परमार्थतो भिदा।
अयि रूपिणि रूपमेव ते कुरुते दर्शकदृश्यभावनाम्।[10]

कविः कथयति यत् हृदयं हृदये मनः मनसि संगमय्य अहं तदेकतां प्राप्तवान् अर्थात् एकाकारोऽस्मि। अधुना यः त्वयि मयि च भेदं दर्शयति सर्वथा तं उपालभे।

हृदयं हृदये मनो मनस्यपि सङ्गत्य तदेकतां मतम्।
अधुना तमुपालभे जनं त्वयि यो मय्यपि भेदमिच्छति।[11]

सर्वे परमात्मस्वरूपा एव, अतः मनुष्यमनुष्ययोर्मध्ये भेदस्य प्रश्न एव न उदेति। कविः कथयति यस्य चित्ते जातिगतो भेदोऽस्ति स कुत्रचित् अन्यत्र गच्छतु। तस्य कृते पानगोष्ठी नास्ति।

[8] कापि. ९९
[9] कापि. ७७
[10] कापि. १
[11] कापि. १७

तव चेतसि भावनाऽस्ति काचिद् द्विजशूद्रद्वितयेऽथभेदमूला।
इतरत्र कुतोऽपि यापय स्वान् दिवसांस्ते न कृतेऽस्ति पानगोष्ठी।[12]

कविः कथयति अयि ! शाङ्करदर्शनज्ञ ! भवान् वदति 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' मयाऽपि इदमेव प्रतीयते। यदा अहमवलोकयामि तदा जगत् मृषा एव प्रतीयते। परञ्च त्वया अधीत्य इदं प्रतीयते मया तु मधुपानानन्तरम् अनुभूयते। मधुपानं कवेः कृते साधना अस्ति तया साधनया एव ज्ञानं जायते।

अयि शाङ्करदर्शनज्ञ मेऽपि जगद् भाति मृषैव पश्यतः।
त्वमधीत्य हि वेत्सि मादृशा मधुपात्रं विनिपीय जानते।[13]

अनेन प्रकारेण कापिशायन्याम् अद्वैतवादः प्रतिपादितोऽस्ति।

राष्ट्रवादः

कापिशायन्यां 'भारतशार्दूलविक्रीडिते' कविः चीनदेशाक्रमणसमये देशस्य रक्षायै देशवासिनः आह्वयति। षट्शार्दूलविक्रीडितच्छन्दःसु उपनिबद्धोऽयं सङ्ग्रहः कवेः राष्ट्रप्रेम्णः निदर्शनमस्ति। कविः कथयति यत् वयं प्रतापशिववीराणां सुपुत्राः स्मः अस्माकं हृदयानि पुष्पेभ्योऽपि कोमलानि सन्ति, परञ्च चीनदेशस्य कृते वज्रादपि कठोराणि सन्ति।

मैत्रीभावनयाऽऽगताय हि वयं बुद्धोपदेशस्थिता
लुब्धायातिथये प्रतापशिववीराणां सुपुत्रा वयम्।
पुष्पादप्यतिकोमलानि हृदयान्यस्माकमेतावता
वज्रादप्यतिकर्कशानि परितो जातानि चीनैः समम्।[14]

कविः भारतीयजनान् सिंहैः सह तोलयति चीनं च करिणा सह। कविः कथयति यत् चीनदेशेन भारतसिंहः उत्थापितः, सिंहः स्ववज्रोपमैः नखैः मदान्धचीनकरिणः कुम्भस्थलं गाहते। तृतीये पद्ये कविः तान् धिक्करोति ये रिपुगणैः हिमालये आक्रान्ते जातेऽपि भोगेषु संलिम्पन्ति। चतुर्थे पद्ये कविः पौराणिकयुद्धप्रतीकान् यथा रुद्रं चण्डीम् इत्यादीन् आह्वयति यतो हि हिमालयात् युद्धं सूचयन् शङ्खध्वनिमागच्छति। पञ्चमे पद्ये कविः भारतपृथ्वीं सम्बोधयति।

12 कापि. २१
13 कापि. १२९
14 भारतशार्दूलविक्रीडितं कापि. १

षष्ठे पद्ये पाञ्चालाः द्राविडाः बङ्गाः विहारोत्कलाः महाराष्ट्राश्चादयः सम्बोधिताः सन्ति ।

मृद्वीकायाः सामाजिकं सांस्कृतिकमनुशीलनम्

मृद्वीकायां वैयक्तिकविषया वर्णिताः सन्ति अतः तस्यां प्रत्यक्षरूपेण सामाजिकसांस्कृतिकविषयाः न उपनिबद्धाः तथापि धार्मिकस्य विषये अधोलिखितं पद्यं प्राप्यते। यस्य भावः कापिशायनीतः पृथक् नास्ति। अत्र कविः दर्शयति यत् यदपि मधुपानं धार्मिकस्यापि अभीष्टमस्ति तथापि स मधुनः परिहारमभिनयति।

प्रथमं न जिघृक्षति क्षणादतिसङ्कोचवशात् पिबत्यथ
भजते खलु दर्शनीयतां मधुपानाभिनयेन धार्मिकः ।[15]

मृद्वीकायाम् अद्वैतविषयोऽपि कविना किञ्चित् स्पृष्टः। यथा अधोलिखिते पद्ये कविः कथयति यत् तस्य मम च रूपे कश्चित् भेदः नास्ति। यदा मया स्वरूपमवगतं तदा गतभ्रमोऽभूत्।

तव रूपमिति प्रकल्प्य यच्चिरकालाद् व्यथितोऽभवं तथा
मम हन्त तदेव रूपमित्यधिगत्याद्य गतभ्रमोऽस्मि रे।[16]

कविः कथयति, मधुपानं विषमेष्वपि समतामानयति, यदा मधुपानं प्रवर्तते अर्थात् ज्ञानमुदेति तदा उच्चनीचयोः भेदः न भवति।

समतां विषमेषु को नयेत् मधुपानं प्रविहाय सर्वथा
नहि भेद इहोच्चनीचयोर्मधुपाने महसि प्रवर्तिते।[17]

पिपासायाः सामाजिकं सांस्कृतिकमनुशीलनम्

पिपासा अपि व्यक्तिपरा रचना अस्ति अतः प्रत्यक्षरूपेण सामाजिकसांस्कृतिकविषयाः न प्राप्यन्ते । केवलं अधोलिखिते पद्ये कविः धर्मे बाह्यतत्त्वानां स्थाने अन्तःकरणपूतत्वं वर्णयति। कविः कथयति ये जनाः प्रस्तरं देवरूपेण स्वीकुर्वन्ति ते कथं बिन्दुं सिन्धुरूपेण न स्वीकुर्वन्ति। अर्थात् आत्मनि परमात्मबुद्धिं न दधति।

[15] मृ. १२६
[16] मृ. ३३३
[17] मृ. ६४८

तावदेव सर्वे पृथक् पृथक् प्रतीयन्ते यावत् सर्वत्र परमात्मबुद्धिः न भवति। कविः कथयति यदि भावना शुद्धा न भवति तर्हि गङ्गाजलात् शुद्धिः न आयाति। ईश्वरः सर्वं व्याप्नोति अतः देशेषु [मन्दिरमस्जिदेत्यादिषु] तस्य परिसीमाकरणमुचितं नास्ति।

शिलाखण्डेषु ये वा देवबुद्धिं हन्त बध्नन्ति,
न किं ते बिन्दुमात्रे पूर्णमब्धिं हन्त बध्नन्ति।
न जानन्तीह शुद्धौ भावनायाः कारणत्वं ये
कदाचित्ते नदीनामप्सु शुद्धिं हन्त बध्नन्ति।
जना जानन्ति केचिन्नैव मर्यादां न वा सीमाम्,
त एवामीषु तटबन्धेषु जलधिं हन्त बध्नन्ति।
'जगन्नाथ' त्वमसि जगतीह सर्वत्रैव रे व्याप्तः,
कथं ते देशकालाभ्यां नु परिधिं हन्त बध्नन्ति।[18]

विच्छित्तिवातायन्याः सामाजिकं सांस्कृतिकमनुशीलनम्

विच्छित्तिवातायन्यां कविः अनेकान् सामाजिकसांस्कृतिकविषयान् विवेचयति। अधोलिखितबिन्दुषु ते विविच्यन्ते।

विच्छित्तिवातायन्यां स्त्रीविमर्शः

विच्छित्तिवातायन्यां 'स्त्रीशतकम्' इत्यस्मिन् शीर्षके कविवरपाठकः स्त्रीत्वस्य महत्त्वं प्रतिपादयति। अस्मिन् एकाधिकशतपद्यानि सन्ति। कविः कथयति यत् स्त्री धातुः अतिशयाद्भुतं निर्माणमस्ति। स्त्री पुरुषस्य पूरणी अस्ति पुरुषस्य पौरुषं तावदेव विलसति यावत् तेन सह स्त्री भवति। तया विना भूतानामीश्वरोऽपि शव इति भूतस्तिष्ठति। स्त्रियः मनसः ज्ञानं कठिनमस्ति। यदा जीवने तमः प्रसरति तदा स्त्री एकैव दीपशिखा इव ज्वलति। यदि जीवनमातपः अस्ति तदा स्त्री छाया इव भवति। स्त्रियः दृक्पातः गङ्गायामभिषेक इव विभाति। अनेन प्रकारेण कविः स्त्रियम् अनेकैः उपमानैः तोलयति यथा - स्त्री हृत्तन्त्र्यः झङ्कारोऽस्ति, स्त्री अन्तस्तरलमनिन्द्यं रत्नमस्ति, स्त्री काञ्चनमृगमनुसर्तुः पुरुषस्य सम्मोहनमस्ति। स्त्री सौन्दर्याख्यमहाब्धेः सन्ततं नृत्यन्ती काऽपि लहरी अस्ति। स्त्री तमसि प्रस्फुटितस्य प्रथमस्य किरणस्य स्पर्शोऽस्ति। सा कुसुमादपि कोमला अस्ति। कविः धातारं धन्यवादं व्याहरति यत् तेन स्त्रीति महार्हं महारत्नं उपापादि। स्त्री न केवलं रमणीरूपेण सम्मान्या अपितु जननीपत्नीभगिन्यादिसर्वेषु रूपेषु सम्मान्याऽस्ति। तस्यामेव

[18] पिपा. १५५

कन्यात्वं गृहिणीत्वं मातृत्वं च जायन्ते।

कन्यात्वं गृहिणीत्वं मातृत्वं चेति यत्र जायन्ते।
स्त्रीत्वं तत्खलु कस्य न वन्द्यं गङ्गेव परिपूतम्।[19]

स्त्री समर्पणस्य प्रतिमूर्तिरस्ति। स्त्रीपुंसौ अन्योन्यमाश्रयेते।

अनन्तरं कविः कथयति यत् एकतः स्त्री देवीत्युक्ता सुपूजिता चास्ति, अन्यत्र सा निर्दयं स्रगिव पददलिता अस्ति।

एकत्र स्त्री देवीत्युक्ता लोके सुपूजिता बहुभिः।
अबलेत्युक्ताऽन्यत्र च पददलिता निर्दयं स्रगिव।[20]

स्त्रियाम् अवनेः सहनक्षमत्वं विद्यते तस्याः चेतसः विस्तारमाकाशादपि अधिकं वर्तते। स्त्री सौभाग्यस्य उपनिषदस्ति। स्त्रीपुरुषयोः मध्ये भूषणभूष्याख्य-सम्बन्धो भवति।

स्त्री बुद्धिः, श्री, श्रद्धा, लज्जा चास्ति सा एका अस्ति तां विप्रा बहुधा वदन्ति। स्त्री सत्यं शिवं सुन्दरमस्ति। कविः पुनः तां माया मतिभ्रमरूपेण वर्णयति। ईश्वरः वादकः, ब्रह्माण्डः वीणा, स्त्री स्वरो अस्ति।

कविः स्त्रीणां शोषणं दृष्ट्वा व्यथितो वर्तते। स कथयति यत् अद्यापि स्त्री स्वाधिकारविषये न जानाति अस्मात् कारणात् धूर्ततमाः तां मुग्धां प्रवञ्चयन्ति।

स्त्री स्वाधिकारविषये नाद्यावधि जागरुकतां धत्ते।
पदे पदे धूर्ततमाः प्रवञ्चयन्तीह मुग्धां ताम्।[21]

कविः कथयति यत् स्त्रीं विना गृहं गृहं न भवति। 'गणिका' इति शब्दः सर्वान् स्त्रीमर्यादाविदः लोकान् दुःखीकरोति। कविना शुद्धीतिनाम्ना स्त्रीणामग्नि-परीक्षा प्रबलस्य निर्बले अत्याचाररूपेण वर्णितः।

साधयितुं स्वां शुद्धिं स्त्रिया नु यो बर्हिषि प्रवेश इति।
प्रबलस्य निर्बले किं नात्याचारः स नान्यायः।[22]

---

19 स्त्रीशतकम् विच्छि. ५०
20 स्त्रीशतकम् विच्छि. ३४
21 स्त्रीशतकम् विच्छि. ६९
22 स्त्रीशतकम् विच्छि. ७६

अनेन प्रकारेण कविः स्त्रियः सौन्दर्यं काव्यात्मकतया वर्णयति तस्याः शोषणमपि मार्मिकं चित्रयति।

विच्छित्तिवातायन्यामीश्वरः धर्मश्च

कविवरपाठकः ईश्वरविषये कथयति यत् यदा जगति सर्वेभ्यः आशा क्षीणा भवति। तदा परमात्मा एव आशायाः स्रोतः भवति। यैः ईश्वरः दृष्टः तैः स वर्णयितुं न शक्यते। ये तं न जानन्ति तेऽपि तस्मात् आशावन्तः सन्ति। अतः ईश्वरः अस्माकमाशानामज्ञातं स्रोतोऽस्ति।

जगतः सर्वा आशाश्चित्त मदीय त्वया समुच्छेद्याः
परमात्मनः एकस्मात् केवलमाशावता भाव्यम्।[23]

अग्रे कविः कथयति यत् वयम् ईश्वरस्य निर्मितयः स्मः अर्थात् ईश्वर एव अस्माकम् उपादानं निमित्तञ्च कारणमस्ति। परञ्च जनाः स्वहितदृष्ट्या ईश्वरस्य पृथक् पृथक् व्याख्यां कुर्वन्तः दृश्यन्ते वस्तुतः ईश्वर एकैवाऽस्ति।

सत्यं वयमिह मनुजा विनिर्मिता ईश्वरेण केनापि
इदमपि सत्यं मनुजैरस्माभिर्निर्मितः सोऽपि।[24]

कविः कथयति ईश्वरः विश्वासस्य विषयोऽस्ति। जनाः बुद्धिबलात् तमन्वेषयन्ति। बुद्धिः तु जडप्रकृतिरस्ति। सा चित्-तत्त्वं प्राप्तुं न शक्नोति। अतः कविः मुग्धः भूत्वा ईश्वरं गोपवधूटीभिः सह नृत्यन्तमनुभवति।

स्थितमपि परतो बुद्धेस्त्वां सुधियः साधयन्ति बुद्धिबलात्।
सन्निकटे त्वं नृत्यन् गोपवधूटीभिरनुभूतः।[25]

ईश्वरः सर्वत्र अस्ति। यथा उपरि उक्तं यत् ईश्वरः जगतः उपादानं निमित्तञ्चास्ति। अतः कविः कथयति यत् ईश्वरः कालेषु कालः गौरेषु गौरोऽस्ति। स रूपवान्नास्ति। तस्य स्वरूपं केनापि ज्ञातुं न शक्यते।

कालेष्वपि कालस्त्वं गौरेष्वपि लक्ष्यसे नु गौरस्वम्।
त्वमरूपोऽप्यपरूपस्तव लीलां केचिदेव विदुः।[26]

[23] विच्छि. ८
[24] विच्छि. ५३
[25] विच्छि. ५६
[26] विच्छि. ५८

कविः कथयति यत्किञ्चिदपि घटते तस्य कारणम् ईश्वर एव। वयमिदं जगत् सत्यं मत्वा रुदिमः। तस्य कृते इदं घटनं क्रीडायाः साधनमस्ति। स निर्माणे ध्वंसे च पारङ्गतोऽस्ति।

क्रीडनकीकृतलोकः क्रीडति नित्यं विधिर्जगन्मञ्जे
निर्माणध्वंसपरः स हसत्येको वयं रुदिमः।[27]

वस्तुतः आत्मपरमात्मनोर्मध्ये भेदः नास्ति। अज्ञानवशात् आत्मा परमात्मनः पृथग्रूपेण अवभासते। अतः कविः अज्ञानस्य परिहारमाकाङ्क्षते, कविः कथयति यत् अहं त्वयि विनिमज्जनमाकाङ्क्षे। अर्थात् स्वरूपज्ञानाद् स्वास्तित्वस्य विलयमाकाङ्क्षे।

अस्मितया निजया मे पृथगस्तित्वं यदेतदुपलब्धम्।
त्वय्येव तस्य किञ्चिद् विनिमज्जनमेष आकाङ्क्षे।[28]

यथा पूर्वमुक्तं यत् ईश्वरः जगतः उपादानं निमित्तकारणञ्च जगति यद् किञ्चित् घटते तस्यापि प्रेरकः स एव, इन्द्रियाणां प्रेरकः स एव। अज्ञानवशात् व्यक्तिः स्वं कर्तारं भोक्तारञ्च मनुते। यदा तस्य कृपा भवति तदा अज्ञानं व्यपसरति। तदानीमेव स सर्वेषु भासते।

जगदेतत्प्रतिरूपं तव नृत्यस्य प्रवर्तमानस्य।
नृत्यसि कियदवधि त्वं को जानीयात् त्वदन्य इह।[29]

कविः कथयति यत् समाजे जनाः रामरहीमनाम्नोः कलहं कुर्वन्तः अवलोक्यन्ते। रामः रहीमश्च ईश्वरस्य एव नाम अस्ति। रामं स्मरन् कोऽपि यवनः स्वधर्मात् च्युतो न भवति। तथैव च कुराणं पठन् कोऽपि हिन्दुः न भ्रश्यति। अनेन प्रकारेण कविः धर्माणामैक्यं प्रतिपादयति। यस्य अद्यत्वे महती आवश्यकता अस्ति।

रामं स्मरन् स्वधर्माद् यवनः किं कोऽपि विच्युतो भवति।
हिन्दुः पठन् कुराणं हिन्दुत्वाद् भ्रश्यति क्वचन।[30]

---

27 विच्छि. ९५
28 विच्छि. १७४
29 विच्छि. १८०
30 विच्छि. ३९५

विच्छित्तिवातायन्यां सज्जनः

कविः कथयति सज्जनस्य हृदयं रम्यतरं भवति अर्थात् सज्जनमनसि सर्वेषां कृते स्थानं भवति। सर्वे जनाः सज्जनं मिलित्वा मुदन्ति। यथा उपवने गत्वा सर्वे जनाः प्रसन्नाः भवन्ति।

रम्यं सुरभिनिधानं बहुविधवर्णप्रसूनमुपवनकम्।
सद्भावस्नेहमयं सज्जनहृदयं तु रम्यतरम्।[31]

कविः सज्जनानामवमानं दृष्ट्वा व्यथते। अद्यत्वे दुर्जनानां बाहुल्यं वर्तते। ते सज्जनान् अवमानयन्ति। कविः कथयति यत् दुष्टानां कटुभिः भाषितैः सम्भरिते अस्मिन् क्षेत्रे धीरोऽपि तूष्णीमवलम्ब्य कियत् तिष्ठेत्।

कश्चित् कियदिह तिष्ठेत् तूष्णीमवलम्ब्य हन्त धीरोऽपि
सम्भरितेऽस्मिन् क्षेत्रे काकानां भाषितैः कटुभिः।[32]

पुनश्च सज्जनविषये कविः कथयति यत् तेषां वक्षसि स्नेहरसायनसिक्तं हृदयं भवति अर्थात् ते सदा एव स्नेहपूर्णं विचारयन्ति, व्यवहरन्ति च। वस्तुतः ते एव धनाढ्याः सन्ति। अन्ये तु केवलं नाम्ना एव धनिनः सन्ति।

स्नेहरसायनसिक्तं वक्षसि येषां स्थितं हृदयमेकम्।
परमार्थतस्त आढ्यास्तिष्ठन्त्वन्ये धनैर्धनिनः।[33]

कविः कथयति यत् सम्प्रति लोके जना सज्जनस्य महत्त्वं नावगच्छन्ति। तेषां पार्श्वे सज्जनदुर्जनयोर्मध्ये भेदस्य ज्ञानं नास्ति। अतः सज्जनैः स्वमहत्त्वस्य स्थापनाय प्रयत्नः न करणीयः अपितु रहसि मौनेनावस्थितं वरमस्ति।

सम्प्रत्यभेदबुद्धाविह लोके हन्त काककोकिलयोः
रहसि क्वचन वनान्ते मूकतयाऽवस्थितं नु वरम्।[34]

---

31 विच्छि. १
32 विच्छि. २५
33 विच्छि. ४८
34 विच्छि. ७४

येषां विचारे कार्ये च सादृश्यं भवति ते प्रशंसनीयाः भवन्ति। ये मनसा किञ्चिदन्यत् कार्येण किञ्चिदन्यत् विदधति ते सर्वथा निन्द्याः भवन्ति। कविः कथयति यत् अन्तर्बहिश्च तुल्यं मलिनोऽपि काकः प्रशंसनीयोऽस्ति। ये अन्तर्मलिनाः बहिः स्वच्छाः सन्ति ते निन्दनीयाः सन्ति।

अन्तर्बहिश्च तुल्यान् काकान् मलिनानपि प्रशंसामः।
येऽन्तर्मलिनाः स्वच्छा बहिरिह तान् हन्त निन्दामः।[35]

सज्जनाः धीराः भवन्ति ते महाविपद्यपि मौनं भजन्ति परञ्च अधीराः लघीयस्यामपि विपदि भृशं रुदन्ति।

विपदि लघीयस्यामपि रुदन्ति केचिज्जना भृशं विकलाः
केचन महाविपद्यपि भजन्ति मौनं महाधीराः।[36]

सज्जनाः परेषां दुःखेषु कातराः भवन्ति परसुखेषु च सुखकलिताः भवन्ति। ईदृग्विधाः सज्जनाः दुर्लभाः सन्ति।

परवृद्धौ सुखकलितं परदुःखे कातरञ्च यद् हृदयम्।
तत्खलु मन्ये बहुभिः पुराकृतैर्लभ्यते पुण्यैः।[37]

यदा दुर्जनानां मध्ये कश्चित् सज्जनः भवति तदा स महत्कष्टं सहते यथा राक्षसानां मध्ये विभीषणः आसीत्। कविः अमुं विषयं खर्जूराम्रयोर्माध्यमेन प्रस्तौति।

खर्जूराणां मध्ये सहकारः कश्चिदेक उत्पन्नः।
दुःखीकरोति मां खलु तस्य तदस्थानपतिततत्वम्।[38]

सज्जनाः सदैव आत्मविश्वासयुक्ताः भवन्ति, ते स्वपथं स्वयमेव निर्मान्ति। साधारणजनाः तु अन्यैः निर्मितं पन्थानमेव स्वीकुर्वन्ति।

गन्तव्यस्य स्वस्य स्वेनैव सुविनिश्चयः सता कार्यः।
भ्रश्यति स हि गन्तव्याद् यस्तु परप्रत्ययाच्चलति।[39]

---

35 विच्छि. १२५
36 विच्छि. १३०
37 विच्छि. १५३
38 विच्छि. ४१०
39 विच्छि. ४२०

कविः समाजस्य दशायामुपरि व्यथितो वर्तते। कविः कथयति यस्मिन् देशे सिंहैः शयितं विक्रीडितमेव तस्मिन् देशे अधुना गोमायवः नृत्यन्ति। अर्थात् यस्मिन् देशे बहवः महापुरुषाः आसन् तस्मिन् एव देशे अधुना दुर्जनाः शासति।

यस्मिन् सिंहैः शयितं विक्रीडितमेव यत्र शार्दूलैः।
तस्मिन् सम्प्रति विपिने गोमायव एव नृत्यन्ति।[40]

विच्छित्तिवातायन्यां देशप्रेम

कविः देशे प्रवर्तमानानां समस्यानामुपरि चिन्तयति। यावत् पर्यन्तं अस्माकं देशे क्षुधा हिंसा सुरसेव वर्धते तावत् शान्तिस्थापनार्थं प्रतिपादिताः पञ्चशील-सिद्धान्ताः व्यर्थाः भविष्यन्ति।

सुरसेव व्यादत्ते यावन्निजमाननं क्षुधा हिंसा।
तावदरण्ये रुदितं पञ्चसु शीलेषु संवादाः।[41]

कविः कथयति यत् अस्माकं देशे अनेके महापुरुषाः अभवन् तैः शान्ति-स्थापनार्थं महत्प्रयासः कृतः। परञ्च अधुना अस्माकं देशे सर्वत्र अशान्तिः प्रचलति अतः तेषां महापुरुषाणामात्मानः रुदन्ति।

राज्ञो घट्टं विलपति शान्तिवनं वर्तते विषीददिव
शक्तिस्थलमनुताम्यति दर्शं दर्शं निजं देशम्।[42]

कविः आदर्शदेशं कल्पयति। यत्र जनाः समशीलाः समानहृदयाः परहित-सम्पादने रताः सन्ति स देशः स्वर्गः इति कथ्यते।

समशीलाः समहृदयाः परहितसम्पादने रताः।
यत्र वसन्ति मनुष्याः देशः स स्वर्ग इत्याहुः।[43]

कविः कथयति यत् राजनीतिः पूतना अस्ति सा गृहान् प्रविश्य विषं पाययते। अस्मात् कारणात् एव लोकः कलहायितोऽस्ति। अधुना राजनेतारः धर्मजात्याद्या-धारेण समाजस्य विभाजनं कुर्वन्ति -

40 विच्छि. ४४६
41 विच्छि.१२
42 विच्छि. १३
43 विच्छि. १४८

तां पूतनेति मामधुना राजनीतिरिति वदसि।
सकलान् गृहान् प्रविष्टा पाययते सा विषं लोकान्।[44]

अधुना समाजे विधिशासनं नास्ति, यस्य पार्श्वे बलमस्ति, स एव विजयते, न्यायोऽपि तस्यैव पक्षे वदति। कविः कथयति यत् यावत् इयं नीतिः लोके भविष्यति तावत् शान्तेः स्थापना कुसुमनभस इव अस्ति। अर्थात् असंभवा अस्ति।

यष्टिर्यस्य करस्था महिषी तस्यैव यावदिति नीतिः।
तावल्लोके शान्तेरस्तित्वं कुसुममिव नभसः।[45]

अधुना समाजे बहुसङ्कीर्णत्वं व्याप्तमस्ति। केचिज्जनाः स्वस्यैव देशवासिनं परकीयानिति कृत्वा घ्नन्ति।

सङ्कीर्णत्वमिदानीं हृदयेऽस्माकं तथा घनीभूतम्।
मन्यामहे निजानपि जनान् यथा हन्त परकीयान्।[46]

कविः कथयति यत् पुरा अस्मिन् देशे 'अहं ब्रह्मास्मि' उपनिषदामिदं वचनं ध्वनितमासीत् अर्थात् सर्वेषां समादरभावः आसीत् निज इति पर इति भावना एव नासीत् अधुना तु ईदृशी एव मतिः प्रचलति।

ध्वनितमहं ब्रहास्मीत्येतद् यस्मिन् पुरा महति राष्ट्रे।
निज इति वा पर इति वा तस्मिन् वसतां मतिर्जाता।[47]

विच्छित्तिवातायन्यां मानवताविषयकविचारः

कविः मानवतां देवत्वादतिरिच्य मनुते। केचिज्जनाः नरस्य देवत्वं बहु मन्यन्ते, परञ्च कविः कथयति यत् अस्माकं दृशि मानवस्य मानवता एव श्रेष्ठाऽस्ति। मानवता अर्थात् मानवीयगुणानां विकासः।

---

44 विच्छि. ३८८
45 विच्छि. १६५
46 विच्छि. ४१३
47 विच्छि. ४१४

देवत्वलाभमेके बहु मन्यन्ते नरस्य कस्यापि
मानवतैवास्माकं दृशि लाभो मानवस्य महान्।[48]

यदपि जातिस्वभावदृष्ट्या मनुष्याः पृथक् पृथक् भवन्ति, अर्थात् तेषां क्षमता योग्यता चेत्यादयः पृथक् पृथक् भवन्ति। परञ्च मानवतागुणः सर्वेषु एकत्वमानयति। अर्थात् मानवतास्तरे सर्वे जनाः समानरूपेण व्यवहरणीयाः भवन्ति।

जातिस्वभावदृष्ट्या सत्यपि भेदे मनुष्यमात्रगते
मानवतेति स धर्मः सर्वेष्वेको हि जागर्ति।[49]

मानवशक्तिः सदा विजयते। मानवविकासयात्रायां मानवशक्तिद्वारा अनेकाः बाधाः समुत्तीर्णाः। कविः कथयति यत् विज्ञानशक्तिरस्याः मूलमस्ति।

विज्ञानशक्तिमूलां नित्यं स्वविकासकल्पनारूढाम्।
सुतरामुपहतबाधां मानवशक्तिं परां वन्दे।[50]

मानवशक्तिद्वारा किं कर्तुं न शक्यते। कविः कथयति यत् अनया मरुरपि उर्वरो भवति उत्तुङ्गो गिरिरपि भूमिसात् भवति जलधिश्च शुष्यति अर्थात् मानवशक्तिद्वारा असम्भवमपि सम्भवं कर्तुं शक्यते।

उर्वरतां याति मरुर्गिरिरुत्तुङ्गोऽपि भूमिसाद् भवति।
शुष्यति जलधिः सुतरां मानवपदयोगमात्रेण।[51]

मानवविकासयात्रायां बहवः अवरोधाः सन्ति। तदपि विकासयात्रा न विरमति। मानवमतिः प्रतिक्षणं नवनवोन्मेषा वर्तते।

अवरोधेष्वपि सत्सु प्रगतिमती मानवस्य कापि मतिः।
नैव विरामं सहते प्रतिक्षणं नवनवोन्मेषा।[52]

कविः कथयति यत् यस्य मानवस्य मनसि मानवतायाः भावना नास्ति स भारतीयो भवितुं न शक्नोति।

48 विच्छि. १३३
49 विच्छि. १४७
50 विच्छि. १५०
51 विच्छि. १५१
52 विच्छि. १५२

न भवतु काचन मानव इत्येका भावनाऽपि चेतसि चेत्।
किं भारतीय इति सा चेतसि नो भवितुमर्हति नः।[53]

अनेन प्रकारेण संक्षेपेण विच्छित्तिवातायन्याः सामाजिकं सांस्कृतिकमनुशीलनं सम्पूर्णं याति।

आर्यासहस्रारामस्य सामाजिकं सांस्कृतिकञ्चानुशीलनम्

'आर्यासहस्रारामम्' इति काव्ये राजनीतिः, लोकनीतिः, देशदशा, मानवशक्तिः इत्यादीन् विषयानधिकृत्य अनेकानि पद्यानि प्राप्यन्ते, तेषु पद्येषु अस्याः कृतेः सामाजिकं सांस्कृतिकञ्च मूल्याङ्कनं स्फुटं भवति। यस्य विवरणमधोलिखितं वर्तते।

आर्यासहस्रारामे राजनीतिः

कविः राजनेतॄणां द्विधाचरणस्य विषये कथयति यत् ते मूर्तीः निर्मान्ति, ते प्रदर्शयन्ति यत् धार्मिकाः महापुरुषाणामनुगामिनश्च त एव सन्ति। यदा तेषां लाभः अपेक्षते तदा ते मूर्तीः भञ्जन्ति। मूर्तिभञ्जनेन स्वधर्मरक्षां प्रतिपादयन्ति। वस्तुतः ते धर्मनाम्नि अधर्ममाचरन्ति।

मूर्तीनां निर्माणं मूर्तीनां भङ्ग एतदुभयमपि
अद्यत्वेऽपि विलसति व्यवहारो राजनीतिविदाम्।[54]

अद्यत्वे राजनेतारः राजनीतौ स्वकुलक्रमागतमधिकारमवगच्छन्ति। स्वजनैः आद्रियमाणाः ते नेतारः गर्वान्विताः भवन्ति। कविः कथयति वस्तुतः तु स एव नेता य जनसामान्यैः आद्रियते। अर्थात् जनाः किञ्चित् स्वार्थं विना तेषामादरं कुर्वन्ति।

न कुलक्रमागतोऽसावधिकारः कोऽपि नाम नेतॄणाम्।
तस्य तु स एव नेता जनसामान्यो यमाद्रियते।[55]

कविः कथयति नेतारः करुणायाः अभिनयं कुर्वन्ति वस्तुतः तेषां हृदयेषु दया नास्ति। वस्तुतः ये कारूणिका आसन् ते अधुना इतिहासस्य विषयाः अभवन्।

---

53 विच्छि. ४१२
54 आर्या. ५९३
55 आर्या. ६०४

अस्माकं देशे महर्षिः दधीचिः, दयालुः शिविः इत्यादयः महापुरुषाः आसन् तादृशाः केचन अपि महापुरुषाः अधुना न दृश्यन्ते।

करुणाया अभिनयमिह नेतारः कुर्वते समेऽद्यत्वे।
कारुणिका येऽर्थत इह सम्प्रत्यालेख्यशेषास्ते।[56]

अद्यत्वे राजनीतौ परिवारवादः प्रचलति यथा पुरा महाभारते धृतराष्ट्रः पुत्रमोहवशात् कुरुवंशं ननाश। तथैव अद्यापि बहवः नेतारः परिवारमोहात् देशं वञ्चयन्ति।

प्राचीनो धृतराष्ट्रः स एव मात्रं न हन्त मोहान्धः
साम्प्रतिका अपि बहवो मोहान्धाः सन्ति धृतराष्ट्राः।[57]

आर्यासहस्रारामे धार्मिकः

धार्मिकः कवेः मुख्यविषयः अस्ति। प्रायः सर्वासु कृतिषु धार्मिकविषये कविद्वारा चर्चा कृताऽस्ति। आर्यासहस्रारामेऽपि कविः धार्मिकस्य विषये तमेव भावमभिव्यनक्ति, यः पूर्वकृतिषु अभिव्यक्तोऽस्ति। कविः कथयति यत् संसारे अहं मन्ये यत् अहं सर्वथा वैफल्यं प्राप्तवानिति परञ्च हे धार्मिक! भवता अपि एतावत् कालपर्यन्तं स्वं सार्थक्यं न सिद्धम् अर्थात् जनाः मां न आद्रियन्ते इति मम वैफल्यमस्ति। भवतः अपि वस्तुदृष्ट्या किञ्चित् महत्त्वं नास्ति अर्थात् धार्मिकस्तु केवलं मिथ्यां वदन्ति द्विधाचरन्ति च।

जगति जगन्नाथस्य प्रख्यातं सर्वथैव वैफल्यम्।
नैतावतैव सिद्धं तव धार्मिक! किन्तु सार्थक्यम्।।[58]

कविः कथयति यत् धार्मिकाः स्वर्गनाम्ना जनान् प्रवञ्चयन्ते। तेषां मते ये जनाः ताननुसरन्ति ते एव स्वर्गं गच्छन्ति। स्वर्गस्य कृते कवेः इच्छा एव नास्ति अतः स कथयति अहं स्वं हविं कस्मै देवाय दास्यामि। अर्थात् मम कृते हविर्दानस्य आवश्यकता एव नास्ति।

स्वर्गो यस्य न काम्यः स हविः कस्मै ददातु देवाय।
किमपेक्षन्ते तेऽस्मात् प्रकटीभूयेह तैर्वाच्यम्।[59]

[56] आर्या. ६२०
[57] आर्या. ६२५
[58] आर्या. १२१
[59] आर्या. ५३१

पुनः कविः कथयति धार्मिकाः वदन्ति यत् मरणानन्तरं स्वर्गप्राप्तिः भवति। अस्य किम् प्रमाणमस्ति। लोके अधुना यावत् केनचिदपि स्वर्गलोकः न दृष्टः।

कमपि गतप्राणमिह स्वर्गत इति कल्पयन्ति लोकेऽस्मिन्।
स्वर्गाख्यो बत यद्यपि लोकः केनापि न हि दृष्टः।[60]

कुत्रचित् देवदासी प्रथा प्रचलति। कैश्चित् जनैः स्वपरिवारस्य कन्यानां देवैः सह विवाहं कृत्वा ताः मन्दिरेभ्यः समर्प्यन्ते। इयमेका कुप्रथाऽस्ति। एवम्प्रकारेण महिलानामुपरि अत्याचारो भवति। अतः इयं प्रथा सर्वथा समुच्छेद्याऽस्ति। कविः कियता सुष्ठुरूपेण अस्या कुप्रथाया उपरि प्रहरति।

किं सिध्येदिह शतशः सहस्रशो वा तथा समर्प्यन्ताम्।
देवाय देवदास्यः प्रस्तरखण्डस्वरूपाय।[61]

आर्यासहस्रारामे लोकनीतिः

अस्मिन् शीर्षके कविः लोकस्य विषये स्वानुभवमभिव्यनक्ति यथा - जनाः केनाधारेण आचरन्ति? कविः कथयति यत् अस्मिन् समये एतादृशी धारणा विद्यते यत् यः धूर्तोऽस्ति स एव सफलो भवति। धूर्तत्वं विना साफल्यं न मिलति। धूर्तत्वमेव बुद्धिमत्त्वस्य पर्यायोऽस्ति। अस्मात् कारणात् समाजे सज्जनाः व्यथन्ते।

सफलः स एव तावान् धूर्तो यो भवति साम्प्रतं यावान्।
धूर्तत्वमेव सम्प्रति पर्यायो बुद्धिमत्त्वस्य।[62]

कविः कथयति विश्वं सुविस्तृतं विद्यालयोऽस्ति यस्मिन् प्रत्येकं वस्तुभिः व्यक्तिभिश्च सह संव्यवहारेण कश्चित् अनुभवः जायते। वस्तुतः अनुभवः एव एकः गुरुरस्ति यः सर्वदा सह वसति, सत्यं च वदति। अतः सर्वथा स्वानुभवाधारेण एव व्यवहर्तव्यं निर्णेतव्यञ्च।

विद्यालयः सुविस्तृतमेदहो विश्वमेव मे मान्यम्।
स्वानुभव एव यस्मिन् गुरुरेको नाम जागर्ति।[63]

---

60 आर्या. ५३४
61 आर्या. ६३५
62 आर्या. १८४
63 आर्या. १९८

पुनः कविः विश्वं नीडेन सह तोलयति मनुष्यान् विहगैश्च। सर्वे स्वस्वसामर्थ्याधारेण चिन्तयन्ति, कुर्वन्ति च । यथा विहगस्य कृते आकाशोऽनन्तो भवति तथैव मनुष्यस्य कृते विश्वमपि अनन्तमस्ति। मनुष्यः स्वसामर्थ्याधारेण विचारयति वदति च।

नीडं स्याद् विश्वमिदं वयं तु सर्वे भवेम विहगाश्च।
पक्षद्वयमाश्रित्य व्योम्नि सुदूरं प्रधावेम।[64]

अस्मिन् युगे सर्वे अपरान् पराजेतुं प्रयतन्ते, ते स्वस्थित्या सन्तुष्टाः न सन्ति अपितु परेषामाधारेण स्वसाफल्यमाकलयन्ति। परञ्च साहाय्यदृष्ट्या कोऽपि अपरं न ध्यायति। केषाञ्चित् पार्श्वे परोपकाराय समयः नास्ति। सर्वे स्वलक्ष्यमभिलक्ष्य धावमानाः वर्तन्ते।

प्रतियोगितायुगेऽस्मिन् धावति सर्वः स्वलक्ष्यमभिलक्ष्य।
प्रयतेत कः परस्मै करावलम्बस्य दानाय।[65]

कविः कथयति यावत् पर्यन्तं भूमौ धनस्य लिप्सा स्थास्यति। तावत् पर्यन्तं संघर्षः भविष्यति। अत्र धनस्य कृते सुवर्णमिति पदं दत्तमस्ति। वस्तुतः सुवर्णस्य सञ्चयम् अपरेषां भागमाहृत्य एव भवति। सुवर्णसञ्चयाधारेण जनाः स्ववैभवं प्रदर्शयन्ति अपरा श्च 'हीनान्' इति अनुभावयन्ति।

आकर्षणस्य केन्द्रं स्थास्यति यावत् सुवर्णमिह भूमौ।
तावत् स्थास्यति सुतरां सुवर्णदुर्वर्णयोर्द्वन्द्वः।[66]

जनाः बुभुक्षिताः सन्ति तेषां पार्श्वे भोजनं नास्ति, ते बुभुक्षाप्रशमाय धूम्रपानं कुर्वन्ति। कविः कथयति यत् अस्माकं दौर्भाग्यमस्ति यत् अस्मिन् देशे जनाः धूम्रपानेन बुभुक्षां शाम्यन्ति।

पानं धूमस्य कियत् प्रशमायालं नृणां बुभुक्षायाः
पाने धूमस्य रता विहाय बहवोऽन्नमद्यत्वे।[67]

---

64 आर्या. २०२
65 आर्या. २२३
66 आर्या. २७४
67 आर्या. २८१

कविः कथयति यत् नदीषु प्रदूषणं जातम् तत् तु चिन्तायाः विषयोऽस्ति परञ्च तस्मात् अधिकं चिन्तायाः विषयोऽस्ति यत् जनानां मनांसि दूषितानि सन्ति यावत् पर्यन्तं मनःसु पावित्र्यं न भवति तावत् पर्यन्तं समाजस्य कल्याणाय काऽपि योजना न सफलीभविष्यति।

मन्ये न काऽपि हानिः प्रदूषितासु क्वचिन्नु तटिनीषु।
महती हन्त विनष्टिः प्रदूषिते मानसे सु सति।[68]

अन्योक्तिमाध्यमेन कविः देशवासिनः सम्बोधयति यत् भवतां जन्मानि ऋषीणां कुले जातानि सन्ति। अतः भवद्भ्यः उच्चादर्शानामपेक्षा विद्यते। महापुरुषाणामिदं व्यथितमस्ति यत् कतिपये जनाः मलिनमाचरन्ति। इदं कथ्यं दीपसूर्ययोः माध्यमेन कविना वर्णितमस्ति।

दीप त्वमसि मदीये कुले प्रसूतो बिभर्षि च स्नेहम्।
कज्जलमुद्वमसीति त्वयि तत् सूर्यस्य मे व्यथितम्।[69]

आर्यासहस्रामे देशदशा

कविः अद्यत्वे देशदशां दृष्ट्वा दुःखितोऽस्ति। अधुना देशे तद्वैभवं न दृश्यते। महत्त्वपूर्णपदेषु धूर्ताः विराजन्ते। कविः कथयति यत् अधुना देशे हंसा कृष्णमृगाः न दृश्यन्ते। हंसाः कृष्णमृगाश्च प्राकृतिकसमृद्धेश्च प्रतीकाः सन्ति। ते न दृश्यन्ते इत्यस्याशयः अस्ति यत् अधुना प्राकृतिकक्षरणं निरन्तरं जायमानमस्ति।

हंसा न हि दृश्यन्ते न च दृश्यन्ते कुतोऽपि कृष्णमृगाः।
देशोऽयमेव स नु यो भारतमित्युच्यते लोके।[70]

सर्वत्र धूर्तानां प्रभुत्वं वर्तते। सज्जनाः किङ्कर्तव्यविमूढाः सन्ति। इदं कथ्यं कविः वानरमाध्यमेन कथयति यत् सिंहासनं वानरः अधितिष्ठति अर्थात् अस्माकं नीतिनिर्माता पथप्रदर्शकश्च मूर्खोऽस्ति अतः कर्मचारिणः किं कुर्युः अर्थात् भूतेषु श्रेष्ठकर्मचारिषु यावत् पर्यन्तं मुख्यः कार्यकुशलः न भवति तावत् पर्यन्तं काऽपि कार्ययोजना सफलीभूता न भवति।

---

68 आर्या. ३३२
69 आर्या. ३५७
70 आर्या. १९३

सिंहासनमधितिष्ठति धृतमुकुटे वानरे प्रसह्य पुरः ।
किङ्कर्त्तव्यविमूढैः किं कर्तव्यं नरश्रेष्ठैः ।[71]

कविः देशवासिनः जागरयति यत् भवन्तः तिलक-गान्धि-सुभाषादयः सन्ति अर्थात् भवन्तः एतादृशानां महापुरुषाणां सन्ततयः सन्ति याभिः देशे विदेशेष्वपि महत्कार्याणि कृतानि। अधुना भवतां समक्षं क्षुद्रजनाः शत्रवः गर्जन्ति अतः तान् विनाशय।

जाग्रत तिलका राष्ट्रे जाग्रत रे गान्धिनः सुभाषाश्च ।
क्षुद्राः धीरध्वनिभिर्गर्जितुमारेभिरे मेघाः ।[72]

देशे वृद्धजनानां सम्मानं न भवतीति दृष्ट्वा कविः व्यथितो वर्तते। यस्मिन् देशे वृद्धजनानां वाक् निरादृियते। युवानः अविनीताः सन्ति तस्य राष्ट्रस्य समाजस्य भविष्योऽन्धकारमयो भवति।

भ्राम्यति यत्र यथेच्छं वृद्धानां वाचि हन्त बधिरेव
अविनीता युवशक्तिस्तस्य नु राष्ट्रस्य किं वाच्यम् ।[73]

पुरा पदेषु गुणिनः विद्वांसश्च विराजमानाः आसन्। तैः गुणदोषाः विवेच्यन्ते स्म। अधुना तु पदेषु मूर्खाः विराजन्ते। तेभ्यः नीरक्षीरविवेकस्य आशा एव व्यर्था अस्ति। कविः कथयति यत् पुरा नीरक्षीरविवेकः हंसेषु आसीत् अधुना तु धूर्तेषु बकेषु सङ्क्रान्तोऽस्ति।

नीरक्षीरविवेको गुणो य आसीन्नु मानसौकःसु ।
कालवशात् स इदानीं बकेषु धूर्तेषु सङ्क्रान्तः ।[74]

कविः कथयति यत् पुरा महापुरुषाणां महत्त्वमासीत् अधुना तु तेषां वचनानि कोऽपि न ध्यायति। सर्वे जनाः अपभाषणान्येव ध्यायन्ति। मनुशङ्कराचार्यादिमहा-पुरुषाः कियता श्रमेण त्यागेन च धर्मं स्थापितवन्तः। अद्यत्वे ये जनाः किमपि न जानन्ति तैः तेषां ग्रन्थाः व्याख्यायन्ते। ते महापुरुषाणां विषये अपभाषन्ते तेषामेव समाजे महत्त्वं विद्यते।

---

71 आर्या. ४२०
72 आर्या. ४३९
73 आर्या. ४६२
74 आर्या. ४६३

मनुरद्यत्वे व्यर्थो व्यर्थोऽद्यत्वे च शङ्कराचार्यः ।
सार्थक इतः स सम्प्रति य इमान् महतोऽपभाषेत ।[75]

आर्यासहस्रारामे मानवशक्तिः

यद्यपि मानवसमाजे बहुसमस्याः सन्ति, परञ्च वयमितिहासं पश्यामः तदा एवं प्रतीयते यत् इतिहासे इतोऽपि महती समस्या आसीत् मानवशक्तिः तां जितवती अग्रेऽपि जेष्यति ईदृशः कवेः विश्वासः वर्तते । कविः कथयति यत् मानवशक्तिस्पर्शात् धूलिरपि सुवर्णं भवति अर्थात् अनुर्वरापि उर्वरतां यान्ति ।

यदिह सुवर्णं मनुषे न सुवर्णं भवति हन्त तन्मात्रम् ।
मानवपाणिस्पर्शात् सुवर्णतामेति धूलिरपि ।[76]

अद्यत्वे विश्वे मनुष्याः मनुष्यान् धर्मनाम्ना घ्नन्ति । इदं मानवतायाः उपरि प्रहारोऽस्ति । मानवसमाजस्य अस्तित्वं मानवतायामुपरि एव आश्रितमस्ति । मानवता एव नावशिष्यते चेत् तर्हि मानवास्तित्वं कथं स्थास्यति । कविः कथयति यत् अधुना मानवताख्या लता कथं रक्ष्यताम् यतोहि समाजे आतङ्कवादरूपिवात्याचक्रं प्रचलति ।

आतङ्कवादजनिते वात्याचक्रे प्रवर्तमानेऽस्मिन् ।
कथमस्तित्वं रक्षतु मानवताख्या लता स्वीयम् ।[77]

मनुष्यशरीरप्राप्तेरेव कोऽपि मनुष्यो न भवति अपितु मनुष्यत्वस्य कृते करुणा-सहिष्णुतादि-मानवीयगुणानां सद्भावः आवश्यको वर्तते ।

आकृत्यैव मनुष्यो न मनुष्यो भवति किन्तु मन्येऽहम् ।
यस्मिन्नुदितमुदात्तं सुमनुष्यत्वं मनुष्यः सः ।[78]

कविः कथयति यत् मानवः केवलं जन्तु नास्ति तस्य पार्श्वे अदम्योत्साहो भवति । अनेनोत्साहेन तेन अन्य नक्षत्राणां यात्रा अपि कृता । स सूर्यं यावत् यात्रा कर्तुं क्षमते अर्थात् मानवस्य सामर्थ्यं निःसीमं वर्तते ।

[75] आर्या. ४६४
[76] आर्या. २०१
[77] आर्या. २२४
[78] आर्या. २६७

अयमिह कोऽपि गरुत्मान् मानव इति यं नु जन्तुमभिधत्से।
सूर्यं यावद् यात्रां कर्तुं सामर्थ्यवानेषः।[79]

आर्यासहस्रारामे नारी

स्त्रियः विषये इदं कथ्यते यत् 'कन्या परकीयधनम्' इति। महाकविकालिदासेनोक्तम् 'अर्थो हि कन्या परकीय एव'। कदाचित् इदमपि कथ्यते यत् नारी अबला अस्ति अर्थात् तस्याः उपरि दया कर्तव्या कदाचिदिदं यत् नारी गृहस्य शृङ्गारोऽस्ति अर्थात् नारीं विना गृहं श्रीहीनं भवति। कदाचित् सा पुरुषस्य सहचरीरूपेण वर्ण्यते। कदापि इदं न कथ्यते यत् नारी अपि मनुष्योऽस्ति, तस्या अपि स्वतन्त्रास्तित्वं वर्तते।

नाहं परकीयोऽर्थो नाप्यबला नो गृहस्य शृङ्गारः
पुरुषानुगता नाहं स्वतन्त्रमस्तित्वमेतन्मे।[80]

जगन्नाथसुभाषितस्य सामाजिकं सांस्कृतिकञ्चानुशीलनम् - प्रथमो भागः

कविवरपाठकस्य अन्यकृतिभ्यः जगन्नाथसुभाषितस्य सामाजिकं सांस्कृतिकञ्च मूल्यमधिकं वर्तते। अस्याः कृतेः प्रतीकयोजना प्रशंसनीया वर्तते, यथा कविः 'कविकुलगुरो! स्वदेशं प्रावृषि यदि भारतं त्वमागच्छेः!' इत्यस्मिन् शीर्षके देशस्य दशां वर्णयति।'हे घनश्याम' इत्यस्मिन्नपि शीर्षके अनेन प्रकारेण वैभवपूर्णमतीतं स्मरता विपन्नं वर्तमानं वर्णितमस्ति। 'सर्वज्ञः' इत्यत्र आम्रपालीमाध्यमेन नारीविमर्शो वर्णितोऽस्ति।'गङ्गायाः व्यथितम्' इत्यस्मिन् शीर्षके गङ्गामाध्यमेन जलप्रदूषणं वर्णितम्, 'अक्षयवटस्य व्यथा' इत्यत्र कालेन सह देशे समाजे चिन्तने च कियत् परिवर्तनं जातमस्ति इत्यस्य वर्णनमस्ति।'वाग्देवतायाः व्यथितम्' इत्यत्र शिक्षायाः व्यवसायीकरणं वर्णितं वर्तते।'काकानां व्यथितम्' इत्यत्र अस्पृश्यानां स्थितिः वर्णिता वर्तते तथैव 'पङ्कानां सुखम्' इत्यत्रापि। 'दीपावली' इत्यत्र कविः देशदशायामुपरि व्यथितो वर्तते। 'गजेन्द्रमोक्षः' इत्यत्र हस्तीनां दुर्दशा वर्णिताऽस्ति। 'मानवते' इत्यत्र विभिन्नैः उपमानैः मानवता वर्णिताऽस्ति। 'दिनेष्वेषु' इत्यत्र अस्माकं गौरवपूर्णवेदाध्ययनादेः परम्परायाः क्षरणम्, भ्रष्टाचारः, बुभुक्षा, प्रदूषणम् आदिविषया

[79] आर्या. ६५३
[80] आर्या. ६१९

वर्णिता वर्तन्ते। 'दाण्डीयात्रा' इत्यत्र महात्मागाँन्धिनः दाण्डीयात्रा वर्णिताऽस्ति। 'ग्रामटिका' इत्यस्मिन् ग्रामस्य मुग्धजीवनं वर्णितमस्ति। 'सम्मार्जनी' 'दलितप्रसङ्गः' इत्यनयोः समाजस्य स्वच्छकर्तृणां दलितजनानाञ्च चित्रणमस्ति।

द्वितीयो भागः
मनुष्यत्वम्

कविः मनुष्यत्वस्य चित्रणं निरुपाधिकं ब्रह्मरूपेण करोति यथा निरुपाधिकं ब्रह्म सर्वेषामाधारः तथैव मनुष्यत्वं सर्वेषां मानवानां परिचयस्य आधारोऽस्ति यथा - ईश्वरस्य पृथक् पृथक् नामानि सन्ति तथैव मनुष्याणामपि 'हिन्दुः' 'मुस्लिम' 'ईसाइ' इति बाह्यारोपोऽस्ति। वस्तुतः सर्वे मनुष्याः सन्ति। तेषां मध्ये कोऽपि भेदो नास्ति।

परिचय एको वस्तुत इतो मनुष्यस्य रे मनुष्यत्वम्।
मुस्लिम इति हिन्दुरिति क्रिश्चन इति बाह्य आरोपः।।[81]

वस्तुतः मनुष्ययोर्मध्ये कोऽपि भेदो न भवति तथापि देशस्य राष्ट्रस्य वा नाम्नि मनुष्याः परस्परं कलहायमानाः सन्ति। कविः इदृशमाकाङ्क्षते यत् देशस्य नाम्ना विद्यमानाः सर्वाः भित्तयः ध्वंसताम्, मनुजः वसुधामिमां कुटुम्बकं मनुताम्।

मध्यगता देशानां विध्वस्ताः सन्तु भित्तयः सर्वाः
वसुधामिमां कुटुम्बकमिति मनुतां वस्तुतो मनुजः।[82]

कविः समाजे असहिष्णुत्वं दृष्ट्वा व्यथितो वर्तते। अद्यत्वे सर्वत्र मनुष्याः धर्मजातिनाम्नि मनुष्यान् एव स्वशत्रुरूपेण पश्यन्ति। असहिष्णुत्वं प्रत्येकं जने व्याप्तं वर्तते। नगरेषु ग्रामेषु च सर्वत्र घृणा प्रसरति।

असहिष्णुत्वमिदानीं मन्ये प्रत्येकमिह जने व्याप्तम्।
नगरग्रामाः सर्वेऽग्निपरीता हन्त दृश्यन्ते।[83]

कविः कथयति यत् मानवता एव मनुष्यस्य मूलाधारोऽस्ति। तया विना मनुष्यः तथैव न शोभते यथा रूपे कोमलत्वे च सत्यपि सुरभिं विना पुष्पं न शोभते।

[81] जग. द्वितीयोभागः २६
[82] जग. द्वितीयोभागः ३३
[83] जग. द्वितीयोभागः ३६

मानवतया विरहितः स्पृहणीयो भवति मानवो नेह।
रूपवदपि कोमलमपि गन्धविरहितं प्रसूनमिव।[84]

संसारे नानाविधाः धर्माः सन्ति सर्वेषां धर्माणामाधारो मनुष्यत्वमेव। कोऽपि धर्मः मनुष्यत्वं विरुध्य नोपदिशति। अतः मानवधर्म एव श्रेष्ठोऽस्ति।

नानाविधेषु जगतः केषुचिदारोपितेषु धर्मेषु।
एकं मनुष्यधर्मं श्रेष्ठं स्वाभाविकं मन्ये।[85]

जगन्नाथसुभाषिते राष्ट्रवादः

कविवरपाठकस्य कृतिषु राष्ट्रप्रेम सर्वत्र प्राप्यते। तस्य राष्ट्रप्रेम्णि न केवलं स्वराष्ट्रस्य कल्याणभावना अस्ति अपितु विश्वशान्तिभावना अपि सन्निहिता वर्तते। कविः कथयति यत् यदपि अस्माकं देशः सुरक्षितः वर्तते तदपि भारतीयत्वं सुरक्षितं नास्ति। विश्वबन्धुत्वं भारतीयत्वस्य प्राणभूतमस्ति यत्तु अस्माकं संस्कृतौ प्राचुर्येण प्राप्यते।

कामं कियदप्यास्तां सुरक्षितं भारतं दिनेष्वेषु
असुरक्षितमस्माकं प्रतीयते भारतीयत्वम्।[86]

प्रत्येकं व्यक्तेः इदं कर्तव्यम् अस्ति यत् स राष्ट्रस्य कृते किमपि कुर्यात्। कविः कथयति यत् राष्ट्रं अस्माकं कृते किं न करोति। वयं स्वस्यैव राष्ट्रे गौरवमनुभवामः। राष्ट्रतः अस्माकमभिज्ञानं भवति अतः वयं सर्वथा राष्ट्रस्य ऋणग्रस्ताः स्मः।

तन्मन्ये बहु मह्यं यद् दत्तं मामकेन राष्ट्रेण।
खिन्नोऽस्मि चिन्तयित्वा किमपि न तस्मै मया दत्तम्।[87]

अद्यत्वे अस्माकं देशे प्रतिभापलायनस्य समस्या अस्ति। नागरिकाः स्वदेशे शिक्षां गृहीत्वा पात्रतां सन्धार्य केवलम् अधिकधनलाभाय वैदेशिकानां कृते कार्यं कुर्वन्ति। वैदिशिकाः तेषां प्रतिभां तेषामेव देशे विक्रीणन्ति। वस्तुतः इदं अस्य देशस्य दौर्भाग्यमस्ति।

---

84 जग. द्वितीयोभागः १०९
85 जग. द्वितीयभागः २८६
86 जग. द्वितीयोभागः ८९
87 जग. द्वितीयोभागः ९३

स्वां विद्यां विक्रीय क्रीडन्ति नु ये जना विदेशीयाम्।
धेनोः पयसः स्थाने पिबन्ति ते वस्तुतो मदिराम्।[88]

राजनीतिः

अद्यत्वे ईदृशो विचारः प्रचलति यत् राजनीतौ सर्वमौचित्यपूर्णं वर्तते। धर्मराजनीत्योः कश्चन सम्बन्धो न विद्यते। अयं दौर्भाग्यस्य विषयोऽस्ति यत् ईदृशी अनीतिः समाजं व्याप्नोति। नीतिं विना राज-नीतिः न सम्भवति। नीतिं विना राज-नीतिः केवलं चौर्यनीतिः नान्यत् किञ्चित्। कविः अस्मिन् विषये एव उत्प्रासमाध्यमेन प्रहरति -

नहि धर्मस्य क्षेत्रं क्षेत्रमिदं किमपि नैव नीतेश्च।
क्षेत्रे तु राजनीतेर्न धर्मनीत्योः कृतेऽवसरः।[89]

पुरा राजनीतिः सर्वेषां सुखाय आसीत् परञ्च अद्यत्वे धर्मविशेषस्य जातिविशे-षस्य वा कल्याणाय नीतयः निर्मीयन्ते। शेषवर्गाणां कृते केवलं शोषणं शिष्यते। कविः कथयति पुरा राजनीतिः गङ्गावत् आसीत् अधुना तु प्रदूषिता काकपेयात्वं गता अस्ति।

पूर्वमवर्तत बहुजनहिताय या राजनीतिविष्णुपदी
सम्प्रति सा सञ्जाता प्रदूषिता काकपेया च।[90]

राजनेतृणां हृदयं कुटिलं विद्यते ते सर्वथा जनसामान्यस्य अहितं कुर्वन्ति। राजनीतिः यादृशी दूषिता अस्ति यत् सज्जनाः तस्यां प्रवेष्टुमेव नेच्छन्ति। यः दुर्गु-णानामाकरः स एव नेता भवितुमर्हति।

प्राय इतो ये न्याय्यं समतिक्रम्य प्रयान्ति पन्थानम्।
बिभ्रति स एव सम्प्रति जनसामान्यस्य नेतृत्वम्[91]

88 जग. द्वितीयभागः २१४
89 जग. द्वितीयभागः १०१
90 जग. द्वितीयभागः १२६
91 जग. द्वितीयभागः १९४

अनेन प्रकारेण जगन्नाथसुभाषितद्वितीयभागस्य सामाजिकं सांस्कृतिकमनुशीलनं संक्षेपेण कृतं वर्तते। तृतीयभागे प्रायः त एव विषयाः पुनरावर्तिताः। अतः तृतीयभागस्य पृथग्रूपेण समीक्षा मया न कृता अस्ति।

शब्दसंक्षेपाः

1. कापि. - कापिशायनी
2. मृ. - मृद्वीका
3. पिपा. - पिपासा
4. विच्छि. - विच्छितिवातायनी
5. आर्या - आर्यासहस्राराममम्
6. जग. - जगन्नाथसुभाषितम्

सन्दर्भग्रन्थसूची

1. आर्यासहस्राराममम्, डॉ. जगन्नाथपाठकः, श्री कृष्णानन्दपाठकः, गङ्गानाथझा केन्द्रीय संस्कृतविद्यापीठ चन्द्रशेखर आजादपार्क इलाहाबाद, १९९५
2. कापिशायनी, डॉ. जगन्नाथपाठकः, डॉ. गयाचरण त्रिपाठी, गङ्गानाथझाकेन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठम् चन्द्रशेखरआजादपार्क इलाहाबाद्, १९८०
3. जगन्नाथसुभाषितम्, डॉ. जगन्नाथपाठकः, डॉ. बनमालीविश्वालः, कुलसचिवः राष्ट्रीयसंस्कृतसंस्थान नईदिल्ली, २०११
4. विच्छित्तिवातायनी, डॉ. जगन्नाथपाठकः, श्री अनिलकुमारपाठकः, कोटाटोली सासाराम बिहारः, १९९१
5. मृद्वीका, डॉ. जगन्नाथपाठकः, डॉ. गयाचरण त्रिपाठी, गङ्गानाथझाकेन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठम् चन्द्रशेखरआजादपार्क इलाहाबाद्, १९८३
6. पिपासा, डॉ. जगन्नाथपाठकः, डॉ. गयाचरण त्रिपाठी, गङ्गानाथझाकेन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठम् चन्द्रशेखरआजादपार्क इलाहाबाद्, १९८७

वाजसनेय प्रातिशाख्य में सन्धि प्रकरण - दीपिका टीका के आलोक में

पङ्कज कुमार शर्मा एवं ललित कुमार त्रिपाठी

वेदों में प्रतिपाद्य विषय को यथावत् रक्षण करने में एवं वेद की प्रत्येक शाखा के उच्चारण की परम्परा को अक्षुण्ण रखने में वेदाङ्ग सर्वथा उपकारक हैं। हम यह भी कह सकते हैं कि वेद की अर्थपरम्परा, श्रौतपरम्परा एवं उच्चारण परम्परा का रक्षण वेदाङ्गों के विना सम्भव नहीं है। अतः महाभाष्य में महर्षि पतञ्जलि कहते हैं -

ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोध्येयो ज्ञेयश्च ॥[1]

निरुक्तकार ऋषि पद की व्याख्या करते हुए स्पष्ट करते हैं कि श्रुतर्षि परम्परा तक वेदाङ्गों की इतनी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती थी, परन्तु मेधा के क्षीण होने के साथ- साथ वेदाङ्गों के अध्ययन को परमावश्यक कर दिया गया। वर्तमान में तो वेद की शाखा का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन अत्यन्त दुष्कर है।

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च ॥[2]

वेदों में प्रकृति पाठ एवं विकृति पाठ के सम्यक् उच्चारण के लिए वेदाङ्गों में शिक्षा एवं प्रातिशाख्य ग्रन्थों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रस्तुत लेख वाजसनेय प्रातिशाख्य से सम्बन्धित है। वाजसनेय प्रातिशाख्य शुक्ल यजुर्वेद की काण्व आदि 15 शाखाओं के लिए प्रयुक्त होता है। वर्तमान में 15 शाखाओं में काण्व एवं माध्यन्दिन दो ही शाखाओं की परम्परा अध्ययन-अध्यापन में दिखाई देती है। शेष शाखाओं की परम्परा लुप्त हो चुकी है।

वाजसनेयि प्रातिशाख्य पर 5 टीकाएँ प्राप्त होती हैं। जिसमें से एक टीका है दीपिका टीका। दीपिका टीका के कर्ता महाराष्ट्र के जुन्नर नगर के महायाज्ञिक वैदिक रामाग्निहोत्री हैं। इस टीका की विशेषता है कि टीकाकर्ता ने वाजसनेयि प्रातिशाख्य के मूलक्रम का अनुसरण न करते हुए नव्यव्याकरण की प्रक्रियानुरोधी शैली का अनुसरण करते हुए प्रकरण एवं सन्दर्भ के अनुसार सूत्रों का संकलन किया है। साथ ही साथ टीका में पुराण, धर्मशास्त्र, स्मृति, ब्राह्मणग्रन्थ, उपनिषद्,

---

1 म.भा. पस्पशाह्निक

2 निरु. 1/6/20

शिक्षाग्रन्थ आदि का यथास्थान उद्धरण देते हुए विषय को सरलतम रीति से स्पष्ट करने का प्रयास किया है। प्रकरणानुसार इस टीका को 13 अध्यायों में विभक्त किया गया है। मूल प्रातिशाख्य से इतर जटादि अष्टविकृतियों एवं शतपथ ब्राह्मण के स्वर व संस्कार के नियमों को विशेष रूप से 2 अध्यायों में जोडा है।

टीकाकार ने टीका के द्वितीय अध्याय से सप्तम अध्याय तक सन्धि प्रकरण को रखा है। अध्यायों का विभाजन अच् सन्धि, व्यञ्जन सन्धि, अङ्ग सन्धि, रिफित सन्धि, व्यञ्जनविकार सन्धि एवं व्यञ्जनविकारनियम सन्धि - इन नामों से किया है। अष्टम, नवम तथा दशम अध्याय में क्रमशः पदसन्धि, क्रमसन्धि एवं जटादि अष्टविकृतियों के प्रकरण को लिया है। अष्टम अध्याय से पद, क्रमादि सन्धियों को प्रारम्भ करते हुए टीकाकार कहते हैं -

असंस्कारान्तर्गतं सर्वं सन्ध्यादिकं निरूपितम्।
पदाश्रितं यतः सर्वं पदकार्यं निरूप्यते॥[3]

एकादश एवं द्वादश में स्वरों के बारे में तथा त्रयोदश अध्याय में ब्राह्मण ग्रन्थ के नियम कहे गए हैं। कात्यायनकृत भाषिकसूत्र के मूलक्रम का अनुकरण न करते हुए यहाँ भी टीकाकार प्रकरणानुसार सूत्रों को रखते हैं।

अच् सन्धि

व्याकरण की शैली से प्रभावित टीकाकार ने टीका के द्वितीय अध्याय को 'अथ अच् सन्धिः' नाम देते हुए स्वरों के लिए अच् प्रत्याहार का प्रयोग किया है, जब कि वाजसनेय प्रातिशाख्य में अच् के लिए सर्वत्र स्वर शब्द का प्रयोग किया गया है। इस अध्याय में टीकाकार ने प्रकृतिभाव सन्धि का अलग विभाग किया है।

इस अध्याय में प्रकरणानुसार मूल प्रातिशाख्य के प्रथम, तृतीय एवं चतुर्थ अध्याय के स्वर सन्धि से सम्बन्धित सूत्रों को संगृहीत किया गया है। प्रातिशाख्य के द्वितीय अध्याय में ग्रन्थकार ने स्वरसंस्कारयोश्छन्दसि नियमः॥[4] इस सूत्र के माध्यम से उदात्तादि स्वरों के नियम की प्रतिज्ञा की है, जिसे मूल प्रातिशाख्य के द्वितीय अध्याय में कहा जा चुका है। लोपागमादि संस्कारों का नियम 'संहितायाम्'[5] सूत्र के अधिकार में कहा गया है। टीकाकार ने अपनी टीका में इसी सूत्र से स्वर

[3] वा.प्रा. दीपिकाटीका अध्याय 8
[4] वा.प्रा., 1/1
[5] वा.प्रा., 3/1

सन्धि का विषय प्रारम्भ किया है। इस सूत्र का अधिकार मूल प्रातिशाख्य के सातवें अध्याय तक जाता है। सूत्रों के उदाहरणों में टीकाकार प्रचुर मात्रा में वेदमन्त्रों के उदाहरणों का प्रयोग करते हैं। वाजसनेयि प्रातिशाख्य के मूलक्रम का अनुसरण न करते हुए प्रकरण एवं सूत्र की व्याख्या में टीकाकार स्पष्ट करते हैं कि ये सन्धियाँ पदों के लिए हैं, वर्णों के लिए नहीं। क्योंकि प्रातिशाख्य पद को नित्य मान कर के ही नियम करता है। वह प्रातिशाख्य के प्रथम अध्याय में तिङ्, कृत्, तद्धित एवं समासरूप शब्दराशि स्वीकार करते हुए भी सन्ध्यादिकार्यों में इनकी अपेक्षा नहीं रखते हैं।

तिङ्कृत्तद्धितचतुष्टयसमासाः शब्दमयम्॥[6]

टीका में विशेषरूप से लिखते हैं -

अर्थपदपरिभाषेयम्। अर्थः पदमित्यष्टमे वक्ष्यति। तच्चार्थवत्पदमुच्यते। न पदावयवः। चतुर्विधञ्च तत्। नामाख्यातोपसर्गनिपातरूपम्।[7]

'असौ च शाकटायनः'[8] इस सूत्र की व्याख्या में मूलतः असौ पद का ग्रहण है। टीकाकार अथो पद का भी ग्रहण करते हुए कहते हैं -

तथा। सुप्रजास्त्वायचास्त्वा अथो इत्यथो। अनयो इति शेषं पूरयन्ति। अथो शब्दं वर्जयित्वेत्यर्थः।[9]

केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, गङ्गानाथ झा परिसर प्रयागराज से प्राप्त पाण्डुलिपि में यह पाठ देखने को मिलता है, अन्य में नहीं है।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य में पूर्वरूप सन्धि का प्रकरण अत्यन्त महत्वपूर्ण है। टीकाकार ने इस सन्धि के प्रकरण को 2 भागों में विभक्त किया है। कुछ सूत्रों को अच् सन्धि के अन्तर्गत ही रखा है तथा कुछ सूत्रों को अध्याय में ही 'अथ प्रकृतिभावः' नामक उपविभाग के अन्तर्गत रखा है।

एदोद्भ्यां पूर्वमकारः॥[10] सूत्र से प्रारम्भ करके अध्याय के अन्त तक इस सूत्र की अनुवृत्ति जाती है। प्रातिशाख्य में पाणिनीय व्याकरण की तरह गणपाठ जैसी कोई व्यवस्था नहीं है। पाणिनि जहाँ वैदिक प्रकरणों में अधिकांश 'छन्दसि बहुलम्' के माध्यम से विषय को आगे बढाते हैं, वहीं प्रातिशाख्यकार अपवादस्थलों

6 वा.प्रा. दीपिकाटीका सूत्रसंख्या 1/56
7 वा.प्रा. दीपिकाटीका सूत्रसंख्या 2/1
8 वा.प्रा. दीपिकाटीका सूत्रसंख्या 2/12
9 वा.प्रा. दीपिकाटीका सूत्रसंख्या 2/12
10 वा.प्रा. दीपिकाटीका सूत्रसंख्या 2/33

में प्रयुक्त वेदों के पदों की गणना करके उन पदों के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं। इस प्रकरण को हम तीन भागों में विभक्त देखते हैं - 1. याजुष् 2. ऋचा एवं 3. क्रमपाठ। क्रमपाठ में स्वतन्त्रतया व्याकरण के नियमों का पालन करते हुए सन्धि करने का नियम कहा है, वहीं ऋचाओं में पुरस्तादपवाद करते हुए सर्वप्रथम उदाहरणों की गणना की गई है। जैसे -

नोनुमोदुग्धा इव प्रचेतसोश्वान्नरोस्माकं वृषपाणयोश्वाः प्रदिशोनुदितेऽनागा अंधसोर्चा पनस्यतेद्धा यज्ञियेभ्योमृतत्वं विपश्चितोभिजनोनमीवा आयवोनुनोद्या देशे-भवद्वयुनेजनिष्ठ विद्मनापसोजायंत पूर्व्यासोरेणवोनोश्मानमोदितिर्नोहिः ॥[11]

आगे ऋचाओं में पूर्वरूप का निषेध किया जाएगा। अतः पूर्व में निषेध से अतिरिक्त सभी पदों का वाचन ग्रन्थकार ने 16 सूत्रों में किया है। आगे सूत्र के माध्यम से कहते हैं -

प्रकृतिभावऋक्षु॥ उक्तादन्यत्र ऋक्ष्वेदोद्भ्यां परोऽकारः प्रकृत्या भवति॥ उपप्रयन्तोऽअध्वरम्॥ आरे अस्मे च शृण्वते॥ त्रयो अस्य पादाः ॥[12]

इस सूत्र से पूर्व में उक्त स्थलों से अतिरिक्त स्थलों में प्रयुक्त ऋचाओं के उदा-हरणों में अभिनिधान का निषेध कहा गया है। याजुष् मन्त्रों के पदों में अभिनिधान का विधान करने के पश्चात् अपवाद स्थलों की गणना की गई है -

हेळ आपो गुवोपाग्ने धीरासो देवासो रक्षाणो मो वैश्वानरो वृषभो वचः प्राण उदानो अंग इमावृष्णो दशमास्योंध आवित्तोरिष्टः फल्गुनः प्रत्याश्रावं स्विष्टो घासे प्रणीस्तेभ्यो नमो अस्तु दूरे नो अद्य यज्ञे सधस्थे सो अध्वरायेंद्रो हिरण्यपर्णो द्वारो देवोब्दो रथिभ्यो महद्भ्यः संसदः ॥[13]

13 सूत्रों में अभिनिधान के प्रकृतिभाव को कहने के पश्चात् टीकाकार इस अध्याय में प्रगृह्य संज्ञा के अन्तर्गत आने वाले प्रकृतिभाव को कहते हैं।

व्यञ्जन सन्धि

दीपिका टीका के तृतीय अध्याय का नाम व्यञ्जन सन्धि है। इस अध्याय में कुल 34 सूत्र हैं। अध्याय का विभाजन 3 प्रमुख विभागों में किया गया है। प्रथम विभाग में व्यञ्जन की सामान्य सन्धियों का निरूपण है, द्वितीय विभाग में व्यञ्जनों के द्वित्व विधान एवं निषेध का प्रकरण है तथा तृतीय विभाग याज्ञवल्क्यशिक्षा में

[11] वा.प्रा. दीपिकाटीका सूत्रसंख्या 2/49
[12] वा.प्रा. दीपिकाटीका सूत्रसंख्या 2/53
[13] वा.प्रा. दीपिकाटीका सूत्रसंख्या 2/56

उक्त वर्णों के उच्चारण से सम्बन्धित सात प्रकार के संयोग पिण्डों के बारे में बताया गया है। संयोग पिण्ड का प्रकरण प्रातिशाख्य में वर्णित नहीं है। अतः टीकाकार ने याज्ञवल्क्य शिक्षा के उदाहरणों से विषय को स्पष्ट किया है।

भगवता याज्ञवल्क्येन सप्तविधाः संयोगपिण्डा उपदिष्टाः ॥
अयस्पिण्डो दारुपिण्ड ऊर्णापिण्डो ज्वालापिण्डो मृत्पिण्डो वायुपिण्डो
वज्रपिण्डश्चेति ॥ तल्लक्षणानि च।
सयमान् विद्यादयस्पिण्डान्त्सान्तस्थान्दारुपिण्डकान्।
अन्तस्थयमवर्जं तु ऊर्णापिण्डं विनिर्दिशेत् ॥
अन्तस्थयमसंयोगे विशेषो नोपलभ्यते।
अशरीरं यमं विद्यादन्तस्थं पिण्डनायकम् ॥
ज्वालापिण्डान्सनासिक्यान्सानुस्वारश्च।
सोपध्मानान्वायुपिण्डान् जिह्वामूले तु वज्रिणः ॥[14]

व्यञ्जनों की सन्धियों में सामान्यतया दो या दो से अधिक व्यञ्जनों का संयोग होता है। टीककार ने इस विषय को क्रमशः रखा है। सबसे पहले श्रुत्व आदि सन्धियों को कहने के पश्चात् व्यञ्जनों के संयोग से उत्पन्न द्वित्व विधान को प्रमुखता दी है। क्योंकि वेदमन्त्रों के उच्चारण में द्वित्व के उच्चारण को अत्यन्त गम्भीरता के साथ अभ्यास कराया जाता है। द्वित्व के उच्चारण को किस प्रकार किया जाए, इस विषय में याज्ञवल्क्य शिक्षा में विस्तारपूर्वक बताया गया है। टीकाकार पिण्डों के अन्तर्गत यमों का प्रकरण आने पर वा. प्रातिशाख्य के सूत्रों से विशेषतः यमों के उच्चारण पर विचार करते हैं। औदव्रजि के वाक्यों को स्मरण करते हुए लिखते हैं -

नारदश्च भवेत्पूर्वां सत्यश्च परतो यदि।
तत्र मध्ये यमस्तिष्ठेत्सवर्णः पूर्ववर्णयोः ॥
वर्गान्त्याः छषसैः सार्द्धमन्तस्थैश्चापि संयुतात्।
दृष्ट्वा यमा निवर्तन्ते आदेशिकमिवाधगाः ॥[15]

यम पर विशेषरूप से कहने के पश्चात् द्वित्व के निषेध को कहते हुए अध्याय को पूर्ण करते हैं।

अङ्ग सन्धि

व्यञ्जनों का उच्चारण स्वरों की सहायता के विना सम्भव नहीं है। अतः प्रत्येक व्यञ्जन किसी न किसी स्वर का ही अङ्ग होगा। असंयुक्त अक्षरों में तो स्वर

[14] वा.प्रा. दीपिकाटीका सूत्रसंख्या 3/3.2
[15] वा.प्रा. दीपिकाटीका सूत्रसंख्या 3/20

के साथ ही व्यञ्जन स्पष्टतया उच्चरित होते हैं परन्तु संयुक्ताक्षरों में कौन व्यञ्जन किस स्वर का अङ्ग होगा ये व्यवस्था वाजसनेयि प्रातिशाख्य के प्रथम अध्याय में स्पष्टतया प्रतिपादित है। चूँकि वेदमन्त्रों के उदात्तादि स्वरों को हाथ से[16] प्रदर्शित किया जाता है। तथा उदात्तादि स्वरों को अकारादिस्वरों के अनुसार ही सञ्चालित किया जाता है।

सममुच्चारयेद्वर्णान् हस्तेन च मुखेन च।
स्वरश्चैवाथ हस्तश्च द्वावेतौ युगपत्स्थितौ॥
हस्तभ्रष्टः स्वरभ्रष्टो न वेदफलमश्नुते॥[17]

प्रातिशाख्यकार भी कहते हैं -

व्यञ्जनं स्वरेण सस्वरम्॥[18]

अतः टीकाकार ने इस प्रकरण को महत्त्व देते हुए पृथक् अध्याय में इस विषय को प्रतिपादित किया है। शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा में स्वरभक्ति का उच्चारण भी विशेष महत्व रखता है, जिसके बारे में प्रातिशाख्य में तो विशेष व्याख्या प्राप्त नहीं होती है परन्तु याज्ञवल्क्य शिक्षा में इस पर विस्तार पूर्वक चर्चा की गई है -

करिणी कुर्विणी चैव हरिणी हारिणी तथा।
या तु हंसपदानाम पंचैताः स्वरभक्तयः॥[19]

यह प्रकरण शुक्लयजुर्वेद के अध्येताओं के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

रिफित सन्धि

यह दीपिका टीका का पञ्चम अध्याय है। प्रातिशाख्य रिफित संज्ञक विसर्ग का प्रकरण विसर्ग के विकार को विशेष रूप से प्रतिपादित करता है। सामान्यतया याज्ञवल्क्य शिक्षा में ऊष्मा (विसर्ग) की 8 प्रकार की गति बतलाई गई है -

ओभावश्च विवृत्तिश्च शषसा रेफ एव च।
जिह्वामूलमुपध्मा च गतिरष्टविधोष्मणः॥[20]

16 हस्तेन ते (वा.प्रा. दीपिकाटीका सूत्रसंख्या 11/5)
17 या.शि., 23,24
18 वा.प्रा. दीपिकाटीका सूत्रसंख्या 4/12
19 या.शि., 99,100
20 या.शि., उ. 143

प्रमुखतः विसर्ग के विकार को 2 तरह से देखा जाता है। प्रथम कण्ठ्योपध विसर्ग तथा दूसरा अकण्ठ्योपध विसर्ग। वेद में कुछ स्थल ऐसे भी हैं, जिनमें कण्ठ्योपधविसर्गों में अकण्ठ्योपधविसर्ग की तरह कार्य होते हैं। इसी प्रकरण को टीकाकार ने 'अथ रिफितसन्धिः' के नाम से पृथक् उल्लेख किया है। इस प्रकरण में कुल 9 सूत्र हैं तथा कुल 24 शब्दों की रिफित संज्ञा की है। टीका के षष्ठ अध्याय के प्रथम सूत्र[21] के अधिकार में आए रिफित संज्ञक विसर्गों के लिए विशेष विधान बतलाया गया है।

व्यञ्जनविकार सन्धि एवं व्यञ्जनविकार नियम सन्धि

दीपिका टीका के षष्ठ अध्याय में व्यञ्जन सन्धि से सम्बन्धित व्यञ्जनों के विकार का विधान करने वाले सूत्रों का सङ्ग्रह टीकाकार ने किया है। इस अध्याय में कुल 102 सूत्र हैं, जिसमें तृतीय अध्याय के 90 सूत्र तथा चतुर्थ अध्याय के 12 सूत्र हैं। आदि के 11 सूत्रों में रिफित एवं अरिफित संज्ञक विसर्ग का विशेष विधान है। इसके विसर्जनीयः ॥[22] सूत्र के अधिकार में विसर्ग के विकार से सम्बन्धित उत्सर्ग एवं अपवाद के कुल 36 सूत्रों का वर्णन है।

टीका के सप्तम अध्याय का नाम 'अथ व्यञ्जनविकारनियमसन्धिः' है। इस अध्याय में कुल 105 सूत्रों का सङ्ग्रह है, जिसमें तृतीय अध्याय के 56 सूत्र, चतुर्थ अध्याय के 42 सूत्र, प्रथम अध्याय का 1 सूत्र तथा षष्ठ अध्याय के 6 सूत्र हैं। टीकाकार अध्याय को प्रारम्भ करते हुए कहते हैं -

विसर्जनीय इत्युपक्रम्य व्यञ्जनसंधौ लोपागमवर्णविकाराः प्रतिपादिताः ॥ अधुना स्वरव्यञ्जनसन्धौ स्वरविकार उच्यते ॥[23]

टीकाकार 'पदान्तपदाद्योः सन्धिः'[24] की वृत्ति में लिखते हैं - यः सन्धिः सपदान्तपदाद्योर्वेदितव्यः ॥ सन्धिश्चतुर्विधा ॥ स्वरयोः व्यञ्जनयोः स्वरव्यञ्जनयोः व्यञ्जनस्वरयोश्च ॥[25] पूर्व के अध्यायों में स्वर सन्धि, व्यञ्जन सन्धि तथा व्यञ्जनस्वर सन्धि का निरूपण किया जा चुका है। इस अध्याय में स्वरव्यञ्जन सन्धि में प्राप्त उत्सर्ग सूत्रों के अपवाद सूत्रों का प्राधान्य है। अतः इस अध्याय का नाम व्यञ्जनविकार-

---

21 भाव्युपधश्चरिफिद्विसर्जनीयः ॥ वा.प्रा. दीपिकाटीका सूत्रसंख्या 6/1

22 वा.प्रा. दीपिकाटीका सूत्रसंख्या 6/14

23 वा.प्रा. दीपिकाटीका सूत्रसंख्या 7/1

24 वा.प्रा. दीपिकाटीका सूत्रसंख्या 2/2

25 वा.प्रा. दीपिकाटीका सूत्रसंख्या 2/2

नियम सन्धि रखा गया है। दीर्घम्॥[26] सूत्र के अधिकार में 33 सूत्रों के माध्यम से पूर्व पद को दीर्घ करने का विधान तथा निषेध है। गणपाठ के अभाव में ग्रन्थकार सूत्र के लाघव की ओर ध्यान न देते हुए पदों का विस्तारपूर्वक उच्चारण करते हैं -

पिबा सोमं पिबा सुतस्य स्था मयोभुवो नू रणे शमीष्व मामहानो मामहन्ताम-शीतम रीरिषो रीरिषत यामयन्ति हि ष्मा ते वर्धया रयिं श्रुधी हवञ्चरा सोम सूयवसिनी श्रोता ग्रावाणो धर्षा मानुषः पाथा दिवो युक्ष्वा हि गमया तमः सिञ्चता सुतम्परीवाप उक्था शस्त्राण्यत्ता हवींष्याच्या जानु क्षामा रेरिहत् क्षामा भिन्दन्तो रुहेमा स्वस्तये जनयथा च धारया मयि तरा मृधो बोधा मे विचृता बन्धमवता हवेषु श्रृणुधी गिरो रक्षा तोकञ्चर्षणीसहाञ्चर्षणीधृतो येना समत्सु वनेमा त ऋध्यामा ते शिक्षा सखि-भ्यस्तन्ना रथन्दीया रथेनेता जयत वर्धया त्वं प्रब्रवामा घृतस्याजगन्था परस्या ररिमा हि पुरीतता प्लीहाकर्णशुण्ठाकर्णौ प्रकृतिदीर्घावित्येके नीकाशा अनूकाशेन चक्रा जरसम्मिथू कस्तरता सखायः सासह्वानपामार्गोभयादत ऋतीषहमभीषु सुष्टरीमा जु-षाणा यजादेवान् येना पावकाश्चायन्तो यदी सरमा स्वदया सुजिह्व निषद्या दधिष्व सदतना रणिष्टन भरा चिकित्वाँश्चिकित्सा गविष्टाववाददद्रक्षा चायुनक् सृजा ररागः सादन्यमिति च।[27]

इस सूत्र में कुल 78 पदों का संग्रह है। इस प्रकार टीकाकार ने सन्धियों से सम्बन्धित मूल प्रातिशाख्य में विभिन्न स्थलों पर भिन्न अध्यायों में आए सूत्रों को प्रक्रिया एवं उपयोग की दृष्टि से 6 अध्यायों में विभक्त कर निश्चित रूप से अध्येताओं के लिए सुगमतापूर्वक प्रातिशाख्यगत विषय को समझाने के लिए महनीय प्रयास किया है।

शब्दसंकेत

1. म.भा. - महाभाष्यम्
2. निरु. - निरुक्तम्
3. वा.प्रा. - वाजसनेयि प्रातिशाख्य
4. याज्ञ. - याज्ञवल्क्य शिक्षा

[26] वा.प्रा. दीपिकाटीका सूत्रसंख्या 7/1
[27] वा.प्रा. दीपिकाटीका सूत्रसंख्या 7/34

सन्दर्भग्रन्थसूची

1. ऋग्वेद प्रातिशाख्य, मंगलदेव शास्त्री, वैदिक स्वाध्याय मण्डल, वाराणसी, 1959
2. ऋग्वेद संहिता, वै. काशी. राजवाडे, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, १९४१
3. काण्व संहिता, रत्नगोपाल भट्ट चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९६५
4. चरणव्यूह, श्री किशोर मिश्र, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2014
5. निरुक्त, यास्काचार्य, निर्णयसागर मुद्रण यन्त्रालय, 1930
6. पाणिनीय अष्टाध्यायी, ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, प्यारेलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर, १९६४
7. पाणिनीय शिक्षा, शिवराजाचार्य चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2012
8. महाभाष्य, महर्षि पतञ्जलि, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, 1982
9. याज्ञवल्क्य शिक्षा, अमरनाथ शास्त्री, दीक्षितकृष्ण वर्मापशुपतीश्वर, वाराणसी, १९६२
10. वाजसनेय प्रातिशाख्य, डॉ. वीरेन्द्र वर्मा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, वाराणसी, 2015
11. वाजसनेय प्रातिशाख्य, दीपिकाटीका, रामाग्निहोत्री, पाण्डुलिपि, 1802
12. शुक्लयजुर्वेद संहिता, वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई, १९२१

विभिन्नशास्त्रनुसारं स्फोटविमर्शः

पशुपतिनाथमिश्रः

स्फोटसिद्धान्तस्य प्रवर्तकः स्फोटायन इति यद्यपि नागेशहरदत्तादिभिः कथ्यते, तथापि स्फोटसिद्धान्तप्रतिद्वन्द्विनां दर्शनान्तरानुयायिनां विशेषश्रद्धां भर्तृहरेः उपर्येव आसीत्। नैयायिकानां मते सः परमाणुः, वेदान्तिनां ब्रह्म, तथा शाब्दिकानां स्फोटसिद्धान्तः विख्यातः। अमुं स्फोटमभिलक्ष्य विभिन्नशास्त्रेषु विभिन्नानि मतानि प्रतिपादितानि। तेषु मुख्यप्रतिद्वन्द्विनः नैयायिकाः मीमांसकाः वेदान्तिनश्च सन्ति। पातञ्जलयोगदर्शने पदस्फोटस्य वाक्यस्फोटस्य च वाचकत्वं स्वीकृत्य वर्णानां वाचकत्वं प्रत्याख्यायते।

स्फोटविमर्शः मीमांसकमते -

स्फोटविषये मुख्यप्रतिद्वन्द्विरूपेण मीमांसकाः सन्ति। मीमांसासूत्रस्य शबरभाष्ये[1] यदि स्फोटसिद्धान्तः स्वीक्रियते तर्हि स्वेषां सिद्धान्तस्य मूलाधार एव विहन्येत इत्यतः मीमांसकैः स्फोटसिद्धान्तः निराकृतः इति स्पष्टीक्रियते। मीमांसकाः वर्णानां वाचकत्वं वाञ्छन्ति। शबरभाष्ये[2] कः शब्दः इति प्रश्नमुद्भाव्य शिक्षाकाराणां मतमेव अनूद्यते - शिक्षाकाराः अपि एवमाहुः वायुरेव आपद्यते शब्दताम् इति।[3] वायुरेव शब्द इत्याशयः। परन्तु अयं शब्दानित्यत्ववादः मीमांसकानां न स्वीकार्यः। मीमांसकास्तु शब्दनित्यतायां विश्वसन्ति।

आशयोऽयं व्यक्ततया शबरेण उपपाद्यते - अथ गौरित्यत्र कः शब्दः? गकार-औकार-विसर्जनीयाः इति भगवानुपवर्षः[4] इति। अमुना कण्ठताल्वाद्यभिघातानां श्रवणेन्द्रियविषयाणां वर्णानामेव शब्दत्वं वाचकत्वं चेति अवगम्यते। तथा च भाष्यम् - श्रोत्रग्रहणे हि अर्थे लोके शब्दशब्दः प्रसिद्धः इति।[5] अन्यस्मिन् दिने अनुभूतस्य अद्य अनुभूयमानत्वे सोऽयं गकारः इति प्रत्यभिज्ञया तावत्कालं स्थिरत्वे सिद्धे तावत्कालं स्थिरं चैनं कः पश्चात् नाशयिष्यतीति[6] न्यायात् अन्योत्तोच्चरितप्रध्वंसित्वप्रतिद्वन्द्विभावात् मन्यन्ते वर्णाः नित्याः इति। सर्वदेशेषु तदुपलम्भात् तस्य विभुत्वम्, लाघवादेकत्वञ्च। कुमारिलभट्टेनोच्यते - शब्दाः अस्माभिः श्रूयमाणा एव स्फोटः नास्माभिः श्रूयते इत्यतः नैतत् शब्द इति। यदा वर्णानां साहित्यं

---

1 मी.सू. 1-1-5
2 मी.सू.1-1-22
3 श.भा.1-1-22
4 श.भा.1-1-5, 1-11-5
5 श.भा.1-12-5
6 श्लो.वा.श्लोक 366 पृ-733

तदानीमेव तेषां अर्थबोधकसामर्थ्याभिप्रायेण पदम् इति वा शब्द इति वा अभिधीयते। तस्मात् एकैकोपि शब्दः वर्णानां समुच्चयः एकं पदार्थं बोधयति। अतः शब्दशब्दवाच्योऽसौ कथं अर्थप्रत्यायकः स्यात् इति चेत् न, शब्दादेव अर्थप्रतीतेः सर्वलोकसम्मतत्त्वात्। अथ वर्णानां यौगपद्यं कथमिति मीमांसकैः वर्ण्यते। द्वितीयवर्णस्य उच्चारणे प्रथमवर्णस्य उपरतिर्भवतीत्यतः वर्णानां यौगपद्यम् अशक्यमित्येतत् मीमांसकैरपि स्वीक्रियते। अतः शीघ्रविनाशिनां साहित्यासम्भवात् कथमर्थबोधकत्वमिति चेत् संस्कारेणेति। यद्यपि पूर्वोत्तरवर्णानां यौगपद्यमसाध्यं तथापि क्रमेणानुभूयमानाः वर्णाः तेषां संस्कारान् मतौ विक्षिपन्ति, ते च संस्काराः एव एकमर्थं जनयन्ति। नन्वेवं सति तत्र बहुवचनापत्तिः स्यादिति चेत् तत्रोच्यते भाष्यकारेण – पूर्वपूर्ववर्णजनितसंस्कासहितोऽन्त्यो वर्णः प्रत्यायकः इति।[7] अनेन अन्त्यवर्णस्यैव प्रत्यायकत्वं ज्ञायते। तस्मात् शब्दादिषु एकवचनत्वमप्युपपद्यते। तथा चोक्तं श्लोकवार्त्तिके -

यदि वा पूर्वसंस्कार इतिकर्तव्यतेष्यते।
वर्णोऽन्त्यो गमकस्तस्य शब्दत्वान्मुख्यतया भवेत्।।[8]

तद्यथा गौरित्यत्र गकार-औकारयोः संस्कारौ, अन्त्यवर्णस्य विसर्गस्य प्रत्यक्षवेलायां यथाक्रमं न विद्येते, चेत् तस्मात् गोशब्दार्थज्ञानं नैव लभ्यते। तस्मात् पूर्वपूर्ववर्णानां क्रमिकसंस्कारप्रतिपत्त्यर्थं मीमांसकाः संस्काराणामपि विशेषशक्तिं कल्पयन्ति। स्फोटवादिना अपि शब्दतत्त्वं कल्पयित्वा पुनः संस्कारकल्पना अवश्यं करणीयेति निगदन्ति। ध्वनयो हि प्रत्येकं स्फोटमभिव्यञ्जयन्ति, यौगपद्यं तु क्रमवर्तिनां संस्कारद्वारेणेति तेषामेव तत्कल्पनमावश्यकमस्ति। स्फोटवादिनः स्फोटसद्भावः, वर्णेभ्यश्च व्यतिरेकः सावयवे पदे ज्ञायमाने निरवयवत्वमिति कल्पना स्यादिति गौरवमप्यस्ति इति मीमांसकाः। तस्मात् वर्णाः एव वाचकाः सन्ति, तदरिक्तः स्फोटो न युक्तिसिद्ध इति ते स्पष्टयन्ति।

मीमांसकानां वादं विरुध्य वैयाकरणाः एवं ब्रुवन्ति - शब्दस्यैकत्वं वा एकबोध्यतात्वं वा समर्थयितुं मीमांसकाः अशक्ताः इति। एकैकवर्णसंस्कारः क्रमं बोधयितुमसमर्थोऽस्ति। पदे स्थिताः घटकवर्णाः केवलं श्रुतवर्णानां स्मृतिबोधने समर्थाः सन्ति। परन्तु वर्णानां क्रमं बोधयितुं ते न पारयन्ति। येन क्रमेण विषयाः अनुभूयन्ते तेनैव क्रमेण ज्ञायन्त इति तु प्रमाणविरहितमेकैकशो दृष्टेष्वपि घटेषु सहस्रं घटाः इति समुदितस्यैव स्मरणात्, क्रमेण स्मरणाभावात्। उक्तरीत्या व्युत्क्रमेऽपि वर्णानां संस्कारः सम्मानो भूयात्। अतः स्फोटसिद्धान्तं ये न मन्यन्ते, तेषां जरा-राज

[7] श.भा.1-1-5

[8] श्लो.वा. श्लोक 130 पृ-572

नदी-दीनः इत्यादौ अर्थविशेषो नैव प्राप्नोति। क्रमः इत्येतत् उच्चारणश्रवणयोः बाह्यस्वभाव एव, तस्य वर्णान् वा संस्कारान् वा बाधयितुं वा परिवर्तयितुं शक्तिर्नास्ति। मीमांसकनये ध्वनीनां वा वर्णानां वा क्रमकल्पनम् असाध्यमेव। यतोहि तेषां मते वर्णाः विभवः नित्याश्च।

मीमांसकाः तु पूर्वोक्ताक्षेपानुद्दिश्य एवं समादधते - यदा वक्त्रा निश्चितक्रमेण पदावयवाः वर्णाः उच्यन्ते तदा श्रोत्रा तेनैव क्रमेण श्रूयन्त इति। निश्चितक्रमेणोच्चार्यमाणाः तेनैव क्रमेण श्रूयमाणाश्च वर्णाः संस्कारानुत्पादयन्ति। ते च संस्काराः अन्त्यवर्णेन सह अर्थं बोधयन्ति इति। इदमपि समाधानं वैयाकरणैः नाश्रीयते। संस्काराः अर्थबोधे हेतवो न भवन्ति। संस्कारस्य स्मृतिजननसामर्थ्यमेव भवति, न तु अर्थजननसामर्थ्यम्। किञ्च संस्कारस्य अयं स्वभावो यत् सः ज्ञानविषयीभूतस्य वस्तुनः एव स्मृतिमुत्पादयति। यतोहि वर्णाः स्वयं न अर्थबोधकाः सन्ति। तस्मात् तेषां संस्काराणाम् अर्थबोधने अधिकशक्तिकल्पनम् असाध्यमेवेति वैयाकरणाः। मीमांसकैः एवं समाधानं प्रदीयते - संस्कारः स्वयं न अर्थं बोधयति, परन्तु पूर्वपूर्ववर्णसंस्कारसहितान्त्यवर्णः सर्ववर्णानां यौगपद्ये हेतुर्भवति। तदेव अर्थं बोधयतीति। मीमांसकमते वर्णानां नित्यत्वात् तेषां क्रमाभिव्यक्तिः नैव युज्यते, इति आक्षेपे समाधानं प्रदीयते - यद्यपि नित्यानां वर्णानां क्रमिकत्वं कल्पयितुं न शक्यते, तथापि अभिव्यज्यमानानां वर्णव्यक्तीनां क्रमिकत्वे न दोष इति। अतः चोक्तं भाष्ये ततो नित्यप्रत्ययसामर्थ्यात् प्रयत्नेनाभिव्यज्यते, यथा घटादेर्दीपादिरभिव्यञ्जक इष्यते, चक्षुषोऽनुग्रहादेवं ध्वनिः स्यात् श्रोत्रसंस्कृतेरिति। कार्याणाञ्च वस्तूनाम् उत्पत्तिः, नित्यानामभिव्यक्तिश्चेष्यते अभिव्यक्तिवादिनः मीमांसकाः। तस्मात् स्फोट इति कस्याश्चित् अखण्डसत्तायाः स्वीकारः नावश्यक इति मीमांसकाः।

परन्तु वैयाकरणाः एतदपि खण्डयन्ति। संस्कारस्य शक्तिकल्पनमपेक्ष्य स्फोटस्वीकार एवातीव युज्यते इति ते ब्रुवन्ति। यतोहि अयमेव शब्दैकत्वं वाक्यैकत्वञ्च सयुक्तिकमभिवक्ति। पदैकत्वं वा वाक्यैकत्वं वा अर्थस्य एकविषयपरताम् आश्रित्यैव तिष्ठति इति मीमांसकमतम्, अन्योन्याश्रयदोषसत्त्वात् वैयाकरणैः निराक्रियते।

वाचस्पतिमिश्रस्य मतम् -

वाचस्पतिमिश्रः तत्त्वबिन्दुनामके स्वग्रन्थे, स्फोटसिद्धान्तं स्वीकृत्यैव पदस्य वाक्यस्य च एकत्वम् आश्रयति। तन्मतमनुसृत्य स्फोटसिद्धान्ते स्वीक्रियमाणे सति वर्णाः स्फोटात् पृथगिति स्वीक्रियते तदा एकोऽपि वर्णः अर्थबोधने पर्याप्तः स्यात्। इत्थं प्रकारेण अन्ये वर्णाः निश्चयेन व्यर्थतां गच्छेयुः। एवं वर्णाः यदि

स्फोटात् भिन्नाश्चेत् ते कथं स्फोटमभिव्यञ्जयन्ति? किञ्च कथं स्फोटाभिव्यञ्जनेन ध्वनिः सम्बन्धयितुं शक्यते? तद्वत् स्फोटः क्रमेण अभिव्यज्यते इत्याशयोऽपि न युज्यते। यतोहि स्फोट इत्येतत् अखण्डत्वेन भागरहितत्वेन च वैयाकरणैः स्वीक्रियते। वर्णानां श्रवणोत्तरं जायमानात् पदज्ञानादेव पदस्य वाक्यस्य वा अर्थबोधो जायते इत्यतः भागविरहितस्य स्फोटस्य प्रसक्तिरेव नास्ति इत्युक्त्वा वाचस्पतिमिश्रेण स्ववादः सङ्क्षिप्यते।

किञ्च वैयाकरणद्वारा अस्य वाचस्पतिमिश्रस्य वादस्य खण्डनमकारि। स्मृतिः अनुभवमनुगच्छति इत्यतः श्रवणसमये वर्णानामानुपूर्व्यमनुभूयते इत्यतश्च वर्णानाम् आनुपूर्वीक्रमो बुद्धौ वर्तते, इत्येतादृशवादः वाचस्पतेः न युक्तिसहो भवति इति वैयाकरणाः वदन्ति। यतः वर्णानां नित्यत्वात् विभुत्वात् च तेषां क्रमाभिव्यक्तिः नास्त्येव, तस्मात् एकस्मिन्नेव वस्तुनि एकभागस्य श्रवणम् अपरस्य स्मरणमित्येतद् अयुक्तमेव। उच्चरितक्रमेणैव वर्णाः स्मर्यन्ते, इति वादार्थं स्वीक्रियते चेदपि, कथं तेषां युगपद् स्मरणम् अस्मद्बुद्धौ भवति इत्येतस्य समाधानम् अनुक्तत्वेन तिष्ठति।

कुमारिलभट्टस्य मतम् -

मीमांसककुमारिलभट्टेन स्फोटसिद्धान्तं तिरस्कृत्य वर्णानां वाचकत्वमुपस्थाप्यते। स ब्रवीति यत् वर्णानां वाचकत्वस्थापने मीमांसकद्वारा ये ये क्लेशा अनुभूयन्ते, तादृशक्लेशाः स्फोटसिद्धान्तस्वीकारेऽपि वर्तन्त इति। वर्णाः प्रत्येकं वा युगपद्वा स्फोटमभिव्यञ्जयन्ति? इति कुमारिलेन चोद्यते। एवं प्रत्येकं वर्णानां स्फोटाभिव्यञ्जकत्वं वक्तुं न शक्यते। यतोहि यद्येको वर्णः स्फोटाभिव्यञ्जने समर्थश्चेत् तर्हि अन्ये वर्णाः व्यर्थतां प्रति गच्छन्ति इति कुमारिलभट्टः आक्षिपति। कुमारिलभट्टस्य अयं वादो वैयाकरणाः सयुक्तिपूर्वकं खण्डयन्ति। ते एवमाहुः - प्रथमवर्णश्रवणवेलायामेव स्फोटस्य अभिव्यक्तिर्भवति। परन्तु निर्विकल्पकेन - इति। द्वितीयादिवर्णानां श्रवणेन व्यक्ततरो जायते। अन्त्यवर्णश्रवणे सति सविकल्पकेन स्फोटः अभिव्यज्यते। तस्मात् मीमांसकानाम् आक्षेपः निराधार एवेति वैयाकरणाः।

उपवर्षस्य मतम् -

स्फोटविषये भगवतः उपवर्षस्य मतं गौरीनाथशास्त्रीः स्पष्टयति। उपवर्षमते वर्णाः न क्षणिकाः, यतोहि प्रत्यभिज्ञानवेलायां पूर्वदृष्टसदृशोऽयम् इति न बोधः, परन्तु तदेवेदम् इत्येव बोधः। तस्मात् वर्णाः नित्याः। अमुमाशयं वाचस्पतिः एवं ब्रवीति- गौः इति शब्दस्योच्चारणं सहस्त्रीधिकवारमस्माभिः क्रियते चेदपि प्रत्युच्चा-

रणं भिन्न इति बोधो न जायते, नापि सदृश इति। परन्तु प्रतिवारमस्माभिः समान एव वर्णः उच्चरितः इत्येव बोधः। तद्वत् यदि एकस्याः गोः दर्शनानन्तरम् अपरा अवलोक्यते तदा न कदापि कथ्यते यत् अस्माभिः प्रथममवलोकिता गौः एव अनन्तरं दृष्टा इति। परन्तु प्रथमसदृशेयम् इत्येवं कथयितुं शक्यते। अत एव उपवर्षेण मन्यते यत् भिन्नेषु समयेषु एकस्य वर्णस्योच्चारणं क्रियते चेदपि मिथः न भिद्यते इत्यतः वर्णानाम् आशुविनाशित्वकल्पना अन्याय्या एवति।[9]

उपवर्षस्य अमुं वादं वैयाकरणाः निराकुर्वन्ति। इत्थं - यदि वर्णाः नित्याः तदा केन वर्णसमुदायेन कोऽर्थः बुध्यते इति निर्णयः क्लिष्ट एव। तद्वत् कालाभिप्रायेण समयाभिप्रायेण देशाभिप्रायेण वा वर्णानामानुपूर्व्यं वक्तुं न शक्यते, तेषां नित्यत्वादिति।

शबरस्य मतम् -

शबरस्तु उपवर्षसिद्धान्तस्य आधिकारिकतां स्वाभिमतत्वेन प्रकाशयति। तदनुसृत्य शब्द इत्यस्य वर्णा इत्येव अर्थः, न तु स्फोट इति।[10] परन्तु पदस्य वर्णबोधकत्वं नास्ति, वर्णबोधकत्वे तस्य अर्थबोधकत्वं कथयितुमशक्यम्, एकस्य एकत्रैव शक्तिः इति न्यायात् वर्णस्य कथं वर्णबोधकत्वमित्यतश्च। ततः वर्णाः प्रत्येकमर्थं बोधयन्ति युगपद् वा? तत्र प्रथमपक्षः अस्वीकार्य एव। यतोहि अन्यतमस्य वर्णस्यानुभवेन अर्थबोधस्य अनुभवविरुद्धत्वात्। द्वितीयपक्षोऽपि न, वर्णानामाशुविनाशित्वात् युगपदुच्चारणस्य अशक्यत्वात् च एकार्थबोधकसामर्थ्यं वक्तुं न शक्यते। शबरस्य मते एकैकोऽपि वर्णः प्रत्येकं संस्कारं जनयति, तत्तु चरमवर्णप्रत्यक्षपर्यन्तं तिष्ठति। भिन्नभिन्नसंस्कारैः सह अन्त्यवर्णेन उत्पाद्यमानः शब्दः अर्थबोधने समर्थो भविष्यति। वर्णाः अनेकान् अपूर्वान् जनयन्ति इति शबरः।

शबरस्य अयं वादो वैयाकरणैः निराक्रियते। यतोहि अस्मिन् वादे प्रत्यक्षेण प्राप्ताः, न कदापि प्रत्यक्षं भवति, किन्तु कार्यात् अनुमीयते। तस्मात् अर्थज्ञानाभावे एकैकस्यापि वर्णस्य प्रत्यक्षेण एकः संस्कारो जन्यते, इत्येतत् ज्ञातुं न शक्यत एव। तस्मात् शबरमते अन्योन्याश्रयदोषोऽनिवार्यः। तथाहि अत्र कार्येण कारणानि अनुमीयन्ते। एवं कारणेनैव कार्यो जन्यते। तस्मात् अयमन्योऽन्याश्रयः। पूर्वमीमांसाशास्त्रस्य प्रारम्भिकाचार्येषु प्रमुखोऽस्ति मण्डनमिश्रः। मण्डनमिश्रस्तु अखण्डसत्तारूपेण वैयाकरणानां स्फोटसिद्धान्तं स्वीकरोति। स एव मीमांसककुमारिलभट्टस्य मुख्यप्रतिद्वन्द्वी भूत्वा तदुक्ताक्षेपाणां समाधानं दत्वा स्फो-

[9] श.भा.पृ- 325
[10] न्या.मं.-पृ 189

टसिद्धान्तं प्रतिष्ठापयति स्फोटसिद्धिनामके स्वग्रन्थे। यद्यपि अनेन भाषाशास्त्रदृष्ट्या स्फोटस्य अस्तित्वमङ्गीक्रियते तथापि तेन अयं स्फोटः शब्दब्रह्मत्वेन न स्वीक्रियते।

स्फोटविषये नैयायिकाः -

पदानामेव वाचकत्वमिच्छन्ति नैयायिकाः। वर्णानां समूहः पदं, पदानां समूहो वाक्यम्। शब्दाश्च अनित्या इति तेषां राद्धान्तः। तस्मात् अर्थप्रत्ययार्थं स्फोट इति अखण्डसत्तायाः स्वीकारो न आवश्यक इति ते अभिप्रयन्ति।

तथा च नैयायिकानां मतमनुसृत्य शब्दाः वक्तुः उच्चारणस्थानैः निष्पन्नानां वर्णानां समुदाय एव। उच्चरितप्रध्वंसित्वं वर्णानां ते वदन्ति।[11] प्रथमक्षणे वर्णस्य उत्पत्तिर्भवति। द्वितीये तु तस्य स्थितिः तृतीये उपरतिर्भवतीति नैयायिकाः। अनेकैः वर्णैः निष्पाद्यमानस्य शब्दस्यैव वाचकत्वं नान्यस्येति ते विश्वसन्ति। पूर्वपूर्ववर्णसंस्कारसहितान्त्यवर्णस्य श्रवणेन श्रोतुः शब्दस्यार्थो बुध्यते इति स्वीकारे अत्र मीमांसकानां मतमनुवदन्ति नैयायिकाः। तदुक्तं जयन्तेन - यथा पूर्वपूर्ववर्णजनितसंस्कारसहितोऽन्त्यवर्ण इति तत्रभवता मीमांसाभाष्यकृता वर्णितं तथा वा वर्णानामर्थप्रत्यायकत्वमस्तु इति।[12] अनेन वर्णानामर्थप्रत्यायकत्वं ते स्वीकुर्वन्ति। अनुभवबलेन शब्द इत्येतत् किञ्चिद् एकमेव, परन्तु युगपद् स्मरणेनैव एतद् जन्यते इति ते विश्वसन्ति। वर्णानां परम्परा अन्वयव्यतिरेकाभ्यां अर्थाभिधायिका भवति इति नैयायिकाः। एकस्य वर्णस्याभावे विशेषार्थो न लभ्यते। अवयवानामर्थवत्त्वात् अवयविनः अपि तादृशार्थवत्त्वमस्ति। भिन्नभिन्नवक्तृभिः भिन्नभिन्नरवैः उच्चार्यमाणाः वर्णाः अभिन्नत्वेनैव स्वीक्रियन्ते। यतोहि वर्णानां जातिवाचकत्वात् विशेषव्यक्तिवाचकत्वाभावात् इति नैयायिकाः मन्यन्ते। एवञ्च नैयायिकाः वर्णानां सहभावत्वकल्पनमपेक्ष्य स्फोटसत्तायाः कल्पने प्रामुख्यं न पश्यन्ति। तस्मात् अन्त्यवर्णप्रत्यक्षसहितः पूर्वपूर्ववर्णानां संस्कार एव अर्थप्रत्यायकः नैयायिकमते।

परन्तु नैयायिकानामयं वादः वैयाकरणेभ्यो न तावत् रोचते। वैयाकरणानां नये भाषायाः अवस्थाद्वयं वर्तते। परिच्छेदकत्वम् अर्थबोधकत्वं चेति। द्वे अपि परस्परं भिन्ने एव। शब्दस्य अर्थबोधनसामर्थ्यं तत्क्रमवर्तिसमुदायं च आश्रित्य निर्णेतुं न शक्यते। वर्णानामर्थेन साक्षात्सम्बन्धो नास्तीत्यतः अर्थबोधकैकसत्तारूपेण स्फोटस्य स्वीकारः अनिवार्य एव इति वैयाकरणाः।

सामान्यानुभवे स्फोटस्यानुभवे नास्ति इत्यतः सामान्यानुभवविषयाणां वर्णानामेव वाचकत्वं निश्चयेन युज्यते इति नैयायिकाः अभिप्रयन्ति। एवञ्च

[11] न्या.मं.-पृ- 346

[12] श.भा. पृ. 327

शाब्दबोधः वर्णप्रत्यक्षादेव जायते व्याख्यातुं शक्यते इति हेतोः स्फोट इति कस्याश्चन प्रातिभासिकसत्तायाः स्वीकरणे युक्तिं न पश्यन्ति नैयायिकाः। प्रथम-वर्णबुद्धिवेलायां व्यक्तं स्फोटतत्त्वं उत्तरोत्तरबुद्धिभिः अतिशयिततरप्रत्ययतां नीयते इति स्वमतस्पष्टीकरणाय रत्नतत्त्वदृष्टान्तः वैयाकरणैः प्रदत्तः। परन्तु जयन्तः अभिप्रैति यद् अयं रत्नतत्त्वदृष्टान्तः न अतीव युज्यते इति। यतोहि स्फोट इत्येतस्य अखण्डसत्तारूपेण स्वीक्रियमाणत्वात्।

स्फोटविषये वेदान्तिनः -

वेदान्तिनः वर्णानामेव वाचकत्वं स्वीकुर्वन्ति। अत एव वैयाकरणानां स्फोटसिद्धान्तः तैः नाङ्गीक्रियते। ते वदन्ति यद् यदि वर्णानां वाचकत्वं न सम्-भवेत्, एवं यदि स्फोटः अनुभववेद्यो भवेत् तदानीमेव वर्णातिरिक्तस्य स्फोटस्य स्वीकार्यता आयाति। वेदान्तिनोऽपि वर्णानां नित्यत्वं स्वीकुर्वन्ति। ननु वर्णानां क्षणिकत्वेन शक्यसंगतिग्रहत्वाभावात् वाचकत्वं नास्ति इति चेत् न। वर्णानां क्षणिकत्वे मानाभावात्। ननु वर्णाः प्रत्युच्चारणं भिन्नाः भवन्ति। सर्वलोकप्रसि-द्धत्वात् इति चेन्न, प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् एकत्वे न दोषः। न च एकत्वासत्त्वेऽपि सादृश्यनिबन्धनमेतत् प्रत्यभिज्ञानं ज्वालादिवत् इति वाच्यं सादृश्यनिबन्धत्वमस्य बलवद्बालकोपनिपातात् वा स्थीयते, क्वचिज्ज्वालादौ व्यभिचारदर्शनाद्वा। ननु इदं प्रत्यभिज्ञानं गोत्वादिजातिविषयकं भवति, न गवादिव्यक्तिविषयकमिति न वाच्यं तासां प्रतिपुरुषं भेदोपलम्भात् अस्य जातिविषयकत्वमेव। अत एव शब्दभेदोपल-म्भात् वक्तृभेद उन्नीयते। सोमशर्माधीते विष्णुशर्मेति न युक्तम्।

बुद्धेः समस्तप्रत्यवमर्शिनीत्वम् आश्रित्य क्रमानुरोधिनां वर्णानामेकबु-द्धित्वं कल्पयितुं शक्यत्वात्। स्फोटकल्पना नावश्यकी इत्युक्त्वा श्रीशङ्करः स्फोटसिद्धान्तं खण्डयति। तथाहि शङ्करमते यद्यपि प्रत्यक्षेण क्रमानुरोधिनां वर्णानाम् एकबुद्धिविषयकल्पनमशक्यं तथापि एकवर्णश्रेण्याः सर्वावयवानां क्रमेण प्रत्यक्षानन्तरं सर्वेषां वर्णानां युगपत्संस्कारः अस्मद्बुद्धौ जायते। अस्मदनुभवेऽपि एतादृशस्थलेषु सर्वत्रापि एकबुद्धिविषयज्ञाने घटकावयवानां परस्परम् आन्तरस-म्बन्धः प्रतीयते एव। तादृशानुभवबलेनैतत् स्वीकार्य इति शङ्करः।

नागेशाभिमतं परमलघुमञ्जूषायां स्फोटनिरूपणम् -

वर्णो वृत्त्याश्रयो विद्यते इति कथ्यते तन्न युक्तम्। प्रत्येकवर्णस्य वृत्त्याश्रयत्वे मकारेणैव मठार्थस्य बोधे सति अकारादिद्वितीयवर्णानामुच्चारणं व्यर्थं भवेत्। सा च वृत्तिः कुत्र संतिष्ठते? यदि प्रत्येकं वर्णाः वृत्तेः आश्रयाः वर्तन्ते तर्हि यथा मठ-

पदे मकारः, अकारः, ठकारः, अकार इति प्रत्येकं अकारादिचतुर्ण्णां वर्णानां समूहो वृत्त्याश्रयः स्वीक्रियते, तदपि न समीचीनम्। यतोहि व्याकरणदर्शनशास्त्रे वर्णास्तु उच्चरितप्रध्वंसिनो भवन्ति।

अतः तादृशः कश्चन वृत्त्याश्रयो भवेत् यश्चानित्य एकः। तस्माद् नित्यत्वात् पूर्वापरव्यवहारो वृत्त्याश्रयत्वस्य भाष्यकारस्य च एक इन्द्रशब्द इति कथनस्य साम्यं सम्भवेत्। अतः तादृशो वृत्त्याश्रयः शब्दः कः ? अस्य प्रश्नस्य जिज्ञासायां उत्तरति नागेशः - स्फोटात्मक इति गृहाण[13]।

पुनश्च कोऽयं स्फोटः, उच्यते स्फुटति अर्थो यस्मात् स स्फोटः अर्थात् वाचकः पुनश्च स्फुट्यते ध्वनिभिः व्यज्यते इति स्फोटः, अर्थात् ध्वनिव्यङ्ग्यः शब्दः। इति व्युत्पत्तिद्वयेन अर्थप्रकाशकत्वमेव स्फोटत्वम्।[14]

तादृशः स्फोटः कः यश्च वृत्त्याश्रयो भवति, प्रश्ने सति निगदति नागेशो वाणी चतुर्भिः भेदैः विभक्ता विद्यते, भेदाश्च परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी। प्रथमायाः परायाः वाचः निरूपणं क्रियते। ब्रह्मणः सिसृक्षारूपा माया वृत्तिः उत्पद्यते। मायावृत्तितः बिन्दुरूपमव्यक्तं त्रिगुणा प्रकृतिः संजायते। तस्मात् बिन्दोः शब्दब्रह्मस्वरूपो नादः उद्भवति। यत्र च वर्णानां पदानां वाक्यानाञ्च भानं न सम्भवति, एतच्छब्दब्रह्म सर्वत्र व्याप्नोति। लोकानां मूलाधारचक्रे गुदान्तात् ऊर्ध्वं लिङ्गात् अधः एकाङ्गालस्थाने संस्कारयुक्तपवनेन अभिव्यक्तं परा वाक् उच्यते। मूलाधारचक्रे स्थितपवनस्य संस्कारेणाभिव्यक्ता, मूलाधारे स्थिता, शब्दब्रह्मस्वरूपा, क्रियाशून्या, बिन्दुरूपिणी परा वाक् भवति। पुनश्च पश्यन्त्याः वाचः निरूपणं स्वरूपस्य मूलाधाराद् चक्रात् वर्धमानः संस्कृतपवनः यदा नाभिचक्रे आयातः तदा तत्पवनादेव पररूपं शब्दब्रह्म अभिव्यक्तं सत् मानसप्रत्यक्षस्य विषयो भवति। तदेव शब्दब्रह्म पश्यन्ती इति कथ्यते। द्वयोः वाचोः विषये निगद्यते यत्, परावाक् पश्यन्तीवाक् च शब्दब्रह्म क्रमशः सूक्ष्मतमं सूक्ष्मतरञ्च। समाधिद्वयं निर्विकल्पकं सविकल्पकञ्च, पश्यन्ती वागेव स्फोटत्वेन स्वीक्रियते।

उपसंहारः -

सर्वेषां दार्शनिकानां विचारं वीक्ष्य लाघवदृष्ट्या वैयाकरणानां स्फोटवादस्य चर्चां विधाय निष्कर्षोऽयमायाति। नागेशः स्फोटतत्त्वे द्विधा विचारं प्रकटयामास। प्रथमन्तु स्वपूर्ववर्तिमान्यतानामाधारेण स्फोटव्युत्पत्तिं स्वीकृत्य अष्टौ स्फोटभेदान् प्रकल्पयति। सिद्धान्तपक्षे लोकव्यवहारदृष्ट्या वाक्यस्फोटं, पारमार्थिकदृष्ट्या वा-

[13] प.ल.म. पृ. 91
[14] प.ल.म. पृ. 91

क्यजातिस्फोटं चार्थवाचकं मन्यते, नागेशः सम्बन्धेऽस्मिन् नैव नवीनतथ्यं किमपि प्रकाशयति। द्वितीयन्तु सः वाण्याः चतस्त्रः भेदान् समायोजयति यथा- परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी च। परा पश्यन्ती च निर्विकल्पकसविकल्पकसमाधेः विषयः। मध्यमानादः स्फोटविषयः यश्च मध्यमानादद्वाराऽभिव्यक्तो भवति, स एव शब्दब्रह्मरूपः। नागेशस्य परादिवाक्यसम्बन्धिविचारः भर्तृहरिद्वारा प्रदत्तवाग्विचारैः भिन्नो विद्यते।

शब्दसंकेत

1. न्या.मं. - न्यायमंजरी
2. प.ल.म - परमलघुमञ्जूषा
3. मी.सू. - मीमांसासूत्र
4. श.भा. - शाबरभाष्य
5. श्लो.वा. - श्लोकवार्तिक .

सन्दर्भग्रन्थसूची

1. न्यायमञ्जरी, जयकृष्णदासगुप्तः, चौखम्बासंस्कृतसीरिजअॉफिस।
2. परमलघुमञ्जूषा, आचार्यलोकमणिदाहाल, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी
3. ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्, आचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणि चौखम्बाविद्या-भवन, वाराणसी
4. मीमांसासूत्रम्, मोहनलालसान्डल, मोतीलालबनारसीदास
5. मीमांसाशाबरभाष्यम्, युधिष्ठिरो मीमांसकः
6. मीमांसाश्लोकवार्तिक, पं-दुर्गाधरझा, कामेश्वरसिंहदरभंगासंस्कृतविश्वविद्यालय, दरभंगा

वाक्यपदीयमहाभाष्ययोः सन्दर्भे ध्वनिपदार्थविश्लेषणम्

प्रमोदकुमारशर्मा

आलेखेऽस्मिन् ध्वनिविषयकं भाषावैज्ञानिकं स्वरूपमुद्भाव्य व्यावहारिकं शब्दस्वरूपं वाक्यपदीयं महाभाष्यञ्चाश्रित्य निरूपितमस्ति। ध्वनिस्फोटयोः पार्थक्यमाहोस्विदैक्यमित्यपि चिन्तितमस्ति। आलेखान्ते च शब्दार्थयोः भेदाऽभेदयोः स्वरूपमुद्भाव्य शब्दार्थस्य वैभिन्न्यमपि निदर्शितमस्ति।

सदा यष्ट्याघातैर्ध्वनयति चलन्नेष पुरुषो
निरायासं सर्पो भवतु ननु दूरं यत इति।
स्त्रवन्ती नित्यं ध्वानयति नितरां कर्णसुखदं
बुधा मन्यन्तेऽतो मुखजनितशब्दो ध्वनिरिति॥
ध्वनितमृदङ्गध्वनिमाकर्ण्य ध्वान्ते गच्छति शिशुरप्येषः।
अपि सति जाते भये तदानीं ध्वनति सदर्पं हनुमन् हनुमन्॥

ध्वनिशब्दोऽयं बह्वर्थः, यथा गुणशब्दः व्याकरणनिकाये संज्ञाविशेषमाह, न्यायवैशेषिकदर्शने गुणशब्दः पदार्थविशेषवाचकः, सांख्यदर्शनशास्त्रे च पुनः द्रव्यमर्थमेवाभिदधाति तथैवायं ध्वनिशब्दः व्याकरणनिकाये ध्वनिस्फोटयोः वाचकः किन्तु काव्यसम्प्रदाबिशेषे काव्यस्य आत्मनः, अतोऽत्र सर्वादौ व्याकरणशास्त्रदृशा ध्वनिशब्दोऽयं पदार्थविशेषतया निरूप्यते। ध्वनिसमूहमेव प्रायः शब्दपदेन व्यवहरन्ति लोके जनाः, अतो व्याकरणसम्प्रदाये शब्दशास्त्रिभिरपि शब्दः ध्वन्यात्मकः अनुमोदितः। प्रवक्तुः प्रतिपत्तुश्च परस्परं व्यवहारसम्पादनार्थं शब्दाः प्रयुज्यन्ते। प्रयोक्ता स्वकीयमन्तःस्थां भावनां प्रकटयितुं शब्दभावनां कुरुते। शब्दानां ध्वन्यात्मकं रूपं व्यावहारिकस्वरूपं भवति।

महर्षिणा पाणिनिनाऽपि (स्वं रूपं शब्दस्याऽशब्दसंज्ञा)[1] इति सूत्रं विरच्य शब्दशास्त्रीयप्रक्रियां सम्पादयितुं ध्वन्यात्मकं व्यावहारिकमेव शब्दस्वरूपं समाश्रितम्। भगवान् पाणिनिरन्यदपि एकं शब्दस्वरूपं निर्दिदेश, तदस्ति शब्दानां तात्त्विकं शब्दस्वरूपम्। तात्त्विकमेतच्छब्दस्वरूपं भाषावैज्ञानिकमपि वक्तुं शक्यते। महभाष्ये अस्त्यन्यत् स्वं शब्दस्येति किं पुनस्तत्? अर्थः[2] इति। पतञ्जलिरर्थपदेन तच्छब्दस्वरूपं व्याचष्टे यच्छब्दभावनारूपेण वक्तरि पूर्वत एव सन्तिष्ठते। भाषातात्त्विकमिदम् शब्दस्वरूपमेव स्फोटपदेन व्याह्रियते। यः ध्वनिसमुदायः कञ्चन अर्थप्रत्ययं जनयितुं समर्थः स एव शब्दपदव्यवहार्यो भवति। अर्थप्रत्ययानुत्पादकः

[1] अष्टा. 1.1.68

[2] महा. 1.1.68

केवलं श्रोतृगृहीतो ध्वनिः शब्दशास्त्रे शब्दपदाऽनर्हो भवति। अतोऽत्र द्विविधं नाम शब्दस्वरूपम्

1. व्यावहारिकं शब्दस्वरूपम्
2. भाषावैज्ञानिकं तात्त्विकं शब्दस्वरूपम्

कस्मैचनापि शब्दशास्त्रिणे द्विविधमिदं शब्दस्वरूपमभिमतं भवति। शब्दपूर्णतायै द्विविधमपि आवश्यकं भवति। शब्दस्य स्वरूपद्वयमेतत् पाणिनीये तन्त्रे साकल्येन अभिमतं व्याख्यातञ्च। शब्दतत्त्वदृष्ट्या उभयमप्यत्र विविच्यते -

व्याहारिकं शब्दस्वरूपम्

सर्वैः लौकिकाः व्यवहाराः व्यावहारिकेण एव शब्दस्वरूपेण सम्पाद्यन्ते। तत्र (शाशपिभ्यां ददनाविति)[3] सूत्रेण व्यवहारसाधनार्थे शब्दशब्दो निष्पाद्यते। अनया शब्दपदव्युत्पतत्त्या एतदनुमीयते यत् प्रारम्भिकी शब्दप्रवृत्तिः नामकरणात्मिका एव सम्बभूव। शपन्ति तेनेति शब्दः। संस्कृता वाक्[4] इति उणादिं व्याचक्षाणः दशपाद्युणादिवृत्तिकारः आह्वानकरणं शब्दं व्याचष्टे। अतो शपन्ति व्यपदिशन्ति आह्वयन्ति अनेन वाग्व्यापारेण स खलु शब्दः उच्यते। शप्यते आहूयते अनेन स शब्दो नादः। शब्दशब्दस्य चेयं व्युत्पत्तिः परिभाषा वा शब्दस्य व्यावहारिकस्वरूपदृष्ट्या एव क्रियते। व्यवहारे प्रायः शब्दस्यान्तरिकं तात्त्विकं स्वरूपं नाऽनुभूयते। अत एव अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्दः इत्युच्यते, तस्माद् ध्वनिः शब्दः[5] इति पतञ्जलिना महाभाष्ये व्यावहारिकोऽयं चर्चितः शब्दः लोकप्रतीतिजनकः व्यवहारे ध्वनिसमुदायरूपः कण्ठतः प्रोक्तः। अत एव लोके ध्वनिं कुर्वन् बालक उच्यते शब्दकारी खल्वयं माणवकः इति। ध्वनिमेवाभिप्रेत्य चोच्यते शब्दं कुरु, मा शब्दं कार्षीरिति। अतः शब्दपदेन लोके प्रतीतपदार्थको ध्वनिविशेषः शब्दो भवतीति विख्यातिरस्ति। एतेषामेव लोकविख्यातप्रतीतपदार्थकध्वनिरूपशब्दानामेव पाणिनीयशास्त्रेण अनुशासनं क्रियते। एतदेव - अथ शब्दानुशासनम्[6] इति महाभाष्यकारपतञ्जलेरभिप्रायः। अत्रेदमवश्यं विज्ञेयं यत् नादे ध्वनिसमुदाये वा शब्दत्वव्यपदेशः उभयप्रकारकशब्दे अभेदबुद्ध्या एव क्रियते । प्रयोगदृष्ट्या हि शब्दानां व्यावहारिकं स्वरूपं समाश्रियते। शब्दस्य स्वरूपग्राहकः प्रयोग एव भवति। लौकिकप्रयोगं विना शब्दस्य रूपनिर्ग्रहः कथञ्चिदपि न भवतीति

[3] उणादि. 4-98
[4] उणादि, 4-48
[5] महा. पस्प.
[6] महा. पस्प.

पतञ्जलिना कण्ठतः प्रोक्तम् 'रूपनिर्ग्रहश्च शब्दस्य नान्तरेण लौकिकप्रयोगम्'[7] इति। मीमांसादर्शनानुसारमाचार्य उपवर्षः शब्दस्येदं व्यावहारिकं शब्दस्वरूप-मेवाऽभिप्रेत्य ध्वनीनां शब्दत्वं स्वीचकार। मीमांसासूत्रं व्याचक्षाणः शबरस्वामी आचार्योपवर्षमतमुल्लिलेख - 'अथ गौरित्यत्र कः शब्दः गकारौकारविसर्जनीयाः इति भगवानुपवर्षः'[8] इति। एतदनुसारेणापि गौरित्यत्र गकारौकारविसर्जनीय ध्वनिसंघात एवास्ति शब्दः। बादरायणसूत्रं भाषमाणेन आचार्यशङ्करेणापि 'वर्णा एव तु शब्दाः इति भगवानुपवर्षः[9] इत्युक्तम्। अतः भगवतः उपवर्षस्येदं निरुक्तं मतं वस्तुतः शब्दानां प्रायोगिकरूपमात्रं संलक्ष्यैव विद्यते। एतेनेदं निश्चितं जातं यत् ध्वनितः प्राक् स्फोटात्मकः यदि आन्तरः शब्दो न भवेत् तर्हि निश्चितार्थे निश्चितस्य ध्वन्यात्मकस्य शब्दस्योच्चारणमपि न सम्भवेदिति।शब्दव्यवहाराय लोके कण्ठताल्वाद्यभिघातेन प्रयुक्तो ध्वनिः शब्दभावनान्तरमेव प्रतिपत्तुः शाब्द-प्रत्ययं जनयति। ध्वनिरूपशब्दं परिभाषमाणः पतञ्जलिः शब्दे तथ्यत्रयं निर्दिदेशः श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलितः आकाशदेशः[10] शब्द इति शब्दशा-कल्यार्थं श्रोत्रोपलब्धित्वं बुद्धिनिर्ग्राह्यत्वं तथा प्रयोगेणाऽभिज्वलित्वमेतत् त्रयमपि आवश्यकं भवति। व्यावहारिकशब्दस्वरूपस्य इमे एव त्रय आधाराः सन्ति तत्रादौ -

1. श्रोत्रोपलब्धिः

श्रवणेन्द्रियेण भवति शब्दस्योपलब्धिः। शब्दस्य श्रोत्रमात्रविषयत्वात् श्रोत्रमन्तरा शब्दस्य उपलब्धिर्न भवति। शब्दस्य व्यावहारिकस्वरूपावगतये श्रोत्रेण शब्दप्रत्यक्षमावश्यकं भवति। कर्णशष्कुलीवर्ति आकाशमुच्यते श्रोत्रम्। आकाशं शब्दस्य आश्रय इति गौतमकणादादिभिः स्पष्टमुच्यते 'श्रोत्रग्रहणे योऽर्थः स शब्दः'[11] वैशेषिकदर्शनानुसारं श्रोत्रेन्द्रियस्य विषयः शब्दः अर्थपदेनाप्यभिधीयते। अतः श्रोत्रस्य अर्थः शब्दः इत्यप्यवश्यं ज्ञातव्यं सुधीभिः।

2. बुद्धिनिर्ग्राह्यः

कण्ठताल्वाद्यभिघातेन ध्वनयः क्रमशः उत्पद्यन्ते। उच्चारिताश्च पुनः ध्वनयः क्रमशो ध्वस्ताः भवन्ति एवञ्च एकत्र एकदा च ध्वनिसमुदाय उपलब्धुं न शक्यते। उच्चरितप्रध्वंसिशीलैः पूर्वपूर्वध्वनिभिः बुद्धौ तच्छब्दसंस्कारः संस्थाप्यते।

---

7 महा. 1.1.22, 6.4.16

8 शा. भा. 1.1.5

9 शा. भा. 1-3-28

10 महा. प्रत्या.

11 2.2.21

सः क्रमप्राप्तः बौद्धः शब्दसंस्कारः एव अन्त्येन ध्वनिना अभिव्यक्तो भवति। इत्थं हि अन्त्यवर्णश्रवणानन्तरं बुद्धया व्यावहारिकं शब्दस्वरूपं सुविज्ञातं भवति इदमेव तथ्यं महाभाष्यप्रदीपव्याख्यायां कैयटो निजगाद - 'पूर्वपूर्वध्वन्युत्पादिताभिव्यक्ति-जनितसंस्कारपरम्पराप्राप्तपरिपाकान्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्य इत्यर्थः'[12] इति।

ध्वन्यात्मके नादे शब्दसंस्कारो वक्तृभावनाऽनुसारेण पूर्वतः एव सन्तिष्ठते। प्रतिपत्तुः शब्दग्रहणे शाब्दबोधे च एष शब्दसंस्कारो भवति आवश्यकः भर्तृहरिणा-पीदमेवोक्तम् -

नादैर हितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह
आवृत्त् परिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते[13]। इति

3. प्रयोगेणाभिज्वलितः

शब्दस्य श्रोत्रोपलब्धित्वं बुद्धिनिर्ग्राह्यता प्रयोगपदमत्र ध्वन्यर्थकम्। प्रयुज्यते इति प्रयोगो ध्वनिः, तेन अभिव्यक्तः इति महाभाष्ये स्पष्टम्। ध्वनिरेव भवति शब्दस्य व्यावहारिकत्वप्रयोजकम्। ध्वनिसमुदाय एव प्रतिपत्तुः शाब्दं प्रत्ययं जनयति। शब्दस्य प्रायोगिकं रूपं भवति ध्वनिः। महाभाष्ये पतञ्जलिः स्फोटलक्षणस्य शब्दस्य ध्वनिं गुणं समाचष्ट - 'एवं तर्हि स्फोटः शब्दः ध्वनिः शब्दगुणः'[14] इति।

कस्यचनापि वस्तुतत्त्वस्योपकारको ग्राहको वा तद्गतो गुण एव भवति। ध्वनिना प्रकाशित एव शब्दः व्यक्तरूपग्रहणानुगुणैरुपायभूतैः अनुपाख्येयैः प्रत्ययैः स्वरूपं ग्राहयतीति स्पष्टं प्रत्यपादयत् भर्तृहरिः -

प्रत्ययैरनुपाख्येयैः ग्रहणाऽनुगुणैस्तथा।
ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते[15]॥

अतो अलब्धक्रमया वाचा प्रतिपत्रा कञ्चनाऽप्यर्थं नाधिगच्छतीति स्वोपज्ञह-रिवृषभ टीकायामुद्धृतम् -

ज्ञेयेन न विना ज्ञानं व्यवहारेऽवतिष्ठते।
नाऽलब्धक्रमया वाचा कश्चिदर्थोऽभिधीयते[16]॥

---

12 महा. प्रत्या. 1
13 वा. प. ब्रह्म. 84
14 महा. 1.1.7
15 वा. प. ब्रह्म. 83
16 वा. प. ब्रह्म. 86

अतः अ इ उ ण् इति सूत्रभाष्ये पतञ्जलेः निरुक्तं 'श्रोत्रोपलब्धिः बुद्धि-निर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलितः आकाशदेशः शब्दः इति शब्दस्वरूपं सिद्धान्तभूतमस्तीति सिद्धं जातम्। अथ शब्दानुशासनम् इति ब्रुवाणस्य पतञ्जलेः शब्द-पदेन नादाख्यो व्यावहारिक एव शब्दोऽभिप्रेतः । शब्दशास्त्रीयप्रक्रियायां तस्यै-वोपयोगसम्भवात्। ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतोदात्तानुदात्त-स्वरितानुनासिक-निरनुनासिक-द्रुत-मध्यम-विलम्बित-गुण-वृद्ध्यादिव्याकरणकार्याणि तत्रैव ध्वन्यात्मके शब्दे सम्भवति स्फोटे तु निरुक्तकार्याणि कथञ्चिदपि न सम्भवति। प्राकृतवैकृत-नादयोः कालभेद एव स्फोटलक्षणे अन्तःशब्दे आरोप्यते इति स्वयमेवाह भर्तृहरिः -

स्वभावभेदान्नित्यत्वे ह्रस्वदीर्घप्लुतादिषु।
प्राकृतस्य ध्वनेः कालः शब्दस्येत्युपचर्यते[17]॥

वस्तुतस्तु अक्रमो भवति शब्दः, क्रमजन्मा च भवति नादः। नादस्य क्रम-जन्मत्वादेव शब्दः क्रमवान् भेदवान् वा दृश्यते -

नादस्य क्रमजन्मत्वात् नाऽपूर्वो न परश्च सः।
अक्रमः क्रमरूपेण भेदावानिव जायते[18]॥

एतत्तु सुस्पष्टमवधेयं यदेतच्छब्दस्वरूपे भेदपरिकल्पनं विचारसौकर्यार्थं प्रयो-गदृष्ट्या एव आश्रितम्। सर्वात्मना अभिधायकस्तु शब्दः एक एव। अर्थावबोधने उभयस्यैव शक्तत्वात्। ध्वनिरहितस्य केवलस्य स्फोटस्य शब्दत्वव्यपदेशः केवल-मौपचारिकः, शब्दानामर्थबोधनैकमात्रफलकत्वेन सुगमतया कात्स्र्येन तत्र तदभा-वात्।

अविचारिते अव्यक्तवर्णके रभसोच्चरिते केवले ध्वनौ शब्दत्वव्यपदेशोऽपि एतादृश एव। तेनाऽपि अर्थावबोधनाभावात्। क्वचित् एतादृशेन कस्यचिद् गृही-तशक्तिकस्य शाब्दबोधे सम्भवत्यपि किन्तु तत्र अनुशासनीयशब्दत्वं तु नास्ति। स्फोटस्य ध्वनेश्च पार्थक्येन ग्रहणं न सम्भवति। स्फोटरूपाभिन्नो ध्वनिः श्रोतृभिः गृह्यते - स्फोटरूपाऽविभागेन ध्वनेः ग्रहणमिष्यते'[19]

भाषावैज्ञानिकदृष्ट्या प्रतीतपदार्थके ध्वनौ शब्दत्वं स्वीकुर्वाणस्य पतञ्जले-रपि अयमेवाशयः। पतञ्जलेरभिप्रायं स्पष्टयन् नागेशः प्रोवाच - 'लोके व्यवहर्तृषु

17 वा. प. ब्रह्म. 76
18 वा. प. ब्रह्म. 48
19 वा. प. ब्रह्म. 81

पदार्थबोधकत्वेन प्रसिद्धः श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यत्वात् वर्णरूपः ध्वनिसमूह एव शब्दः'[20] इति। एतदेव भवति प्रायोगिकं शब्दस्वरूपम्। व्यवहारे पदार्थावगतये लोकाः तदेव शब्दस्वरूपं स्वीकुर्वते।

वस्तुतस्तु शब्दाभिव्यक्तेः साधनमस्ति ध्वनिः । वक्तुः पूर्वनिश्चितं शब्द-संस्कारं प्रकटयति ध्वनिसंघातः। ध्वनितोऽतिरिक्तम् एकम् अन्यत्तात्त्विकं शब्द-स्वरूपमस्ति। पाणिनीये तन्त्रे मौलिकरूपेण एतदुपवर्णितं यत् सम्प्रत्ययनिमित्तकः ध्वनिसमुदायो भवति वैज्ञानिकः शब्दः। येन उच्चारितेन शब्देन प्रतिपत्तुः अर्थ-प्रतिपत्तिर्भवति स एव शब्दः। गौरिति शब्दे गकारौकाराभ्यामन्योऽस्ति कश्चिद् शब्दस्य प्रयोजकः। अथ गौरित्यत्र शब्दमनुसन्दधानस्य पतञ्जलेरयमेवाऽभिप्रायः। 'येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः[21] इति पतञ्जलेरुक्तं शब्दलक्षणं शब्दस्य स्फोटात्मकम् आन्तरिकं स्वरूपं संकेतयति।

शब्दानुशासनप्रयोजनकेऽस्मिन् पाणिनीये शब्दशास्त्रे शास्त्रीयसंज्ञां विहाय शब्दस्य स्वरूपं गृह्यते इति पाणिनिना स्वयमेव निर्देशः कृतः। तथाहि - स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा[22] इति।

अग्नेर्ढक् इत्यादिविधिस्थलेषु अग्नि इति शब्दस्वरूपस्य तत्पर्यायाणां च ग्रहणे सम्प्राप्ते पाणिनिरयमाचार्यो नियमयति यत् अग्नीति आनुपूर्वीकस्य शब्दस्वरूपस्यै-वात्र ग्रहणमुचितं नान्यस्येति। पाणिनिमते शब्दस्य स्वत्वद्वयमस्ति १. रूपम्, २. अर्थश्च। क्वचित् रूपस्य प्राधान्यमर्थस्य च गौणत्वम्। लोके व्यवहारसम्पादनाय अर्थकृतप्राधान्यमाश्रीयते इति भर्तृहरिरप्याह -

लोकेऽर्थरूपता शब्दः प्रतिपन्नः प्रवर्तते।
शास्त्रे तूभयरुपत्वं प्रविभक्तं विवक्षया[23]॥ इति

शब्दशास्त्रे तु प्रक्रियानिर्वाहार्थं निर्देशस्थले शब्दगतस्य रूपस्यैव प्राधान्यं भवति, अर्थस्तु तत्र गुणभूतः। अदर्शनं लोपः[24] इत्यत्र अदर्शनशब्दस्वरूपस्य तत्पर्यायाणाञ्च योऽर्थो लोके प्रसिद्ध अदर्शनशब्देन स एवाऽर्थोऽभिप्रेतः। ढगादि-स्थले अग्निशब्दातिरिक्तस्य शब्दस्य व्यावृत्त्यर्थं पाणिनिना स्वीकृत एष नियमः। स्वं रूपं शब्दस्याऽशब्दसंज्ञेति सूत्रं भाषमाणः पतञ्जलिः शब्दगतं स्वत्त्वद्वयम् एतत्

20 महा. पस्प. उद्यो.
21 महा. पस्प.
22 अष्टा. 1.1.68
23 वा. प. वाक्य. 133
24 अष्टा. 1.1.60

स्वीकुरुते - अस्त्यन्यद् रूपाद् स्वं शब्दस्येति। किं पुनस्तत्? अर्थः' इति। ढगादि-स्थलेषु शब्दार्थस्य व्यावर्तनाय पाणिनिना सूत्रे रूपपदं गृहीतम्। अत्र सूत्रे पाणिनिना अभिप्रेतः शब्दगतोऽर्थः एवास्ति शब्दस्य वैज्ञानिकं स्वरूपं स्फोटात्मकम्। रूपप-देन च ध्वन्यात्मकं व्यावहारिकं प्रायोगिकं वा शब्दस्वरूपमभिप्रेतम्। रूपपदेनात्र व्यक्तिविशेषोच्चरितः ध्वनिविशेष एव नाऽभिप्रेतः, अपितु रूपशब्देन ह्यत्र शास्त्रे शुकसारिकापुरुषादिभिरुदीरितासु विभिन्नासु तत्तच्छब्दव्यक्तिषु समवेतमग्निशब्दा-दिकं सामान्यं गृह्यते।

पाणिनिना अग्नेर्ढगित्यादिषु या अग्निशब्दरूपा व्यक्तिरुच्चारिता तस्याः सर्वो-च्चारणेषु अनुगता अग्निसामान्यरूपा आकृतिर्वाच्या भवति। सामान्यस्य कार्यायो-गश्च व्यक्तिद्वारको भवतीति रीत्या व्यवहारः सम्पद्यते। यदि चात्र सामान्यं विहाय व्यक्तिरेव गृह्येत तदा व्यक्तीनामानन्त्यात् सर्वेषामग्न्यादिशब्दानामनुशासनकार्ये योगसम्भवः स्यात् यथा अनुकरणशब्दाः अर्थं जहति, ध्वन्यात्मकं स्वरूपञ्चादधते तथा अत्रापि शास्त्रे शब्दरूपं भवति असाधारणम्। अर्थस्तु साधारण एव शब्दा-न्तरैरपि तस्यार्थस्य प्रत्यायमानत्वात्। मात्राकलापो नाम अस्ति शब्दः। स एव च शब्दस्य रूपम्। एवञ्चात्र स्वरूपसूत्रे अर्थवतः शब्दस्य एकदेशः रूपवान् एव शब्दः अभ्युपगम्यते। अग्निसामान्ये अग्निविशेषे च स्वरूपे शक्तिमतः अग्निशब्दस्य एक-देशः रूपमात्रमिह शब्दस्वरूपशब्देन विवक्षितम्।

अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकमित्यत्र तु अर्थवदेव शब्दस्वरूपं गृह्यते। अतस्तत्र शब्दानां लोके प्रयोगार्हत्वस्य सम्पाद्यमानत्वात्। शब्दानाम् अर्थवच्छब्द-स्वरूपस्य बोधनार्थं सम्बन्धग्रहोऽपेक्ष्यते, अनिर्ज्ञातसम्बन्धेन शब्देन अर्थज्ञानाऽस-म्भवात्। शब्दस्य रूपप्रतीतौ तु श्रोत्रेण ध्वनेः सन्निकर्षोऽपेक्ष्यते। शब्दस्य यद् रूप-द्वयं वर्तते तच्छब्दस्वरूपग्राहकेण येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः इति पतञ्जलिवाक्येन सुस्पष्टं समर्थ्यते। येनोच्चारितेनेति कथनेन मात्राकलापरूपा शब्दस्याकृतिः विवक्षिता। सम्प्रत्ययो भवतीति वाक्यांशेन स्फोटात्मकोऽर्थो विवक्षितः। शब्दार्थयोर्नित्यसम्बन्धात् पार्थक्येन एतज्ज्ञातुं सुकरं न भवति। शब्दानुशासनार्थकेनानेन व्याकरणेन वाचमवच्छेद्य एतज्ज्ञातुं सुकरं भवति अत एवाह भर्तृहरिः - 'तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते'[25] इति।

वैयाकरणशिरोमणिः ख्यातनामा भाषाशास्त्री भर्तृहरिः अपि शब्दस्य स्वरूप-द्वयमेतत् सुस्पष्टमुपावर्णयत्। ध्वन्यात्मकस्य शब्दस्योच्चारणात् प्राक् प्रवक्तुः मनसि विवक्षारूपा शब्दभावना अनिवार्या भवति। शब्दभावनां विना प्राणवायोरुर्ध्वसमीरणं कण्ठताल्वाद्यभिघातश्च कथञ्चिदपि न सम्भवति। शब्दभावना एव वक्तारं नियते

[25] वा. प. ब्रह्म. 13

व्यक्ते अर्थाभिधायके च शब्दे प्रयोजयति। अतः भर्तृहरिः आह -

आद्यः करणविन्यासः प्राणस्योर्ध्वं समीरणम्।
स्थानानामभिघातश्च न विना शब्दभावनाम्[26]॥ इति।

एतयोः परस्परमभेदोपचारात् साङ्कर्यं जायते। एनयोः पार्थक्येन ज्ञानं शास्त्रविदामपि श्रमसाध्यं भवति। यथा घटमह जानामीति प्रतिपत्तौ कम्बुग्रीवादिमदर्थबोधे ज्ञानस्वरूपं च सांकर्येण सन्तिष्ठेते तथा श्रुते शब्देऽपि शब्दभावानारूपोऽर्थः शब्दस्वरूपं च सन्तिष्ठेते।

आत्मरूपं यथा ज्ञाने ज्ञेयरूपञ्च गृह्यते।
अर्थरूपं तथा शब्दे स्वरूपञ्च प्रकाशते[27]॥

ज्ञातो मया घटः इति बोधे एतत् सुस्पष्टं प्रतीयते। आचार्यः भर्तृहरिः शब्दभावनात्मकमिमं शब्दं ध्वनिरूपस्य शब्दस्य निमित्तमिति व्याचष्ट। ध्वनिरूपश्च शब्दः श्रोतृभिः वाचकत्वेन गृह्यते -

द्वावुपादानशब्देषु शब्दौ शब्दविदो विदुः।
एको निमित्तं शब्दानामरोऽर्थे प्रयुज्यते[28]॥

आन्तरोऽयं व्यक्तो जातो वागात्मा एव स्वस्य रूपस्य अभिव्यक्तये करणादिसंयोगात् लोके प्रसिद्धरूपेण शब्दत्वेन परिवर्तते -

अथाऽयमान्तरो जातः सूक्ष्मो वागात्मनि स्थितः।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते[29]॥

वक्त्रा वक्ष्यमाणशब्दस्य स्वरूपावधारणम् अर्थसन्निवेशश्च उच्चारणात् प्रागेव भवति। ध्वनिः केवलमनुग्राहयति पूर्ववितर्कितम् -

वितर्कितः पुरा बुद्ध्या क्वचिदर्थे निवेशितः।
करणेभ्यो विवृत्तेन ध्वनिना सोऽनुगृह्यते[30]॥

[26] वा. प. ब्रह्म. 122
[27] वा. प. ब्रह्म. 50
[28] वा. प. ब्रह्म. 44
[29] वा. प. ब्रह्म. 112
[30] वा. प. ब्रह्म. 47

ध्वनेः शब्दोपकारकत्वादेव पतञ्जलिराचार्यः ध्वनिं शब्दगुणमिति व्याचष्ट- 'एवं तर्हि स्फोटः शब्दः, ध्वनिः शब्दगुणः[31] शब्दप्रादुर्भावे बुद्धेः मनसः प्राणस्य आस्यावयवानाञ्च योगः अतीवानिवार्यः भवति। बुद्धियोगाद् मनोयोगाच्च वागर्थ-वती भवति। प्राणयोगात् करणयोगात् च वाग् ध्वनिरूपा व्यक्ता भवति। देशभे-दात् शब्दस्वरूपं त्रिविधं भवति एतच्च शब्दस्य स्थितित्रयमित्यपि वक्तुं शक्यते। पश्यन्ती विद्यते बुद्धिस्था, मध्यमा च प्राणस्था, वैखरी भवति करणस्था। पश्यन्त्यां ज्ञानमात्रस्यैवानुगमात् तस्याः बुद्धिस्थत्वं स्वीक्रियते। यथा अरणिस्थं तेजो भवति प्रकाशान्तरहेतुः तथा बुद्धिस्थः शब्दः वैखरीवाचः निमित्तं भवति –

अरणिस्थं यथा ज्योतिः प्रकाशान्तरकारणम्।
तद्वच्छब्दोऽपि बुद्धिस्थः श्रुतीनां कारणं पृथक्[32]॥

मध्यमायां बुद्ध्या साकं प्राणवायुरपि गतिमायाति। अतो मध्यमा प्राणस्था इत्युच्यते। वैखर्यां प्राणवायुः तत्तत्करणेषु आहतः ध्वनिः भूत्वा श्रावणः सञ्जायते । अस्मात् कारणात् वैखरी करणस्था इत्यभिधीयते। एतत्समुदितस्यैव शब्दत्वम् अभिप्रेत्य पतञ्जलिराचार्यः अथ शब्दानुशासनमित्यत्र शब्दपदं प्रयुङ्क्ते।

शब्दस्वरूपमवधारयता एतदपि विचिन्त्यं यत् शब्दस्य प्रयोजनद्वयं भवति, तत्र प्रथमं ज्ञानम् द्वितीयं प्रयोगः इति। ज्ञानमस्ति स्फोटरूपम्। प्रयोगश्च ध्वन्या-त्मकः। एकः पूर्वपरयोरित[33] सूत्रं भाषमाणः पतञ्जलिः शब्दज्ञानं शब्दप्रयोगञ्च अ-भीप्सितफलप्रदं व्याचष्ट। तथाहि 'शब्दस्यापि ज्ञाने प्रयोगे च प्रयोजनमुक्तम् किम्? एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति'[34] इति।

शब्दस्वरूपप्रसङ्गादत्र एतदप्यवधेयम्, प्रयोगेणाभिज्वलितः श्रावणः शब्दः अनुशासनदृष्ट्या द्विविधः भवति। व्युत्पन्नोऽव्युत्पन्नश्चेति तत्र व्युत्पन्नः शब्दः एके-षामाचार्याणां मते स्वीक्रियते। अव्युत्पन्नश्च अपरेषां मते। व्याडिना उभयपक्षेऽपि अर्थस्य वाचकः शब्दो व्याख्यातः तथाहि - वाचकः उपादानः शब्दव्युत्पत्तिकर्मणि प्रयोजकम्' इति स्वोपज्ञहरिवृषभवृत्तौ संग्रहनाम्ना धृतोऽयं गद्यांशः[35] अर्थाऽभिधा-नाऽर्थे शब्दस्योभयविधमपि स्वरूपमावश्यकं भवति। अन्तः शब्दो बौद्धो भवति।

---

31 महा. 1.1.70
32 वा. प. ब्रह्म. 47
33 अष्टा. 6.1.84
34 महा. 6.1.84
35 वा. प. ब्रह्म. 44

बाह्यश्च शब्दो ध्वन्यात्मकः। बौद्धस्य शब्दस्य ध्वनिरस्ति वाहनभूतः । ध्वनिना श्रोता अन्तःशब्दं गृह्णाति। उत्पन्ने ध्वनौ अन्तःशब्दः श्रोत्रेण ग्राह्यो भवति। यथा प्रकाशः जन्मानन्तरमेव अर्थप्रत्यायको जायते।

वितर्कितः पुरा बुद्ध्या क्वचिदर्थे निवेशितः।
करणेभ्यो विवृत्तेन ध्वनिना सोऽनुगृह्यते[36]॥ इति।

अर्थं सम्प्रत्याययितुं प्रवक्तारः प्रत्येतुं च श्रोतारः शब्देषु प्रवर्तन्ते। सततम् अर्थगत्यर्थं हि शब्दं स्वीकुर्वते वैयाकरणाः। अत एव निरर्थकेषु नाम शब्देषु नैव वैयाकरणाः सम्प्रवर्तन्ते। शब्दश्रवणोत्तरकालं यमर्थं प्रत्येति तस्य शब्दस्य स एवार्थ इति भर्तृहरिणा स्पष्टमुक्तम् -

यस्मिन् तूच्चरिते शब्दे यदा योऽर्थ प्रतीयते।
तमाहुरर्थं तस्यैव नान्यदर्थस्य लक्षणम्[37]॥

वक्तृश्रोतृबुद्धिद्वयमध्यगा व्यवसायात्मिका भवति वाग्। अर्थप्रत्यायने वक्तुः अन्तिमो व्यवसायः श्रोतुश्च प्रारम्भिको व्यवसायः शब्दात्मको भवति। भर्तृहरिः वक्तुः बुद्धेः प्रवृत्तिं प्राक् शब्देषु यथा स्वीकुरुते गृहीतॄणां व्यवसायमपि तथैव शब्देष्वेव संगिरते।

यथा प्रयोक्तुः प्राग् बुद्धिः शब्देष्वेव प्रवर्तते।
व्यवसायो ग्रहीतॄणामेवं तेष्वेव जायते[38]॥

पतञ्जलिराचार्यो वागर्थौ अभिन्नौ मनुते, अर्थो हि वाचामन्तरङ्गभूता शक्तिः विद्यते। अबहिर्भूता हि शब्दार्थ इति मनुते पतञ्जलिः - शब्दश्च शब्दाद् बहिर्भूतः अर्थोऽबहिर्भूतः'[39]। श्रुतेन शब्देनैकेन तत्त्वद्वयमवगम्यते इति 'स्वं रूपं शब्द-स्याऽशब्दसंज्ञा' इति सूत्रं भाषमाणः पतञ्जलिः प्रत्यपादयत्- 'अस्त्यन्यद् रूपात् स्वं शब्दस्येति। किं पुनस्तत्? अर्थः। शब्देनोच्चारितेनार्थो गम्यते गामानय, दध्यशानेति। अर्थः आनीयते, अर्थश्च भुज्यते,। सोऽमर्थः तात्त्विकदृष्ट्या द्वैविध्यं भजते - मुख्यः गौणश्च। तत्रादौ -

[36] वा. प. ब्रह्म. 47
[37] वा. प. ब्रह्म. 329
[38] वा. प. ब्रह्म. 54
[39] महा. 1.1.66

1. मुख्यार्थः

लौकिकप्रवृत्त्या निवृत्त्या च शब्दानां सार्थक्यं निश्चीयते इति रीत्या सर्वोऽपि सार्थकः शब्दः स्वकीयं यत्किञ्चित् प्रवृत्तिनिमित्तमाधत्ते। यत् प्रवृत्तिनिमित्तमाश्रित्य यदा यः शब्दो लोके प्रवृत्तः यदि स शब्दः तदेवाऽभिदध्यात्तदा सोऽर्थो मुख्यः परिगण्यते -

शब्दस्योच्चारणे स्वार्थः प्रसिद्धो यस्य गम्यते।
स मुख्य इति विज्ञेयो रूपमात्रनिबन्धनः[40]॥

शब्दस्य अनेकविधं प्रवृत्तिनिमित्तं सम्भवति। गौरिति पदं जातिलक्षणं प्रवृत्तिनिमित्तमभिधत्ते। शुक्ल इति पदं गुणलक्षणम्, पाचक इति पदं क्रियालक्षणं राजपुरुष इति पदं सम्बन्धलक्षणम्, डित्थ डवित्थ इति पदञ्च स्वरूपलक्षणं प्रवृत्तिनिमित्तमभिलक्ष्य प्रयुज्यते। एतदेव च शब्दानां स्वार्थोऽप्युच्यते।

2. गौणोऽर्थः

यत् प्रवृत्तिनिमित्तमाश्रित्य यः शब्दः प्रवृत्तः स शब्दस्य मुख्योऽर्थः। स एव मुख्यः शब्दाऽभिधेयो यस्मिन् अर्थान्तरे समारोपितस् स गौणोऽर्थ उच्यते। अत एवाह पतञ्जलिः - अर्थस्त्वर्थान्तरे समारोपितो यदा शब्दप्रवृत्तिनिमित्तं भवति तदा गौणव्यवहारः'[41] इति अर्थप्रकरणाद्यपेक्षोऽयं गौणार्थः शब्दान्तरैः सह युक्तो भवति। अत एवाह भर्तृहरिः -

अर्थप्रकरणापेक्षो यो वा शब्दान्तरैः सह।
युक्तः प्रत्याययत्यर्थं तं गौणमपरे विदुः[42]॥

शब्दो यदा स्वप्रवृत्तिनिमित्ताच्च्युतः अर्थान्तराभिधानाय प्रकरणादिकमपेक्षते तदा प्रकरणादिना अवगतोऽर्थो गौणः। लक्ष्यार्थो व्यङ्ग्यार्थश्चोभावेव गौणौ अर्थौ भवतः। गौणे ह्यर्थे मुख्यार्थसम्बन्ध आवश्यको भवति। अत एवाह पतञ्जलिः शब्दो न कदाचित् मुख्यार्थपरित्यागेनार्थान्तरे प्रवर्तते'[43] इति मुख्यार्थो गौणार्थस्य निमित्तं भवतीति भर्तृहरिणाऽपि प्रतिपादितम् -

---

40 वा. प. ब्रह्म. 267
41 महा. 8.3.82
42 वा. प. ब्रह्म. 264
43 महा. 8.3.82

स्वार्थे प्रवर्तमानस्य यस्यार्थे योऽवलम्बते।
निमित्तं तत्र मुख्यं स्याद् निमित्ती गौण इष्यते[44]॥

एवञ्च केषाञ्चिन्मते गौणमुख्यार्थयोः निमित्तनिमित्तिभावः सम्बन्धः सन्तिष्ठते 'गोत्वानुषङ्गी वाहीके निमित्तात् कैश्चिदिष्यते' इति वाक्यपदीयस्य वाक्यकाण्डे भर्तृहरिः। मुख्यार्थे गौणार्थे च कार्यसम्प्रत्यये समुपस्थिते सति प्राधान्यात् मुख्यार्थे एव कार्यव्यवस्था सम्पाद्यते - 'गौणमुख्ययोः मुख्ये सम्प्रतिपत्तिः'[45] इति पतञ्जलिः। गौरनुबन्ध्यः इत्यत्र मुख्यार्थः सास्नादिमदर्थः एव अनुबन्ध्यते न तु वाहीकः। अतः अतस्मिन्नर्थे तदर्थस्य सम्प्रतिपत्तिः एव खलु गौणः अर्थः सम्प्रतीयते। चतुर्भिः प्रकारैः च अतस्मिन्नर्थे तदर्थस्य अवगतिः दृश्यते - 'चतुर्भिः प्रकारैरतस्मिन् स इत्येतद् भवति'[46] इति पतञ्जलिः। एते चत्वारः प्रकाराः सन्ति -

1. तात्स्थ्यात्
2. ताद्धर्म्यात्
3. तत्साहचर्यात्
4. तत्सामीप्यात्

1. तात्स्थ्यात्

मञ्चाः क्रोशन्ति, गिरिः दह्यते इत्यादौ मञ्चस्य क्रोशनाऽसम्भवात् मञ्चशब्दः स्थानविशेषरूपं स्वप्रवृत्तिनिमित्तं परित्यज्य मञ्चस्थं पुरुषविशेषम् अर्थम् आह। गिरेश्च दहनाऽसम्भवात् गिरिशब्दः गिरिस्थं द्रव्यविशेषमर्थमाह। वक्तुस्तत्रैव तात्पर्यात्। अत्र मञ्चशब्दः मञ्चस्थार्थे तथा गिरिशब्दः गिरिस्थद्रव्ये आरोप्यते।

2. ताद्धर्म्यात्

जटिलं यान्तं यज्ञदत्तम् इत्याह इत्यत्र जटिले यज्ञदत्तव्यपदेशः समारोप्यते। यज्ञदत्ते यानि कार्याणि तानि जटिनि अपि दृश्यन्ते अतो जटी यज्ञदत्त इत्युच्यते।

3. तत्साहचर्यात्

'यष्टीः प्रवेशय इत्यत्र यष्टीनां प्रवेशासम्भवेऽपि वक्तुः तात्पर्यानुपपत्तेः यष्टिशब्दः स्वप्रवृत्तिनिमित्तं परित्यज्य यष्टिसाहचर्यात् यष्टिधरान् अभिधत्ते।

---

44 वा. प. ब्रह्म. 265
45 महा. 8.3.82
46 महा. 8.3.82

4. तत्सामीप्यात्

'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र गङ्गापदं भगीरथखातावच्छिन्नं प्रवाहविशेषं स्वाभिधेयं प्रवृत्तिनिमित्तं पर्यत्यजत्। गंङ्गायां घोषावस्थानाऽसम्भवात्। अतो गंङ्गापदमत्र गंङ्गासमीपस्थं तटविशेषमर्थं व्यनक्ति। अतो यथा शब्दोऽनुशास्यते तथैवार्थोऽपि अनुशासनीयः। भर्तृहरिणा व्याकरणेन अनुशासनीयस्य अर्थस्य द्वैविध्यमुपस्थापितम्, अपोद्धारपदार्थः स्थितलक्षणार्थश्चेति। शास्त्रीयव्यवहाराऽनुपाती अपोद्धारपदार्थो व्याकरणस्य अनुशासनीयोऽर्थो विद्यते। अपोद्ध्रियते वाक्यार्थेभ्यः पृथक् क्रियते इति अपोद्धारपदं व्युत्पाद्यते। प्रकृत्यर्थः प्रत्ययार्थश्च अपोद्धारपदार्थेन अभिप्रेतः। अयं च शास्त्रीयोऽर्थः लोके व्यवहारविषयो न भवति। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रकृत्या प्रकृत्यर्थः प्रत्ययेन च प्रत्ययार्थः अवगम्यते। द्वितीयोऽर्थः स्थितलक्षणः। तेन स्थितलक्षणेन वाक्यार्थो विवक्षितः। तथाहि - स्थितलक्षणस्तु वाक्यरूपोपग्रहः कल्पितोद्देशविभागः विशिष्टः एकः क्रियात्मा विच्छिन्नपदार्थग्रहणोपायप्रतिपाद्यः'[47] इति। स्थितलक्षणादेव अर्थात् अपोद्धारपदार्थरूपः विच्छिन्नार्थः प्रविभज्यते। पदानि सामान्यमर्थं प्रतिपादयन्ति, मिलित्वा च विशेषम्। पतञ्जलिमते सामान्येऽर्थे वर्तमानानां पदानां विशेषेऽर्थे यदवस्थानं तत् वाक्यार्थो विवक्षितः। पदार्थः कदापि स्थितलक्षणार्थो न भवति, तस्य वाक्यार्थे तिरोधानात्। स्थिरस्वरूपकस्य अर्थस्यैव स्थितलक्षणार्थत्वस्वीकारात्। वाक्यार्थस्तु न क्वापि तिरोदधातीति वाक्यार्थस्यैव स्थितलक्षणार्थत्वम् एतत् सर्वं वाक्यपदीये सुस्पष्टं दरीदृश्यते।

शब्दसंक्षेपः

1. अष्टा. - अष्टाध्यायी
2. महा. - महाभाष्यम्
3. वा. प. ब्रह्म. स्व. - वाक्यपदीयम् ब्रह्मकाण्डः स्वोपज्ञहरिवृषभटीका
4. महा. पस्प. उद्यो. - महाभाष्य पस्पसाह्निक उद्योत
5. महा. प्रत्या. - महाभाष्यम् प्रत्याहाराह्निक
6. वा. प. ब्रह्म. - वाक्यपदीयम् ब्रह्मकाण्डः
7. वा. प. वाक्य. - वाक्यपदीयम् वाक्यकाण्डः
8. शा.भा. - शबरभाष्यम्

[47] वा. प. ब्रह्म. स्व

सन्दर्भग्रन्थसूची

1. उणादिकोषः, (व्याख्या.) स्वामी दयानन्द सरस्वती, (सम्पा.) युधिष्ठिरो मीमांसकः, श्रीमती सावित्री देवी बागडिया ट्रस्ट, कलकत्ता, १९८७
2. पाणिनिविरचिता अष्टाध्यायी, परिष्कर्ता श्रीगोपालदत्तशास्त्री, (सम्पा.) श्रीगोपालदत्तपाण्डेयः, चौखम्बा सुभारती प्रकाशन ग्रन्थमाला -१९, २०१७
3. पातञ्जलं महाभाष्यम्, नवाह्निकरूपं प्रदीपोद्योतसहितं, (सम्पा.) डॉ. बालशास्त्री, वापी विलास प्रकाशन, वाराणसी, १९८८
4. वाक्यपदीयम् (ब्रह्मकाण्ड), हरिवृषभकृतस्वोपज्ञवृत्त्या अम्बाकर्त्रीव्याख्यया च सहितम्, संपूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः, वाराणसी, १९८८
5. वाक्यपदीयम् (ब्रह्मकाण्डम्), अम्बाकर्त्रीव्याख्यया च सहितम्, संपूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः, वाराणसी, १९८८

'अमरुकशतक' की 'नन्दना' एवं ज्ञानानन्दी टीकाओं का वैशिष्ट्य

रवीन्द्र यादव, रश्मि देवी, अपराजिता मिश्रा एवं ललित कुमार त्रिपाठी

संस्कृत वाङ्मय में गीतिकाव्य की दो विधाएं प्रवर्तमान दिखाई पड़ती हैं - प्रथम प्रबन्धकाव्य तथा द्वितीय मुक्तक काव्य। वस्तुतः काव्य के श्रव्य तथा दृश्य रूपों में श्रव्यकाव्य के गद्य, पद्य तथा चम्पू उपभेद किए गए हैं, तत्पश्चात् पद्यकाव्य पुनः पाँच उपभागों मे विभक्त होता है - मुक्तक, युग्मक, सन्दानितक, कलापक एवं कुलक तथा दृश्य काव्य में रूपकादि तथा उसके दस भेदों की गणना होती है। मुक्तक काव्य ,काव्य साहित्य के ही अन्तर्गत उसके उपभेद के रूप में आता है। साहित्य की अन्य विधाओं की भाँति इसके भी बीज ऋग्वेद में प्राप्त होते हैं। मुक्तक को गीतिकाव्य के अन्तर्गत भी समाहित किया जाता है। गीतिकाव्य सदा संस्कृतभारती को रसाप्लावित करते रहे हैं। इनमें काव्यमयता के साथ ही संगीतात्मकता भी प्राधान्येन रहती है, तथा इनमें शृंगारिक, धार्मिक अथवा नैतिक में से एक ही विषय मुख्यतः वर्णित होता है।

वस्तुतः प्राचीन ग्रन्थों में मुक्तक और गीतिकाव्य के बीच कोई स्पष्ट भेद नहीं किया गया है। गीति का उद्भव भी मुक्तक से ही माना जाता है। परन्तु बाद में कलात्मक प्रवृत्ति तथा रुढ़िवादिता के कारण मुक्तक की भावात्मक विधा का गीतिकाव्य से भिन्न रूप स्थापित हो गया। भाषा की संक्षिप्तता एवं कल्पना की समाहार शक्ति गीति एवं मुक्तक दोनो में समान होती है[1] किन्तु गीति को भावप्रधान तथा मुक्तक को कलाप्रधान मान कर इन्हें कुछ विद्वान पृथक् करते हैं। मुक्तक काव्य में भावस्वातन्त्र्य, लावण्य एवं शृंगारिकता , प्रसाद एवं माधुर्य गुण, गीतितत्त्व, कविहृदयगत प्रस्फुरण, प्रकृतिचित्रण, नैतिक आदर्श, दार्शनिकतत्त्व आदि विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं।[2]

सर्वप्रथम आचार्य भामह ने मुक्तक का पृथक् काव्यविधा के रूप में उल्लेख किया। उन्होंने मुक्तक को `अनिबद्धकाव्य' की संज्ञा दी थी। भामह के पश्चात दण्डी ने[3] मुक्तक का दूसरे नाम से उल्लेख किया है । आचार्य वामन ने मुक्तक रचनाओं

---

1 संस्कृत मुक्तककाव्य स्वरूप : एक विवेचन, लेख – अमित शर्मा, International Journal of Advanced Research and Development, Vol. – 3 Issue – 2, 2018, Page no. 316 – 317

2 पूर्ववत्

3 मुक्तकं कुलकं कोशः सङ्घात इति तादृशः ।
सर्गबन्धांशरूपत्वादनुक्तः पद्यविस्तर 8 ॥ (का.द. 1/13)

के प्रति हेयदृष्टि प्रदर्शित की है।[4] आचार्य आनन्दवर्धन संस्कृतकाव्य परम्परा के प्रथम विद्वान हैं जिन्होंने `मुक्तक' शब्द का प्रथमतया प्रयोग किया। उन्होंने कहा कि मुक्तकों में रस का अभिनिवेश या प्रतिष्ठा ही बन्ध की व्यवस्थापिका है और कवि को उसका आश्रय लेना चाहिए।[5] ध्वनिकाल तक आते- आते मुक्तककाव्य की प्रतिष्ठा हो चुकी थी, इसमें अमरुक जैसे मुक्तककाव्यकारों की रचनाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान था। अमरुक का प्रत्येक पद्य प्रबन्ध काव्य की क्षमता रखता है, आनन्दवर्धन के इस कथन ने मुक्तक के महत्त्व को और दृढतापूर्वक स्थापित कर दिया। यही कारण था कि आनन्दवर्धन के टीकाकार आचार्य अभिनवगुप्त ने मुक्तक का लक्षण भी किया – 'पूर्वापरनिरपेक्षेणाऽपि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्'[6] अग्निपुराण में भी मुक्तक को परिभाषित करते हुए उसमें चमत्कार शक्ति का प्राधान्य माना गया है - `मुक्तकं श्लोक एकैव चमत्कारक्षमः सताम्'[7] वस्तुतः अनिबद्ध काव्य की सभी विधाओं का बीज मुक्तक ही है। मुक्तक काव्य के विकास के साथ ही संस्कृतकाव्यधारा में रसात्मक लघुकाव्य, स्तोत्रकाव्य, प्रशस्तिकाव्य तथा सूक्तकाव्य आदि काव्य प्रादुर्भूत हुए।

मुक्तक काव्य परम्परा में बौद्धधर्म से सम्बद्ध `खुद्दकनिकाय' की थेरगाथा, हालकृत गाहासत्तसई, भर्तृहरि रचित शतकत्रय शृङ्गारशतक, नीतिशतक तथा वैराग्यशक, अमरुक कृत अमरुकशतक, घटकर्पर कृत घटकर्परकाव्य, मातृचेटकृत शतककाव्य, मयूर कृत सूर्यशतक, पण्डितराज जगन्नाथ कृत गंगालहरी भामिनीविलास आदि कुछ प्रमुख मुक्तक काव्य हैं। मुक्तक परम्परा में ही परिगणित अनेक प्रकाशित शतक काव्य तथा स्तोत्रकाव्य प्राप्त होते हैं कुछ अन्य के उद्धरण अन्य काव्यों में प्राप्त होते हैं तथा कुछ हस्तलेख रूप में विभिन्न संग्रहालयों में अप्रकाशित अवस्था में संगृहीत हैं। अतः प्रभूत मात्रा में मुक्तक साहित्य की रचना संस्कृत परम्परा में हुई जो आज भी आधुनिक रचनाकारों द्वारा प्रवर्धमान हैं।

अमरुकशतक और उसकी टीकाएँ

मुक्तककाव्य परम्परा में नवीं शती में अमरुक कवि कृत अमरुकशतक का स्थान सर्वोपरि है। अमरुक की प्रशंसा आनन्दवर्धन ने करते हुए उनके मुक्तकों की समता प्रबन्धकाव्य से की है। इनकी प्रशस्ति इनके टीकाकार अर्जुनदेववर्मन

4 नानिबद्धं चकास्ति एकतेजःपरमाणुवत्। (का.ल.सू. 1/3/39)

5 मुक्तकेषु प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयोः दृश्यन्ते, (ध्वन्या.वृत्ति 3/7)

6 ध्वन्या. पृ.175

7 अग्नि. अध्याय 337

इस प्रकार करते हैं -

अमरुकविडमरुकनादेन विनिह्रुता जयति।
शृङ्गारभणितिरूपा धन्यानां श्रवणविवरेषु॥[8]

आधुनिक विद्वान आचार्य कपिलदेव द्विवेदी अमरुककाव्य की प्रशस्ति में कहते हैं -

शतपद्यं क्रतुं कृत्वा दिव्यसौन्दर्यभोगभुक्।
अमरुः अमरेन्द्रः सन् रसभावविभाश्वरः॥[9]

अमरुक के पद्य रसवत्ता, व्यञ्जना, माधुर्य तथा गीतात्मकता में अन्यतम हैं। अमरुक शब्दकवि नही प्रत्युत रसकवि हैं। इनके पद्य शृंगार रस से युक्त तथा प्रेमी हृदय की भावनाओं का चित्रण करने में विशेष सामर्थ्य युक्त हैं। प्रेम की विभिन्न अवस्थाओं में प्रेमी तथा प्रेयसी की मनोवृत्तियों तथा शारीरिक चेष्टाओं का अत्यन्त सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इन के सरस पद्यों की विशिष्टता है। इनका परवर्ती कवियों पर भी व्यापक प्रभाव पड़ा, आर्याशप्तशती तथा भामिनी विलास में इनके सौन्दर्यनिरूपण की पद्धति का अनुकरण दिखता है। अनेक ब्रजभाषा के कवियों ने भी इनसे प्रभावित होकर मुक्तक रचनाएँ की। आनन्दवर्धन के उल्लेख के पश्चात् अमरुकाव्य को काव्यशास्त्रकारों द्वारा लक्ष्य ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया गया। अनेक परवर्ती काव्शास्त्रीय ग्रन्थों में इनके पद्य उद्धृत किए गये हैं। इससे स्पष्ट होता है कि अमरुशतक शृंगारप्रधान मुक्तक काव्यों का प्रतिमान है।

अमरुकशतक की अनेक टीकाएं प्राप्त होती हैं। इनमें अर्जुन देव कृत `रसिकसञ्जीवनी', वेमभूपाल कृत शृङ्गारदीपिका, रुद्रदेव कृत `विदग्धचूडामणि', रविचन्द्रकृत, `कामदाटीका', जसरूप कृत `नन्दना', सूर्यदास कृत `शृङ्गारत-रङ्गिणी', रामानन्दकृत `सरलाक्षराटीका', चतुर्भुजकृता `भावचिन्तामणि', शे-षरामकृष्ण कृत `रसिकसञ्जीवनी', विद्याधर रचित `विद्याकरी', वाक् कवि कृत `अमरुशतकलीला' आदि प्रसिद्ध हैं। डॉ. सुशील कुमार डे ने अमरुकशतक की चालीस टाकाओं का उल्लेख किया हैं।

अमरुकशतक की उपरोक्त टीकाओं में जसरूप कृत `नन्दना' टीका तथा ज्ञानानन्दकलाधर कृत `ज्ञानानन्दी' टीकाएँ इसकी अप्रकाशित तथा महत्त्वपूर्ण

[8] संस्कृत वाङ्मय का वृहद् इतिहास, काव्यखण्डः पृष्ठ -108
[9] संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, पृ. 545

टीकाएँ हैं। क्रमशः इन दोनों टीकाओं की विशिष्टताएँ निम्नवत् हैं -

अमरुकशतक की `नन्दना टीका' का वैशिष्ट्य -

जसरूप द्वारा लिखित `नन्दना' टीका अमरुकशतक की महत्त्वपूर्ण टीका है। यह टीका हस्तलेख रूप में केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय गंगानाथ झा परिसर, प्रयागराज के हस्तलेख संग्रहालय में संरक्षित है। इसकी अधिगम संख्या 2774 है। देवनागरीलिपि में लिखित इस हस्तलेख में 47 पत्र हैं। ग्रन्थ की पुष्पिका में टीकाकार के नाम के अतिरिक्त अन्य कोई भी सूचना प्राप्त नहीं होती। यह परिसर के शोधकार्य के रूप में सम्पाद्यमान ग्रन्थ है।

यह अज्ञात तथा अप्रकाशित हस्तलेख है। इस टीका की अन्य कोई भी प्रति कहीं भी होने का उल्लेख किसी भी कैटेलाग में नहीं प्राप्त होता है। यह टीका अमरुशतक के एक सौ एक पद्यों पर प्राप्त होती है। उल्लेखनीय है कि अमरुकशतक के पद्यों की संख्या भिन्न-भिन्न संस्करणों में पृथक् पृथक् है। कुछ प्रतियों में 126 पद्य तक इस काव्य के मिलते हैं।

वस्तुतः अमरुकशतक शृंगारपरककाव्य है अतः शृङ्गारीनायक की विविध अवस्थाओं का वर्णन इसमें मिलता है यथा - दक्षिण, शठ, धृष्ट तथा अनुकूल आदि शृङ्गारी नायक की चारों अवस्थाओं को नन्दना टीकाकार भी उदाहरण सहित स्पष्ट करता है। इसी प्रकार अमरुकशतक में आए हुए नायिकाओं के भेदों के उदाहरणों की व्याख्या भी टीकाकार ने सुस्पष्टरूप से की है।

अमरुकशतक में शृङ्गार के उभय पक्ष का शोभन चित्रण प्राप्त होता है। मुख्यतः शार्दूलविक्रीडितछन्द में रचित श्लोक शृङ्गाररस को उत्कर्ष पर पहुँचा देते हैं। इसके अतिरिक्त वसन्ततिलका, स्रग्धरा, शार्दूलविक्रीडित, हरिणी, शिखरिणी, मन्दाक्रान्ता, मालिनी, अनुष्टुप, वंशस्थ आदि छन्दों में भी कतिपय पद्यों की रचना की गई है। अमरुककाव्य की 'नन्दना' टीका अनेक स्थलों पर अन्य टीकाओं की अपेक्षा वैशिष्ट्य रखती है। टीका की सबसे बड़ी विशेषता उसकी भाषागत तथा शैलीगत सरलता, सरसता तथा बोधगम्यता है। यह वैशिष्ट्य इसे अन्य टीकाओं से पृथक् करता है। ललितपदावली अल्पसमास युक्त भाषा वैदर्भी रीति के अनुकूल होती है।जिसका प्रयोग जसरूप करते हैं। पाञ्चाली रीति का भी आश्रय कतिपय स्थलों पर टीकाकार करता है परन्तु गौणी रीति का सर्वथा परित्याग किया गया है। इस टीका में नायक-नायिका लक्षण तथा अन्य काव्यशास्त्रीय पारिभाषिक शब्दों का शास्त्रसम्मत विवरण दिया गया है।

नन्दना टीका में चतुर्थ श्लोक की टीका में दूतीभेद, नायिका दृष्टि भेद

दिया गया है ।यह व्याख्या पूर्ववर्ती अन्य टीकाओं में प्राप्त नहीं होती है या इसकी अल्प व्याख्या ही मिलती है। 'नन्दना' टीका में अमरुकशतक के प्रत्येक पद्य की टीका करते हुए उसमें प्रयुक्त रस, छन्द, अलंकार, नायक भेद, नायिका भेद आदि से सम्बद्ध सम्पूर्ण एवं सुव्यवस्थित सूचना दी गई है।

अमरुकशतक की ज्ञानानन्दी टीका

ज्ञानानन्द कृत ज्ञानानन्दी टीका भी अद्यावधि अप्रकाशित है। अमरुक-शतक की इस टीका का हस्तलेख भी गंगानाथ झा परिसर के प्रयाग स्थित मातृ-कागार में संरक्षित है ,जिसकी हस्तलेख संख्या 35437 है। यह परिसरीय शोधकार्य के रूप में सम्पाद्यमान ग्रन्थ देवनागरी लिपि में 28 पत्रों पर लिखित है। टीकाकार ज्ञानानन्द कलाधर रविचन्द्र के विषय में टीका की पुष्पिका से कोई भी सूचना प्राप्त नहीं होती। इस मातृका की अन्य कोई प्रति भी प्राप्त नहीं होती।

ज्ञानानन्दी टीका का सबसे बड़ा वैशिष्ट्य यह है कि इसमें अमरुक के पद्यों की शृङ्गारपरक तथा शान्तपरक दोनों ही व्याख्याएँ की गई हैं। इसकी पुष्टि आचार्य बलदेव उपाध्याय ने संस्कृतवाङ्मय के वृहत् इतिहास में भी की है[10] टीकाकार स्वयं इन दो भिन्न अर्थों के प्रतिपादन में काठिन्य को स्वीकार करते हैं –

क्व चातिकर्कशः शान्तः क्व चातिललितः शुचिः
एकत्र काव्ये व्याख्यातुं कौशलं कवेः ॥[11]

मानिनी बाला नायिका का वर्णन करने वाले पद्य की शृंगारपरक व्याख्या को प्रस्तुत करता यह श्लोक द्रष्टव्य है -

दत्तोऽस्याः प्रणयस्त्वयैव भवता सेयं चिरं लालिता,
दैवादद्य किल त्वमेव कृतवानस्या नवं विप्रियम्।
मन्युर्दुःसह एव यात्युपशमं नो सान्त्वदैः स्फुटं,
हे निस्त्रंश ! विमुक्तकण्ठकरुणं तावत्सखी रोदितु ॥

दत्त इत्यादि। चतुरा सखी वदति हे निस्त्रंश ! हे निशङ्क ! तावत्सखी रोदितु विमुक्तकण्ठञ्च तत्करुणञ्च इति यथा स्यात्तथा कथमित्याह अस्याः प्रणयः प्रेमाश्रयः त्वयैव दत्तः भवतैव इयं चिरं लालिता वर्द्धिता अद्य दैवात् दैवयोगात् अस्याः नवं

[10] संस्कृत वाङ्मय का वृहद् इतिहास, काव्यखण्डः पृष्ठ -103
[11] अमरु. नन्दना टीका, श्लोक -5 की टीका

नूतनं विप्रियं त्वमेव कृतवान् एष मन्युः क्रोधो दुःसहः शान्त्ववादैः प्रीतिवचनैः समं न याति शान्त्ववादाः कोपस्य प्रत्युद्दीपनहेतवः तत् रोदित्वेव एतेन तस्या रोदनेन लोकप्रचारो भवतु इति चातुर्य्यं व्यज्यते। बाला केवलमेव रोदिति इति अस्यां बालत्वं व्यज्यते।

शान्तपक्षे हे विमुक्त! हे निःशङ्क! कृतं सत्यत्वं वानसि गच्छन्नसि यात्युपशमं याति ज्ञानं या-प्रापणे धातोर्गत्यर्थत्वात् ज्ञानार्थत्वन्तेनोपशमं शान्तिं किम्भूतं विप्रियमिष्टमित्रादीत्युक्तम्। असीत्यस्यान्ते आ इति विषादे। नवं प्रत्यग्रदैवाद्दिव्यं भाग्यमस्तीति दैवात् कर्म्मविशेषो हि भाग्यमुक्तस्तत्कर्म्मक्षयादेव अस्या मायायाः प्रणयस्त्वया दत्तः चिरं लालिता च इयं अद्यत्वं शान्तोसि एव मन्युर्दुःसहस्तन्नोऽस्माकं सखी माया रोदितु किम्भूतमुपशमं शान्त्ववादैः प्रियवचनैः स्फुटं व्यक्तकण्ठं करुणञ्च अस्थितदयम्। सर्वभूतदयायुक्तः प्रियवाक् प्रियर्शनः इति भागवतलक्षणं तत्सूचितम्। तुष्टिपुष्टिलक्ष्मीप्रभृतयो मायासख्यः।

इस टीका में अमरुककाव्य की रुद्रदेव कृत विदग्धचूडामणि टीका का उल्लेख अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है। टीकाकार शब्दों के अर्थ स्पष्ट करते हुए मेदिनी, अमरकोश, हेमचन्द्र, विश्वकोश आदि कोशों के उद्धरण देते हैं तथा अन्य रसप्रदीप, महाभारत, वेद, विष्णुपुराण, अश्वशास्त्र, श्रीमद्भागवत् आदि ग्रन्थों से प्रमाण भी प्रस्तुत कर अपने मत की पुष्टि करते चलते हैं।

इस प्रकार शृङ्गार परक पद्यों की शान्त रस के अनुसार व्याख्या प्रस्तुत करना टीकाकार के भाषा पर असाधारण अधिकार का परिचायक है। योगशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र में टीकाकार का गहन ज्ञान शान्तपरक व्याख्या में पदे पदे लक्षित होता है। यह टीका अमरुकशतक की पाण्डित्यपूर्ण टीका है।

इस प्रकार इन दोनों ही टीकाओं की शैली इन्हें अन्य टीकाओं से तथा एक दूसरे से भी पृथक् और विलक्षण बनाती है।

शब्दसंकेत

1. अमरु. - अमरुकशतक
2. का.द. - काव्यादर्श
3. का.ल.सू. - काव्यालङ्कारसूत्र
4. ध्वन्या. - ध्वन्यालोक

सन्दर्भग्रन्थसूची

1. अग्निपुराण, अनुवादक-एम.एन. दत्त, संपादक- के. एल. जोशी, 2010
2. अमरुकशतक, रसिक सञ्जीवनी तथा प्रकाश व्याख्या सहित, व्याख्या- प्रद्युम्न पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, 2011
3. काव्यादर्श, दण्डी, सम्पा.रामचन्द्राचार्य, चौखम्भा विद्याभारती भवन, वाराणसी, 1997
4. काव्यालंकारसूत्रम्, वामन, सम्पा. बेचन झा, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, 2001
5. ध्वन्यालोक, आनन्दवर्धन, सम्पा. डा. नगेन्द्र, ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी, 1962
6. संस्कृतवाङ्मय का वृहत् इतिहास, आचार्य बलदेव उपाध्याय, काव्यखण्ड, सम्पा. राधावल्लभ त्रिपाठी, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ

Inter-sentential Tagging: Comparison between Sanskrit Tagging Scheme and Penn Discourse Treebank

Monali Das

Sanskrit Tagging Scheme

Pāṇini's system of knowledge representation is based on kāraka theory. Kārakas are relations that mediate mappings from semantic relations to phonological representations in terms of case endings. A sentence may be constituted of one or more words. Definition of a sentence is given in various texts. Some of the notable ones are given below.

- Raja (1963, p.152) defines sentence as a collection of words, quoting *padasaṃghātajaṃ vākyam.* (BD II, 117)
- Raja (1963, p.152) also quotes *arthaikyatvād ekaṃ vākyaṃ sākāṅkṣaṃ ced vibhāge syāt* (MS II, 1.46) which means that a group of words serving a single purpose forms a sentence, if on analysis the separate words are found to have mutual expectancy.
- Sharma (1998, p.32) defines a sentence as *vākyaṃ padasamūhaḥ* quoting *Nyāya-kośa, Tattvacintāmaṇi* and *Tarkasaṃgraha*

A complex sentence is thus, by implication, a construction where two or more verbal stems occur stated explicitly or implicitly. A complex sentence can be analysed into two or more simple sentences. Relations between them are expressed either syntactically or semantically. Pāṇini used only six kārakas viz. *kartā, karman, karaṇam, sampradānam, apādānam* and *adhikaraṇam* to represent a gamut of semantic relations between a verb and a noun. In addition he mentions several relations that show the relation of a sub-ordinate verb with the main verb such as *pūrvakālīnatva, samakālīnatva* etc. Ramakrishnamacharyulu (2009)

have consolidated and summarised syntactico-semantic relations which are discussed in various books on śābdabodha theories of different schools. A tag set has also been prepared to mark these relations. It contains two types of tags.

1. Inter-sentential tags to mark relations between two sentences.
2. Intra-sentential tags to mark relations between words in a sentence.

In the course of discourse analysis we look at inter-sentential relations only. Most of the inter-sentential connectives are particles like, *ca, vā, api* etc.

Inter-sentential Relations

Relations which join two *tiṅantas* or the argument in the domain of one *tiṅanta* with those of the other are called inter-sentential relations. Inter-sentential relations may be classified as,

1. Relations denoted by link words.
2. Relations denoted by non-finite verbs.

Relations denoted by link words - Link words are connecting words between more than one *tiṅantas* in a sentence. *Kintu, parantu, atha, apica* etc. are some of the link words. While using these connectives, after the first sentence is completed the second sentence will start with one of these connectives. Also there are connectors which occur in pairs such as, *yadi-tarhi, yadyapi-tathāpi, yadā-tadā* etc. These relations are marked separately in individual sentences. Such as, while *yadi* is used in the first sentence, *tarhi* will be used in the second sentence. In case of paired connectives, we can use either or both of them to connect two sentences.

Relations denoted by non-finite verbs - Apart from the link words there are some non-finite verbal suffixes which link two sentences. Suffixes such as, *ktvā, tumun, śatṛ* and *śānac*. The *ktvā* suffix denotes an activity which precedes the activity denoted by the main verb. The *ktvā* ending verb is related to main verb. The *tumun* suffix denotes the purpose of the main activity. The *śatṛ* and *śānac* suffixes are used to denote the simultaneity of two activities.

In inter-sentential relations, some of the connectives connecting two sentences are single while most of them are paired connectives. There are two different structures for representing single and paired connectives, as discussed in Kulkarni and Das (2012). These structures are shown in figure 1 and 2.

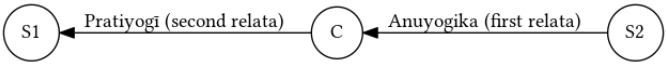


Figure 18.1: Discourse structure with single connective

If C is the connective connecting two sentences S1 and S2, the general structure is represented in figure 1.

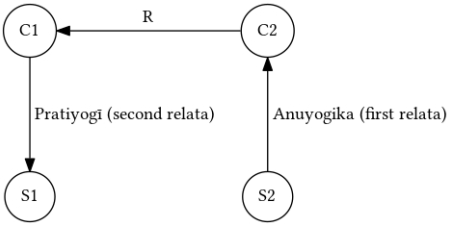


Figure 18.2: Discourse structure with paired connectives

When there are paired connectives C1 and C2 connecting S1 and S2, the relation between them is represented in figure 2. Here R binds C1 and C2.

Explicit Relations

1. **Samānakālaḥ (simultaneity of time)**: Yadā, tadā, yasmin kāle, tasmin kāle. Example - Yadā meghaḥ varṣati tadā mayūraḥ nṛtyati.
2. **Samānādhikaraṇatvam (colocation)**: Yatra, tatra, yasmin, tasmin. Example - Yatra nāryastu pūjyante tatra devatāḥ ramante.
3. **Hetuhetumadbhāvaḥ (cause effect relationship)**: Yataḥ, tataḥ, yasmāt, tasmāt, ataḥ. Example - Yataḥ ayam samaye na āgataḥ tataḥ parīkṣāyāṃ na anumataḥ.
4. **Asāphalyam (failure)**: Kintu. Example - Gajendraḥ tīvram prayatnamakarot kintu nakragrahāt na muktaḥ.
5. **Anantarakālīnatvam (following action)**: Atha. Example - Prathamam ahaṃ śṛṇomi atha likhāmi.
6. **Kāraṇasatve'api kāryābhāvaḥ / kāraṇābhāve'api kāryotpattiḥ (non-productive effort or product without cause)**: Yadyapi, tathāpi, athāpi. Example - Yadyapi ayaṃ bahu prayāsaṃ kṛtavān tathāpi parīkṣāyām tu anuttīrṇaḥ.
7. **Pratibandhaḥ (conditional)**: Yadi, tarhi, cet, tarhyeva. Example - Yadi bhavān icchati tarhi aham bhavataḥ gṛham āgamiṣyāmi.
8. **Samuccayaḥ (conjunction)**: Ca, apica, kiñca. Example - Bhikṣām aṭa apica gāṃ ānaya.
9. **Pūrvakālīkatvam (precedence)**: The non-finite verb form ending with suffix *ktvā* 'adverbial participial'. The *ktvā* ending verb is related to main verb by the relation of *pūrvakālīnatvam*. Example - Rāmaḥ dugdhaṃ pītvā śālāṃ gacchati.
10. **Samānakālīkatvam (Simultaneity of two activities)** : The non-finite verb form ending with suffix *Śatṛ and Śānac* 'present participle'. Example - Bālakaḥ jalam piban gacchati.

11. **Prayojanam (purpose of the main activity)**: The non-finite verb form ending with suffix *tumun* 'to-infinitive'. Example - Aham bhavantaṃ mama gṛhe bhoktum āhvayāmi.

The explicit connectives are underlined. In the case of single connectives the structure will be similar to figure 4. And the structure of paired connectives will be similar to figure 3.

In the case of paired connectives, instances of using either of the connectives or both are found. For example, some possible instances of the paired connective *yadi-tarhi* are given below -

1. Yadi bhavān icchati tarhi aham bhavataḥ gṛham āgamiṣyāmi
2. bhavān icchati tarhi aham bhavataḥ gṛham āgamiṣyāmi
3. Yadi bhavān icchati aham bhavataḥ gṛham āgamiṣyāmi.

Implicit Relations

Sentential connectives are not merely recognised through explicit connectives but there are some cases also where no discourse connectives found explicitly but the sentences are related through some connectives which need to be inferred. In this case a possible connective is inserted and the connective is called implicit connective. According to Speijer (1886), the omission or absence of a connective between parts of sentence happens because of the excitement of speaker.

Here are some examples of implicit connectives -

- *Astu evaṃ saḥ mahātmā vayaṃ (ca) kṛpaṇāḥ.* (Pañca. 26)
- *Na te doṣo ayaṃ (kintu) svāmino doṣo.* (ibid. 113)
- *Tasmin daśarathe gate tu vasiṣṭhapramukhaiḥ dvijaiḥ rājyāya niyujyamānaḥ*
  mahābalaḥ bharataḥ rājyaṃ na aicchat (kintu) rāmapādaprasādakaḥ saḥ vīraḥ vanaṃ jagāma. (saṃ rā 33-34) [1]

[1] This śloka is the part of anvaya of the original one.

- *Ameyātmā saḥ mahātmānam rāmam abhigamya pradakṣiṇam (ca) kṛtvā sītā tatvataḥ dṛṣṭā iti nyavedayat.* (ibid. 78) [2]
- *Janakasya kule jātā devamāyā iva nirmitā rāmasya dayitā nityaṃ prāṇasamā*
  bhāryā sarvalakṣaṇasampannā nārīṇām uttamā vadhuḥ sītā api yathā śasīnaṃ rohiṇī (tathā) rāmaṃ anugatā. (ibid. 26-28) [3]
- *Purā śakram upasthāya urvī prati yāsyataḥ tava pathi surabhiḥ kalpatarucchāyām āśritā āsīt. (Tadā) dharmalopabhayāt ṛtusnātāṃ imāṃ rājñīṃ smaran tvaṃ*
  pradakṣīṇakriyārhāyāṃ tasyāṃ sādhu na ācaraḥ. (raghu. 75-76) [4]
- *Atha ekadhenoḥ kṛśānupratimāt aparādhacaṇḍāt guroḥ bibheṣi, (tarhi) ghatodhnīḥ koṭiśaḥ gāḥ sparśayatā bhavatā asya manyuḥ vinetuṃ śakyaḥ.* (ibid. 49) [5]
- *Hi devadārau tava mahān yatnaḥ (ataḥ) paravān bhavān api idam avaiti (yat) rakṣyaṃ vināśya svayaṃ akṣatena niyoktuḥ*

Rājā daśarathaḥ svargaṃ jagāma vilapan sutam.
Gate tu tasmin bharato vasiṣṭhapramukhaiḥ. (saṃ rā 33)
Niyujyamāno rājyāya naicchadrājyaṃ mahābalaḥ.
Sa jagāma vanaṃ vīro rāmapādaprasādakaḥ. (saṃ rā 34)

[2] So'bhigamya mahātmānam kṛtvā rāmaṃ pradakṣiṇam.
Nyavedayadameyātmā dṛṣṭā sīteti tatvataḥ. (ibid. 78)

[3] Rāmasya dayitā bhāryā nityaṃ prāṇasamā hitā.
Janakasya kule jātā devamāyeva nirmitā.
Sarvalakṣaṇasampannā nārīṇāmuttamā vadhuḥ.
Sītāpyanugatā rāmaṃ śaśinaṃ rohiṇī yathā. (ibid. 26-28)

[4] Purā śakramupasthāya tavorvī prati yāsyataḥ.
Āsītkalpatarucchāyāmāśrītā surabhiḥ pathi.
Dharmalopabhayādrājñīmṛtusnātāmimāṃ smaran.
Pradakṣiṇakriyārhāyāṃ tasyāṃ tvaṃ sādhu nācaraḥ. (raghu. 75-76)

[5] Athaikadhenoraparādhacaṇḍādguroḥ
kṛśānupratimādbibheṣi.
Śakyo'sya manyurbhavatā vinetuṃ gāḥ
koṭiśaḥ sparśayatā ghaṭodhnīḥ. (ibid. 49)

agre sthātuṃ hi na śakyam. (ibid. 56) [6]

In these examples the implicit connectives are shown within brackets.

Argument Structure

Sanskrit being a free word order language, there is no specific order for the connectives. However the order between the arguments and the connectives is still well defined. The possible orders of connectives and the arguments in case of single connectives are given below,

- Arg1 Arg2 (con) - (Aham bhavatḥ gṛham āgamiṣyāmi)^{arg1} (bhavān icchati)^{arg2} cet^{con}.
- Arg1 (con) Arg2 - (Prathamam aham śṛṇomi)^{arg1} atha^{con} (likhāmi)^{arg2}.
- (con) Arg1 Arg2 - Yadi^{con} (bhavān icchati)^{arg1} (aham bhavataḥ gṛham āgamiṣyāmi)^{arg2}.

Arg1 and *Arg2* refers to the first and second sentences and *con* is for the connective. From the above examples it is clear that the connective may appear at the beginning of first sentence, at the end of second sentence or between two sentences.

In case of paired connectives the following orders are possible,

- (con1) Arg1 (con2) Arg2 - Yadi^{con1} (bhavān icchati)^{arg1} tarhi^{con2} (aham bhavataḥ gṛham āgamiṣyāmi)^{arg2}.
- (con2) Arg2 (con1) Arg1 - Tadā^{con2} (mayūraḥ nṛtyati)^{arg2} yadā^{con1} (meghaḥ varṣati)^{arg1}.

Arg1 and Arg2 stand for arguments and con1 and con2 represnts connectives.

Further either of con1 and con2 can be absent. Hence we can have sentence constructions like -

[6] Bhavānapīdaṃ paravānavaiti mahānhi yatnastava devadārau.
Sthātuṃ niyokturna hi śakyamagre vināśya rakṣyaṃ svayamakṣatena. (ibid. 56)

- Arg1 (con2) Arg2 - (Bhavān icchati)^{arg1} tarhi^{con2} (aham bhavataḥ gṛham āgamiṣyāmi)^{arg2}.
- Arg2 (con1) Arg1 - (Aham bhavataḥ gṛham āgamiṣyāmi)^{arg2} yadi^{con1} (bhavān icchati)^{arg1}.
- (con1) Arg1 Arg2 - Yadi^{con1} (bhavān icchati)^{arg1} (aham bhavataḥ gṛham āgamiṣyāmi)^{arg2}.

Penn Discourse Treebank

There have been several efforts taken towards discourse analysis in computational linguistics. The major effort is the proposal of discourse tag-set by Joshi et al. (2006) in the form of Penn Discourse Treebank (PDTB). The annotation scheme is originally developed for English. The original goal of Penn Discourse Treebank (PDTB) is to annotate the million word Wall Street Journal corpus in the Penn Treebank, in which discourse connectives are annotated along with their arguments. PDTB focuses on encoding discourse relations. It has annotated the argument structure, senses and attribution of discourse connectives. In PDTB discourse connectives are seen as discourse predicates taking two and only two text spans as arguments and they are marked as Arg1 and Arg2. There are two types of discourse relations in PDTB - explicit and implicit.

Explicit Connectives

Explicit connectives are words or group of words which serve as connectives and can explicitly be identified in a sentence.

1. Identification of explicit connectives from grammatical classes.
    - Subordinating conjunctions: Because, when, since, although. For example - *The federal government suspended sales of U. S. savings bonds* because Congress has not lifted the ceiling on government debt.[7]

[7] The Penn Discourse Treebank 2.0 Annotation Manual, The PDTB Research Group, 2007, p 8

- Coordinating conjunctions: And, or, nor, but. For example - *The House has voted to raise the ceiling to $3.1 trillion*, but the Senate isn't expected to act until next week at the earliest.[8]
- Adverbials: However, otherwise. For example - *Working Woman, with circulation near one million, and Working Mother, with 625,000 circulation, are legitimate magazine success stories.* The magazine success, however, was for years lackluster and unfocused.[9]

2. Modified connectives: Connectives occurring with adverbs such as only, even, at least etc. are marked as modified connectives with the connective as head and the adverb as modifier. For example - *You can do all this* (even) if you are not a reporter or a researcher or a scholar or a member of Congress.[10]
3. Parallel connectives: Pairs of connectives where one part presupposes the presence of the other, and where both together take the same two arguments. For example - If *the answers to these questions are affirmative*, then institutional investors are likely to be favorably disposed toward a specific poison pill.[11]
4. Conjoined connectives: Conjoined connectives like when and if and if and when are treated as complex connectives. For example - When and if the trust runs out of cash – which seems increasingly likely – *it will need to convert its Manville stock to cash.*[12]

Implicit Connectives

Discourse relations are not always realised through explicit connectives, but sometimes are left to be inferred by the reader.

[8] ibid, p. 8
[9] ibid, p. 8
[10] ibid, p. 9
[11] ibid, p. 10
[12] ibid, p. 10

Such inferred relations are annotated by inserting an implicit connective that best expresses the inferred relation. For example - Several leveraged funds don't want to cut the amount they borrow because it would slash the income they pay shareholders, fund officials said. But a few funds have taken other defensive steps. *Some have raised their cash positions to record levels.* Implicit = BECAUSE High cash positions help buffer a fund when the market falls.[13]

There are three distinct pre-defined labels where implicit connectives could not be provided.

- AltLex: Where a discourse relation is inferred, but insertion of an implicit connective leads to redundancy in the expression of the relation due to relation being alternatively lexicalized by some other expression. For example - And she further stunned her listeners by revealing her secret garden design method: *Commissioning a friend to spend "five or six thousand dollars . . . on books that I ultimately cut up."* AltLex [After that], the layout had been easy.[14]
- EntRel: Where an entity based coherence relation could be perceived between the sentences. For example - *Hale Milgrim, 41 years old, senior vice president, marketing at Elecktra Entertainment Inc., was named president of Capitol Records Inc., a unit of this entertainment concern.* EntRel Mr. Milgrim succeeds David Berman, who resigned last month.[15]
- NoRel: Where neither a discourse relation nor entity based coherence relation can be inferred between the adjacent sentences. For example - Jacobs Engineering Group Inc.'s Jacobs International unit was selected to design and build a microcomputer-systems manufacturing plant in County Kildare, Ireland, for Intel Corp. *Jacobs is an international*

[13] ibid, p. 17
[14] ibid, p. 22
[15] ibid, p. 23

engineering and construction concern. NoRel Total capital investment at the site could be as much as $400 million, according to Intel.[16]

Argument Structure

Structure of Explicit Connectives - Arguments are simply labelled as Arg1 and Arg2 in PDTB. Connectives are labelled as Conn. Arg2, is syntactically bound to the connective and Arg1, is the other argument. Supplements to Arg1 and Arg2, called as Sup1 and Sup2. Sup1 for material supplementary to Arg1. Sup2, for material supplementary to Arg2.

The possible orders of connectives and their arguments are:

- Arg1 Conn Arg2 - *The federal government suspended sales of U.S. savings bonds* because Congress has not lifted the ceiling on government debt.[17]
- Conn Arg2 Arg1 - Because it operates on a fiscal year, *Bear Stearns's yearly filings are available much earlier than those of other firms.*[18]
- Arg2 Conn Arg1 Arg2 - *Most oil companies*, when they set exploration and production budgets for this year, *forecast revenue of $15 for each barrel of crude produced.*[19]

From above it is clear that connectives and their arguments can appear in any relative order. Arg2 may appear between discontinuous parts of Arg1. There is no restriction on how far an argument can be from its corresponding connective.

Structure of Implicit Connectives - Implicit connectives are annotated by first selecting the first character of Arg2 as the textual span for the implicit connective, then selecting the text spans for Arg1 and Arg2 of the relation, and finally providing a word or

[16] ibid, p. 25
[17] ibid, p. 10
[18] ibid, p. 11
[19] ibid, p. 11

phrase to express the relation. In the case of AltLex, instead of providing a word/phrase, the text span in Arg2 expressing the relation is selected and marked. EntRel and NoRel annotations only involve selection of the first character of Arg2 as the placeholder for the relation and then selection of the adjacent sentences as Arg1 and Arg2.

An implicit relation can be annotated between a parenthetical sentence and the sentence outside the parentheses that precedes it.

Sense

Joshi et al. (2007) provides sense tags for both explicit and implicit connectives and AltLex relations. No senses are provided for EntRel and NoRel. There might have more than one sense for each. The purpose of sense annotation is to tag the correct sense. Sense tags provide a semantic description of the relation between the arguments of connectives. The tag set of senses is organised hierarchically[20] as shown in figure 3.

Comparison between Sanskrit Tagging Scheme and Penn Discourse Treebank

Most of the western computational discourse theories concentrate on various aspects of discourse. Penn Discourse Treebank tagging scheme is found very close to Sanskrit tagging scheme. Both of the tagging schemes have common topic of discussion as they both concentrate on inter-sentential connectives, relations, their argument and senses.

We have done a close comparison between them. The available Sanskrit tagging scheme does not have any guideline for marking implicit relations. The comparison made is only between the explicit relations in both and their arguments and senses. Ta-

[20] ibid, p. 26-37

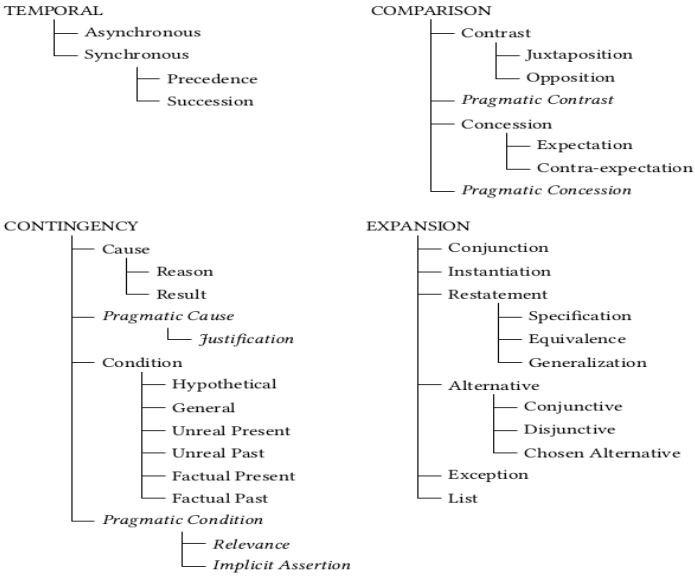


Figure 18.3: Hierarchy of sense tags

ble 1 shows that explicit relations found through some lexical cues are present in both tagging schemes.

Explicit Discourse Connectives in PDTB	Inter-sentential Discourse Connectives for Sanskrit
Subordinating conjunctions (*because, when, since, although*)	Hetuhetumadbhāvaḥ (*yataḥ, tataḥ, yasmāt, tasmāt, ataḥ*)
Coordinating conjunctions (*and, or, nor, but*)	Asāphalyam, anantarakālīnatvam, samuccayaḥ (*kintu, atha, api ca , kiñca*)

Adverbials, modified connectives (*however, otherwise, then, as a result, (partly) because, (even) if*)	Some pronominal adverbs (*yatra, tatra, yataḥ, tataḥ, yathā, tathā, yadā, tadā, yadyapi, tathāpi*)
Parallel connectives (*on the one hand, on the other hand, either, or*)	Samānakālaḥ, samānādhikaraṇatvam, pratibandhaḥ, kāraṇasatve'pi kāryābhāvaḥ (*yasmin kāle-tasmin kāle, yadā-tadā, yatra-tatra, yasmin-tasmin, yadi-tarhi, yadyapi, tathāpi*)
Conjoined connectives (*if and when*)	*yadi cet*

Table 18.1: Comparison between PDTB and Sanskrit Tag sets

In the case of both subordinating conjunction and *hetuhetumadbhāvaḥ*, the lexical cues are essential parts of complex sentences which include at least two clauses, with one of the clauses being independent and the other being dependent. Lexical cues of these tags are used to emphasis the idea in the main clause. Hence, both of them fall under same grammatical category.

While comparing coordinating conjunctions with the corresponding Sanskrit tags, *asāphalyam, anantarakālīnatvam and samuccayaḥ* came under the same grammatical category. In both the lexical cues joins two or more sentences. Lexical cues of these tags are used to emphasis two main clauses.

According to the comparison in Sanskrit tagging scheme some of the pronominal adverbs falls under the adverbials and modified connectives in PDTB. Speijer (1886) describes that pronominal adverbs are formed by the addition of adverbial suffixes to pronominal roots.

1. The suffix *tas* makes adverbs having an ablative sense like,

tatas, yatas, atas and their forms like, *yataḥ, tataḥ, yasmāt, tasmāt, ataḥ.*

2. The suffix *tra* makes adverbs having a locative sense like, *yatra, tatra.*
3. The suffix *thā* makes adverbs of manner like, *yathā, tathā.*
4. The suffix *dā* makes adverbs having a time sense like, *yadā, tadā.*

Parallel connectives and *samānakālīnatvam, samānādhikaraṇatvam, pratibandhaḥ, kāraṇasatve'pi kāryābhāvaḥ*, shares the same grammatical rules. Parallel connective, viz. pairs of connectives where one part presupposes the presence of the other, and where both together take the same two arguments. The tags under pronominal adverbs are also parallel connectives.

Conjoined connectives may be compared to the constructions like, *yadi cet.* With 'yadi', 'cet' being added redundantly. For example, *yadi cet syāt* (if it should be).[21]

The argument structure in both tagging schemes does not impose any specific word order. While the arguments can appear in any order, the argument with which the connector is associated determines whether it is the first or the second argument.

PDTB discusses about the senses of each lexical cue and attributions of each lexical cue separately. While in Sanskrit tagging scheme the senses are found in the tags itself, so there is no need to discuss about senses separately.

The lexical cues and their senses are not limited to the above discussion. Each lexical cue contains more than one sense. Some of our traditional śāstras discuss the senses of almost all lexical cues. Srivatsankacarya (2004) and Speijer (1886) list out some of the inter-sentential connectives and their senses. For example,

- In the tag *hetuhetumadbhāvaḥ*, *hetu* means *cause* and *hetumad* means *effect*, which means the cause effect relation-

[21] http://sanskrit.inria.fr/MW/210.html

ship. The tag name *subordinating conjunction* of PDTB itself does not make any sense. It only refers to the lexical cues that introduces the subordinate clause. But in Sanskrit each lexical cue have the same sense as their respective tag. For example, *Yataḥ ayam samaye na āgataḥ tataḥ parīkṣāyām na anumataḥ.* Yataḥ (because) always contains a sense of cause and ataḥ or tataḥ (hence) always contains a sense of the effect or result of the cause. In the example, the sentence with *yataḥ* presents a cause viz. **he did not arrive in time** and the sentence with *tataḥ* presents the effect of the first sentence, viz. **he was not permitted to write the exam**.

- The tag *asāphalyam*, which means non fulfilment of expected activity. The tag name *coordinating conjunction* itself does not make any sense. The lexical cue *kintu*, make sense of non fulfilment of expected activity and failure. For example, Gajendraḥ tīvram prayatnam_akarot kintu nakragrahāt na muktaḥ. In this example, the connective *kintu* represents the failure viz. **could not escape from the jaw of the crocodile**.
- The tag *anantarakālīnatvam*, which means following action. The tag name coordinating conjunction in PDTB does not make any sense except joining two or more words, phrases and sentences. The connective *atha* does not only connects two sentences but the connective itself represents the sense of a following action. For example, - Prathamam ahaṃ śṛṇomi atha likhāmi. Here **listening is followed by writing** expressed through the connective *atha*.
- The lexical cues for the tag *sammucayaḥ*, which means conjunction are *ca* and *api ca*. *Ca* can connect words and verbs. It joins a subordinate fact with a principle one. *Api ca* used to express emphasis, in the sense of even, also. For example - Bhikṣām aṭa apica gāṃ ānaya. In this example *api ca* used

to emphasize both of the activities viz. **seek for alms** and also **bring cows**.

- The tag *samānakālaḥ* expresses the sense of simultaneity of time. In PDTB, the tag parallel connective only express the meaning that connectives are coming in pairs and both together takes the same two arguments. The lexical cues in Sanskrit Tagging Scheme are *yadā–tadā, yasmin kāle–tasmin kāle*. These lexical cues contains the sense of simultaneity of time. For example - Yadā meghaḥ varṣati tadā mayūraḥ nṛtyati. This example shows how *yadā* and *tadā* expresses simultaneity in time between two different activities viz. **when** it rains **at the same time** peacock dances.
- The tag *samānādhikaraṇatvam* expresses the sense of co-location. Lexical cue is *yatra–tatra*. For example - Yatra nāryastu pūjyante tatra devatāḥ ramante. This example show how *yatra* and *tatra* expresses two activities occurs in the same location viz. **the place where** women are worshipped **in the same place** god resides.
- Lexical cues for tag *pratibandhaḥ*, which means conditional, is *yadi–tarhi* (if–then). This express the sense of condition. This tag fall in the same grammatical category with parallel connectives of PDTB. But as discussed the tag parallel connective does not have the sense of condition, simultaneity of time and co-location etc. But Sanskrit tags have the same sense as their lexical cues. For example - Yadi bhavān icchati tarhi aham bhavataḥ gṛham āgamiṣyāmi. In this sentence *yadi–tarhi* together express the sense of condition.
- The tag *kāraṇasatve'api kāryābhāvaḥ / kāraṇābhāve'api kāryotpattiḥ* says about non-productive effort or product without cause. Lexical cue is *yadyapi–tathāpi* (even though–still). It expresses the sense of non-productive effort or product without cause. This tag is similar to par-

allel connectives in PDTB. For example - Yadyapi ayaṃ bahu prayāsaṃ kṛtavān tathāpi parīkṣāyām tu anuttīrṇaḥ. In the example *yadyapi–tathāpi* together expresses non-productive effort viz. **he tried very hard, he failed in the examination**.

Connective	Meaning/Sense
atha	- to annex a new sentence - shows change in the subject/action - indicates temporal meaning - shows two contrasting ideas - sometimes used to start some auspicious work - to show the immediate sequence - to introduce new topic
athavā	- indeed - used to correct one's self
api	- and, too, moreover, also, even, though - shows conjunction
ca	- and - shows the copulation - shows an another side of an argument - to complete a verse
api ca/tathā ca	- add something to what has been said
vā	- or - shows the disjunction like *yadivā and athavā* - shows alternate - shows similarity - just added to complete a verse
na/na ca/na vā/ na tu/na hi/nāpi	- shows the negation - connects negative sentences

hi	- for, because, since - annex sentences containing motive, reason, cause
kim ca/aparam ca/ anyacca	- further, moreover - shows the importance of what is added - shows the conjunction of more than one event - shows the intermediate
tu/param tu/kintu	- but - shows the doubt upon what is said previously - shows the contradiction - shows antithesis - shows similarity - introduces a slightly different idea or modification or correction of what has been said before - shows the exact opposite of a situation
yathā	- to express the comparison - sometimes acts as causal particle - serves to paraphrase the object of knowing, saying, declaring etc. - points to the result - also consequence and purpose of aim - shows capability - shows repetition - shows example - in which manner or way
tathā	- so, likewise, and, too

	- added with yathā it shows the comparison - shows promise or agreement - shows example
tadyathā	- is for instance
yat	- for - shows the cause or motivation or intention or circumstance - to paraphrase a fact - to paraphrase the object of knowing, saying, declaring - to introduce a new sentence
yataḥ	- for - shows the cause or motivation or intention - denote material cause - to paraphrase the object of knowing, saying, declaring - shows an another view
yasmāt	- for - shows the cause or motivation or intention - denote material cause
yena	- to express purpose or intention
yatra	- shows the colocation when added with tatra
tat/tasmāt /tataḥ/ataḥ/tarhi	- therefore, hence, for this reason - shows the conclusion - tataḥ is also to subjoin what is subsequent in time - tat also added to make inference
tu/param tu/kintu/	- on the other hand, again, but, yet

param/punaḥ	- shows antithesis
yadyapi	- though, although
tathāpi	- nevertheless, however, yet
yadā/tadā	- when/then - are temporal conjunctions. Hence they shows the simultaneity of time
yāvat	- as long as, while, until - says to time - also a conjunction of manners like as far as, in so much as
tāvat	- added with yāvat and shows the simultaneity of the two actions - shows the combination of equal qualities - shows manner or humanity - shows the sequence - shows the scope or period
yadi	- if - shows some supposition - shows some choices or options - puts some condition
tarhi	then - at that time or moment or in that case - correlative of yadi
yadi cet	- being added redundantly

Table 18.2: Lexical cues and their senses

At the time of comparison, neither Sanskrit parser that handles the connectives nor sense tagged data was available. Therefore no further comparison could be done.

In this paper we have reviewed and compared PDTB and Sanskrit Tagging Scheme. Both schemes were presented in detail with examples, their argument structure and sense. We have

shown the representation method at inter-sentential level for Sanskrit in order to show the necessity of separate tagging scheme to annotate Sanskrit texts at inter-sentential level.

Abbreviations

1. raghu Raghuvaṁśam
2. saṁ rā Saṁkṣepa rāmāyaṇam

Bibliography

1. Raja, K. Kunjunni, Indian Theories of Meaning. The Adyar Library and Research Center, Madras (1963).
2. Sharma, Punita, Concept of Sentence Analysis in Nyāya Philosophy. Nag Publishers, New Delhi (1998).
3. Ramakrishnamacharyulu, K. V., Annotating Sanskrit Texts Based on Sābdabodha Systems. In Kulkarni, Amba and Huet, Gérard (eds.), Proceedings of Third International Sanskrit Computational Linguistics Symposium, pp. 26–39, Springer-Verlag, LNAI 5406 (2009).
4. Kulkarni, Amba and Das, Monali, Discourse Analysis of Sanskrit Texts. In Hajicova, Eva; Polakova, Lucie and Mirovsky, Jiri (eds.), Proceedings of the Workshop on Advances in Discourse Analysis and Its Computational Aspects (ADACA), COLING, pp. 1–16, COLING 2012 Organizing Commitee, Mumbai (2012).
5. Speijer, J. S., Sanskrit Syntax. Motilal Banarsidass, Delhi (1886).
6. Joshi, Aravind; Webber, Bonnie; Prasad, Rashmi; Miltsakaki, Eleni; Dinesh, Nikhil and Lee, Alan, The Penn Discourse TreeBank 1.0 Annotation Manual (2006).
7. Joshi, Aravind; Webber, Bonnie; Prasad, Rashmi; Miltsakaki, Eleni; Dinesh, Nikhil; Lee, Alan and Robaldo, Livio, The Penn Discourse TreeBank 2.0 Annotation Manual (2007).
8. Srivatsankacarya, V., Avyaya Kośa. Samskrit Education Society, Chennai (2004).

भाषा संरचना एवं उसके तत्त्व – व्याकरण दर्शन के आलोक में

गोविन्द शुक्ल एवं प्रो. ललित कुमार त्रिपाठी

प्रस्तावना

व्याकरण दर्शन के अनुसार विचार करने एवं विचारों के आदान प्रदान करने का प्रमुख माध्यम वाक् है। इसके चार भेद हैं - परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी। वाक् की मूल अवस्था परा है, जिसमें शब्द और अर्थ का प्रभेद नहीं है। वाक् तत्त्व की द्वितीय अवस्था पश्यन्ती है, जिसमें शब्द एवं अर्थ का अत्यन्त सूक्ष्म प्रभेद प्रारम्भ होता है। वाक् तत्त्व की तृतीय अवस्था मध्यमा है जिसमें वागर्थमय विचार स्फुटतया ग्राह्य होता है। ये तीनों भेद वाक् तत्त्व के सूक्ष्म भेद हैं। वाक् तत्त्व का चतुर्थ भेद वैखरी वाणी है, जो हमारे उच्चारणावयवों के माध्यम से वर्णों के रूप में उच्चरित होती है।

उच्चरित वर्ण के समुदाय से निर्मित शब्दों, पदों, वाक्यों, वाक्यसमुदायों के प्रयोग की एक विशेष व्यवस्था को लोकव्यवहार में भाषा कहते हैं, जो मानव समुदाय विशेष में बोली एवं समझी जाती है।

वैयाकरण दार्शनिकों के अनुसार भाषा के दो पक्ष हैं। एक आन्तरिक पक्ष है जिसके अन्तर्गत वाक् तत्त्व के पूर्वोक्त तीन भेद समाहित हैं तथा दूसरा उसका बाह्य पक्ष है जो उच्चरित होता है। इनमें परा तथा पश्यन्ती हमारे सामान्य अनुभव से गम्य नहीं हैं किन्तु मध्यमा एवं वैखरी हमारी अनुभूति के स्पष्ट विषय बनते हैं। हमारे विचार मध्यमा वाक् में निबद्ध होते हैं जबकि उनकी अभिव्यक्ति वैखरी के द्वारा होती है। वक्ता द्वारा वैखरी के प्रयोग से श्रोता की मध्यमा वाक् अभिव्यक्त होती है ऐसा वैयाकरण दार्शनिकों का अभिमत है।

वर्णात्मक वैखरी के द्वारा अभिव्यक्त होने वाले सार्थक शब्द को भर्तृहरि ने स्फोट कहा है[1]। यद्यपि महाभाष्य में भी स्फोट शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है[2], किन्तु इसके तात्पर्य को लेकर ऐकमत्य नहीं है कि यह उसी अर्थ में प्रयुक्त था जिस अर्थ में परवर्ती भर्तृहरि प्रभृति वैयाकरणों ने किया है या प्राकृत ध्वनि के अर्थ में जिसे भाषा विज्ञान की शब्दावली में स्वनिम कहा जाता है। किन्तु इतना तो

---

1 द्वावुपादनशब्देषु शब्दौ शब्दविदो विदुः।
एको निमित्तं शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते। (वा.प, ब्रह्म., कारिका 44)

2 एवं तर्हि स्फोटः शब्दः। ध्वनिः शब्दगुणः। कथम्? भेर्याघातवत्। तद्यथा - भेर्याघातः भेरीमाहत्य कश्चिद्विंशति पदानि गच्छति। कश्चित्रिंशत्। कश्चिच्चत्वारिंशत्। स्फोटस्तावानेव भवति। ध्वनिकृता वृद्धिः।
ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते।
अल्पो महांश्च केषांचिदुभयं तत् स्वभावतः। (म.भा. 1.1.70)

निर्विवाद है कि महर्षि पतंजलि ने भाषा के आन्तरिक एवं बाह्य पक्ष दोनों को स्पष्ट रूप से माना है, भले ही वे सार्थक बुद्धिस्थ शब्द के लिए स्फोट शब्द का प्रयोग न कर रहे हों। व्याकरण परम्परा के अनुसार ध्वनियों से अभिव्यक्त होने वाले शब्दों की सत्ता बुद्धिस्थ है। इसके अनेक भेद प्रभेद परवर्ती आचार्यों ने किए हैं, जिसकी लघुतम इकाई को परवर्ती वैयाकरणों ने वर्णस्फोट कहा है, जो प्रकृति या प्रत्यय स्फोट के रूप में ग्राह्य है, क्योंकि वही सार्थक हो सकता है। इस विषय पर हम अर्थविचार के सन्दर्भ में विस्तृत चर्चा करेंगे।

भाषा संरचना पर विचार करते समय हमारे सम्मुख सर्वप्रथम भाषा का ध्वन्यात्मक स्वरूप जिसे हम वर्णमाला कहते हैं, उपस्थित होता है। तत्पश्चात् भाषा की शब्दसंरचना, पदसंरचना, वाक्यसरंचना, वाक्यसमुदाय संरचना तथा अर्थसंरचना सम्बन्धी विचार उपस्थित होते हैं। भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन काल से भाषा के विविध पक्षों पर गम्भीर विमर्श होता रहा है।

अत्यन्त प्राचीन काल में वेदों के शुद्ध उच्चारण के लिए शिक्षा[3] एवं प्रातिशाख्यों की रचना हुई। शिक्षा एवं प्रातिशाख्यों में ध्वनिविज्ञान सम्बन्धी विचार उपलब्ध हैं। निरुक्त वेदाङ्ग में शब्दों की संरचना के अन्दर मूल अर्थ के अन्वेषण का कार्य प्रमुख है जिसे निर्वचन कहते हैं[4]। वस्तुतः शिक्षा एवं निरुक्त दोनों ही वेदाङ्ग व्याकरण के उपकारक हैं। हम कह सकते हैं कि शिक्षा एवं प्रातिशाख्य व्याकरण के ही अङ्ग हैं। वेदाङ्ग व्याकरण के द्वारा पदसंरचना एवं वाक्यसंरचना सम्बन्धी एक व्यवस्था का निर्माण किया जाता है, जिसमें नियमों के माध्यम से प्रकृतिप्रत्यय की कल्पना का सहारा लेकर अनन्त शब्दों के विश्लेषण एवं उनके व्युत्पादन की सुनिश्चित व्यवस्था दी जाती है[5]। साथ ही वाक्य घटक पदों के परस्पर संयोजन की व्यवस्था द्वारा वाक्यसंरचना के नियम भी दिए जाते हैं।

शिक्षा एवं प्रातिशाख्यों में वर्णित संस्कृत वर्णमाला

वेदाङ्ग ग्रन्थों में प्रथम अङ्ग शिक्षा[6] तथा प्रातिशाख्यों में संस्कृत वर्णमाला का विस्तृत विवेचन उपलब्ध है। प्रातिशाख्यों को यद्यपि स्वतन्त्र रूप से किसी वेदाङ्ग में

---

3 वर्णस्वराद्युच्चारणप्रकारो यत्रोपदिश्यते सा शिक्षा। (ऋक्., सायण., प्रथमोऽष्टकः, पृ०सं० 25)

4 अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरूक्तम्। एकैकस्य पदस्य संभाविता अवयवार्थास्तत्र निःशेषेणोच्यन्ते इति। (ऋक्. सायण., प्रथमोऽष्टकः, पृ०सं० 28,29)

5 व्याकरणमपि प्रकृतिप्रत्ययाद्युपदेशेन पदस्वरूपतदर्थनिश्चयायोपयुज्यते। (ऋक्. सायण., प्रथमोऽष्टकः, पृ०सं० 26)

6 छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्
तस्मात्सांगमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥ (पा. शि., 41-42)

परिगणित नहीं किया गया है, तथापि इन्हें भी शिक्षा के अन्तर्गत समाहित किया जा सकता है, क्योंकि जो विषय शिक्षाग्रन्थों के वर्ण्य हैं वही प्रातिशाख्यों के भी हैं। शिक्षा ग्रन्थ जहां ध्वनिविषयक सैद्धान्तिक ग्रन्थ हैं, वहीं प्रातिशाख्य शाखाविशेष के प्रायोगिक ग्रन्थ हैं। शिक्षाग्रन्थों में ऋग्वेद के स्वराङ्कुशा शिक्षा, षोडशश्लोकी शिक्षा, शैशिरीय शिक्षा और आपिशली शिक्षा का उल्लेख प्राप्त होता है। यद्यपि इनमें से ऋग्वेद की कोई शिक्षा उपलब्ध नहीं है। यद्यपि विद्वानों ने प्रचलित सभी शिक्षाओं में अतिप्रसिद्ध पाणिनीयशिक्षा को ऋग्वेद से सम्बद्ध स्वीकार किया है तथापि पाणिनीयशिक्षा के किसी एक वेद से सम्बद्धता में कोई दृढतर प्रमाण नहीं उपलब्ध होता। यजुर्वेद शिक्षाग्रन्थों की उपलब्धता की दृष्टि से अधिकसमृद्ध है जिसमें शुक्लयजुर्वेद से सम्बद्ध याज्ञवल्क्य शिक्षा, वासिष्ठी शिक्षा कात्यायिनी शिक्षा, माध्यन्दिनी शिक्षा, वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा, केशवी शिक्षा, हस्तस्वरप्रक्रिया शिक्षा, अवसाननिर्णय शिक्षा, स्वरभक्तिलक्षणपरिशिष्ट शिक्षा, क्रमसन्धान शिक्षा मनस्वर शिक्षा, युजुर्विधान शिक्षा, स्वराष्टक शिक्षा और क्रमकारिका शिक्षा हैं। इनमें से हस्तस्वरप्रक्रिया एवं स्वरभक्तिलक्षण शिक्षा को छोडकर शेष प्रकाशित हैं। सामवेद में गौतमी शिक्षा, लोमशी शिक्षा और नारदीय शिक्षा ग्रन्थ हैं एवम् अथर्ववेद में माण्डूकी शिक्षा एकमात्र ग्रन्थ है। प्रातिशाख्यों में ऋग्वेद में शौनकप्रणीत ऋक्-प्रातिशाख्य है जिसमें 18 पटलो में स्वर, व्यंजन, स्वरभक्ति, रक्त, नाभि, प्रगृह्य आदि पारिभाषिक शब्दों के लक्षण, प्रश्लिष्ट क्षैप्र, उदग्राह, भुग्र आदि नाना प्रकार की संन्धियों के लक्षण तथा उदाहरण, स्वरपरिचय, विसर्ग की रेफ में परिणति, नकार के विविध विकार, नतिसन्धि (सकार का षकार में नकार का णकार में परिवर्तन) क्रमसन्धि, व्यञ्जनसन्धि, प्लुतिसन्धि आदिका, उदात्तादि स्वरों के परिवर्तन के नियमों का, पदविभाग, वर्णों के उच्चारण में दोष इत्यादि विषयों पर विचार किया गया है। शुक्लयजुर्वेद में कात्यायनप्रणीत वाजसनेयप्रातिशाख्य है जिसमें आठ अध्याय तथा 734 सूत्र हैं, इसके आठों अध्यायों में क्रमशः वर्णोत्पत्ति, अध्ययनविधि, सञ्ज्ञापरिभाषा, वर्णों का उच्चारणस्थान, स्वर के नियम, सन्धि के नियम, सन्धि, पदपाठ के नियम, अवग्रह के नियम, आख्यात, उपसर्ग के नियम, परिग्रह के नियम, वर्ण समाम्नाय, का विवेचन है। कृष्णयजुर्वेद में तैत्तिरीयप्रातिशाख्य एवं मैत्रायणीयप्रातिशाख्य हैं, तैत्तिरीयप्रातिशाख्य में भी वर्णसमाम्नाय, उपसर्ग, वर्णों की आख्या, परिभाषा, उदात्तादिस्वरव्यवस्था, इंग्यरङ्गलक्षण, अवग्रहलक्षण, अपृक्तलक्षण, लोपलक्षण, शब्दोत्पत्तिप्रकार, शब्दस्थान, वर्णप्रकृतिनिरूपण, स्वरों का उच्चारणप्रकार, अनुनासिकस्वरूप, स्थानकरणप्रदर्शन, स्वरव्यञ्जनभेद, स्पर्शान्तः स्थोष्मोच्चारणप्रकार, विसर्जनीयानुनासिक का स्थानकथन, संहिताधिकार, प्रकृतिलक्षण, आगमविधि, आदेशविधि, लोपविधान, मकार को अनुनासिकत्व-

विधान,षत्वसत्वविधान, नकार को णकारविधान, टत्वविधि, थकार को ठत्वविधि इत्यादिविषयों पर विचार किया गया हैं, सामवेद के पुष्पसूत्र या कुल्लसूत्र प्रातिशाख्य है जिसका प्रणयन वररूचि द्वारा किया गया है इसमें स्तोमादि समगान सम्बन्धिविषय वर्णित है। अथर्ववेद में चतुराध्यायिका नामक प्रातिशाख्य है यह शौनकीया चतुरध्यायिका इस नाम सें प्रकाशित हुआ है एवं दूसरा अथर्ववेद प्रातिशाख्य नामक प्रातिशाख्य 1940 में डा सूर्यकान्त शास्त्री द्वारा प्रकाशित हुआ है इन दोनों प्रातिशाख्यों से अथर्ववेद के मूलपाठ को समझने में सहायता मिलती है।

विद्वानों का मन्तव्य है कि उपलब्ध शिक्षा ग्रन्थों में पाणिनीय शिक्षा सबसे अधिक प्राचीन एवं प्रामाणिक है। हम इन ग्रन्थों के पौर्वापर्य के विवाद में पड़े बिना ही पाणिनीय शिक्षा को मुख्य आधार बनाकर ध्वन्यात्मक संरचना के विषय में संक्षिप्त विवेचन करेंगे। प्रसङ्गतः अन्य शिक्षा एवं प्रातिशाख्यों के मतभेद स्थलों का भी संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करते हुए संस्कृत की ध्वन्यात्मक संरचना के विषय में एक रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे।

पाणिनीय शिक्षा में एक मत में प्राकृत एवं संस्कृत में ६३ वर्ण माने गए हैं तथा दूसरे मत में ६४ वर्ण माने गए हैं[7] जो इस प्रकार हैं -

(क) स्वर - २१ (ख) स्पर्श- २५ (ग) यादि - ०८ (घ) यम - ०४ (ङ) अनुस्वार- ०१ (च) विसर्ग - ०१ (छ) जिह्वामूलीय - ०१ (ज) दुःस्पृष्ट - ०१ । इनके योग से ६३ वर्ण होते हैं। इस मत में स्वरों के अन्तर्गत लृकार का केवल ह्रस्व भेद ही परिगणित है। यदि मतान्तर में लृकार के दो भेद किए जाएं जिनमें दूसरा भेद प्लुत भी लिया जाए तो वर्णों के ६४ भेद सम्पन्न होते हैं[8]।

उक्त ६३ भेदों में स्वरों के अन्तर्गत अवर्ण, इवर्ण, उवर्ण तथा ऋवर्ण के ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत के भेद से प्रत्येक के तीन तीन भेद, ह्रस्व लृ तथा ए, ऐ, ओ, औ के दीर्घ एवं प्लुत के भेद से प्रत्येक के दो दो भेद समाहित हैं। स्पृष्ट के अन्तर्गत पांचो वर्गो के २५ व्यंजन समाविष्ट हैं। यादि के अन्तर्गत ०८ व्यंजन - य, र, ल, व, श, ष, स, ह आते हैं। यम के अन्तर्गत ०४ यम परिगणित हैं (पलिक्क्नी, चख्ख्नतुः, अग्निः, घ्घ्नन्ती उदाहरणों में अनुनासिक वर्ण के पूर्व वाला वर्ण जो अपने से पूर्व के क, ख, ग, एवं घ की आकृति के समान लिखे जाते हैं, किन्तु वैदिक

---

7 त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः।
प्राकृते संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ताः स्वयम्भुवा।। (पा. शि., 03)

8 स्वरा विंशतिरेकश्च स्पर्शानां पञ्चविंशतिः।
यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमाः स्मृताः।
अनुस्वारो विसर्गश्च xक xपौ चापि पराश्रितौ
दुःस्पृष्टश्चेति विज्ञेयो लृकारः प्लुत एव च।। (पा. शि.म 4-5)

परम्परा में किए जाने वाले उच्चारण के द्वारा इनका स्वतन्त्र ध्वनि के रूप में अस्तित्व सिद्ध है)। जिह्वामूलीय एक (क एवं ख के पूर्व विसर्ग के उच्चारण का वैकल्पिक उच्चारणविशेष जिसे चिह्न के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है) उपध्मानीय एक (प एवं फ के पूर्व विसर्ग के उच्चारण का वैकल्पिक उच्चारणविशेष जिसे चिह्न के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है) तथा दुःस्पष्ट ०१ (दुःस्पष्ट से तात्पर्य से है)। पंचिकाभाष्य में औदवज्रि ने दुःस्पृष्ट के भेद को परिगणित न करते हुए लृ के प्लुत भेद को स्वीकार करते हुए वर्णों के ६४ भेद गिनाए गए हैं[9]।

यद्यपि याज्ञवल्क्य शिक्षा में वर्णों की कुल संख्या को स्पष्टतया नहीं सूचित किया गया है, तथापि इस ग्रन्थ के परिशीलन के द्वारा विद्वानों ने इसके अनुसार न्यूनाधिक ५४ वर्णों की संख्या दी है। इनमें ११ स्वर, ३३ व्यंजन (स्पर्श २५, अन्तःस्थ ४, उष्म ४), विसर्जनीय १, जिह्वामूलीय १, उपध्मानीय १, अनुस्वार २, यम ४ हैं[10]। हकार के द्विविध भेद के परिगणन से यह संख्या ५४ है। स्वरों में ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत के भेद से अवर्ण, इवर्ण, उवर्ण के तीन तीन भेद तथा ऋ एवं लृ सम्मिलित हैं। इनमें सन्ध्यक्षर समाहित नहीं हैं। आचार्य रामप्रसादत्रिपाठी ने वर्णो की 68 बतलाई है[11]।

ऋक् प्रातिशाख्य के अनुसार वर्णों की संख्या ५१ एवं ४९ है। ऋक् प्रातिशाख्य में प्लुत स्वर, यम, अनुनासिक, तथा दुःस्पृष्ट स्वरों को वर्णमाला के अन्तर्गत नहीं समाहित किया गया है। इसमें दो प्रकार से वर्णमालाओं का प्रभेद मिलता है। इसमें से प्रथम प्रभेद में ११ श्रेणियों में वर्णों को विभक्त किया गया है किन्तु उन श्रोणियों के नाम नहीं दिये गये इस श्रेणि में ५१ वर्ण हैं। प्रथम श्रेणि में अ ऋ इ उ

---

9 ह्रस्वादिभेदैश्चत्वारः प्रथमा द्वादश स्मृताः।
लृकारो ह्रस्व एवैचोऽष्टौ स्वरा एकविंशतिः।।
पञ्चविंशतिरष्टाब्धिः स्पर्शाः स्युर्यादयो यमाः।
अनुस्वारो विसर्गश्च xक xपौ प्लुतलृकारकः।
त्रिषष्टिरेवं वर्णाः स्युर्ह्रस्वदीर्घादिभेदतः
अनुस्वारद्वायाद् वर्णाः चतुःषष्टिरितीरिताः।। (पा. शि. पञ्जिका.)

10 स्वराः। स्पर्शान्तः स्थोष्माणः। कण्ठ्यजिह्वामूलीयतालव्यमूर्धन्यदन्त्योष्ठ्यमाऽनुस्वारविसर्जनीयोपध्मानीयनासिक्यानुनासिक्यरङ्गाः। याज्ञ. शि., वर्णप्रकरम् 1,2

11 त्रयोविंशतिः स्वराः। द्वाविंशति स्वरास्तु पाणिनिशिक्षायाम्। अत्र विशिष्यवाजसनेयशाखायां दीर्घलृकारस्य निषेधात् अन्यत्र तस्य सूचनात्, तेन सह त्रयोविंशतिस्तु संख्या स्वराणाम्। अपि च वर्णस्थाननिरूपणावसरे स्फुटमेवात्र दीर्घलृकारो निर्दिष्टः. त्रयस्त्रिंशत् स्पर्शान्तःस्थोष्माणः, विसर्गजिह्वामूलीयोपध्मानीयनासिक्यानुनासिक्यरङ्गाः इति षट्। चत्वारो यमाः, ह्रस्वः, दीर्घश्चेति द्वावनुस्वारौ एते संकलिताः अष्टषष्टिः भवन्ति। शिक्षा. सं., प्रस्तावना, पृ०सं०- ख

ए ओ ऐ औ[12] द्वितीय श्रेणि में लृकार[13] तृतीय श्रेणि में आ ऋ ई ऊ ॡ[14]। चतुर्थ श्रेणि में क ख ग घ ङ, पञ्चम में च छ ज झ ञ, षष्ठ में ट ठ ड ढ ण सप्तम में त थ द ध न, अष्ट में प फ ब भ म नवम में य र ल व दशम में ह श ष स एकदश में अः क प अं। द्वितीय प्रभेद में ४८ वर्ण हैं तीन तीन प्रभेद हैं स्वर जिसमें अ आ ऋ ॠ इ ई उ ऊ ये समानाक्षर स्वर[15] तथा ए ओ ऐ औ ये सन्ध्यक्षर स्वर[16], द्वितीय प्रभेद में उभयसाधारण (स्वरव्यञ्जनसाधारण) अनुस्वार (अं)[17], तृतीय प्रभेद में सभी वर्णों के व्यञ्जन[18] इसमें स्पर्श[19] व्यञ्जन जिसमें कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग[20] तथा अस्पर्श में य र ल व ये अन्तःस्थ वर्ण[21], ह श ष स अः क ख प अं यो ऊष्मव्यञ्जन[22]। द्वितीय प्रभेद में लृकार के ह्रस्व और दीर्घ भेद परिगणित नहीं हैं।

कृष्णयजुर्वेद के तैत्तिरीयप्रातिशाख्य के अनुसार वर्णों की संख्या ५१ है । जिनमें अ आ आ३, इ ई ई३, उ ऊ ऊ३, ऋ ॠ, ऌ ए ऐ ओ औ ये सोलह स्वर हैं[23] जिसमें आदि के नव अ आ आ३, इ ई ई३, उ ऊ ऊ३ समानाक्षर[24] है। शेष ३५ व्यञ्जन हैं[25] जिनमें आरम्भ में पाँचों वर्गों के पाँच पाँच वर्णों को मिला कर २५ स्पर्शवर्ण[26], चार अन्तः स्थवर्ण[27], xक xप श ष स ह ये ६ ऊष्मवर्ण हुए [28]। इस प्रकार ५१ वर्ण की गणना की गई किन्तु माहिषेय के अनुसार कं खं गं घं ये चार यम भी गिनाये गये हैं जिनसे ५५ वर्ण माहिषेय के अनुसार हुए[29]। शुक्लयजुर्वेद

12 अकारकारावि उ ए ऐ औ।

13 पदाद्यन्तयोर्न लृकारः स्वरेषु।

14 आकारादीन् दीर्घरूपान् द्वितीयान् ह्रस्वेषु। पञ्चस्वपि तानि सन्ति।

15 अष्टौ समानाक्षरण्यादितः। (ऋक्. प्रा., सञ्ज्ञापरिभाषापटल 1.1)

16 ततश्चत्वारि सन्ध्यक्षराणि। (ऋक्. प्रा., सञ्ज्ञापरिभाषापटल 1.3)

17 अनुस्वारो व्यञ्जनं वा स्वरो वा। (ऋक्. प्रा., सञ्ज्ञापरिभाषापटल 1.5)

18 सर्वः शेषो व्यञ्जनान्येव। (ऋक्. प्रा., सञ्ज्ञापरिभाषापटल 1.6)

19 तेषामाद्याः स्पर्शाः। (ऋक्. प्रा., सञ्ज्ञापरिभाषापटल 1.7)

20 पञ्च ते पञ्च वर्गाः। (ऋक्. प्रा., सञ्ज्ञापरिभाषापटल 1.8)

21 चतस्रोऽन्तस्थास्ततः। (ऋक्. प्रा., सञ्ज्ञापरिभाषापटल 1.9)

22 उत्तरेऽष्टा ऊष्माणः। (ऋक्. प्रा., सञ्ज्ञापरिभाषापटल 1.10)

23 षोडशादितः स्वराः। (तै. प्रा., प्रथम प्रश्न, प्रथम अध्याय 5)

24 अथ नवादितः समानाक्षराणि। (तै. प्रा., प्रथम प्रश्न, प्रथम अध्याय 2)

25 शेषा व्यञ्जनानि। (तै. प्रा., प्रथम प्रश्न, प्रथम अध्याय 6)

26 आद्या पञ्चविंशतिः स्पर्शाः। (तै. प्रा., प्रथम प्रश्न, प्रथम अध्याय 7)

27 पराश्चतस्रोन्तस्थाः। (तै. प्रा., प्रथम प्रश्न, प्रथम अध्याय 8)

28 परे षडूष्माणः। (तै. प्रा., प्रथम प्रश्न, प्रथम अध्याय 9)।। अन्तस्थेभ्यः परे ये वर्णाः षट् ते ऊष्मसंज्ञा भषन्ति। यथा xक श ष स पह इति माहिषेयभाष्य, तैत्तिरीयप्रातिशाख्य, प्रथम प्रश्न, प्रथम अध्याय 9

29 आम्नाय इतयनुपूर्वेण अकारादयो यमपर्यवसानाः पूर्वाचार्यैरूपदिष्टा वर्णाः। यथा आ आ३ इ ई ई३ उ ऊ

के वाजसनेयिप्रातिशाख्य के अनुसार वर्णों की संख्या ६७ है। इसमें अ आ आ३ इ ई ई३ उ ऊ ऊ३ ऋ ॠ ॠ३ ऌ ॡ ॡ३ ये १५ स्वर हैं तथा ए ए३ ऐ ऐ३ ओ ओ३ औ औ३ ये ८ सन्ध्यक्षर स्वर हैं। कवर्गादि पच्चीस अन्तःस्थ चार ऊष्म चार इस प्रकार ३३ व्यञ्जन तथा नौ अयोगवाह- xक xप, अनुस्वार, विसर्ग, हुँ यह नासिक्य, कुं खुं गुं घ ये चार यम इस प्रकार कुल ६५ वर्ण हुए। इसमें यदि ळ ल्ह भी जोड़ दिया जाए तो कुल वर्णों की संख्या ६७ हो जाती है। माध्यन्दिन शाखा में ६१ वर्ण होते है इन पूर्वोक्त वर्णों में से जिह्वामूलीय उपध्मानीय नासिक्य तथा ऌ तथा ल्ह इन वर्णों का अभाव होता है शेष पूर्ववत् ही होते हैं। सामप्रातिशाख्य के अनुसार ५७ वर्ण हैं। जिनमें ए ओ ऐ औ आ ॠ ॡ ई ऊ ॠ ऌ इ उ अ ये १४ स्वर वर्ण हैं तथा र य व ल ये चार अन्तःस्थ वर्ण तथा ङ् ञ ण न म घ झ ढ ध भ ग ज ड द ब ख छ ठ थ फ क च ट त प ये २५ स्पर्श वर्ण तथा ह श ष स ये चार ऊष्म वर्ण, विसर्ग क प ये तीन, हुं कुं खुं गुं घुं अं आं ये सात इस प्रकार कुल ५७ वर्ण हुए। अथर्वप्रातिशाख्य के अनुसार विद्वानों ने ४७ वर्णों की सम्भावना बतायी है। इस प्रातिशाख्य में स्पष्टतया वर्णों की संख्या निर्दिष्ट नहीं है।

चतुर्दश माहेश्वर सूत्रों में अ, इ, उ, ऋ ऌ को ही रखते हुए शेष को सवर्णग्रहण से गृहीत किया है।

विभिन्न शिक्षा, प्रातिशाख्य एवं अष्टाध्यायी के आधार पर निर्णीत संस्कृत भाषा के ध्वनिविषयक सिद्धान्तों के सन्दर्भ में कुछ विचारणीय बिन्दु -

1. यम चार हैं या २०
2. निष्कर्ष - यम ०४ ही हैं
3. दुःस्पृष्ट एक है या दो
4. उत्तर - दुःस्पृष्ट दो हैं
5. संवृत अ एक है या दो
6. उत्तर - संवृत अ दो है
7. ए ओ जो कि शाखा विशेष में ह्रस्व उच्चरित होते हैं उन्हें वर्णमाला में स्थान दिया जाए या नहीं
8. उत्तर - दिया जाना चाहिए

ऊ३ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न प फ ब भ म य र ल व श ष स ह कं खं गं घम्।। (तै. प्रा, माहिषेयभाष्य, प्रथम प्रश्न, प्रथम अध्याय 1)

शब्द संरचना - यास्ककृत निरुक्त के आलोक में

वेदों के शुद्ध उच्चारण के लिए शिक्षा एवं प्रातिशाख्यों का उदय हुआ। वहीं वेदार्थज्ञान के लिए निघण्टु एवं निरुक्त का प्रणयन किया गया। निघण्टु वैदिक शब्दों का संग्रह करने वाले कोश ग्रन्थ का सामान्य नाम था[30] जबकि उन शब्दों का निर्वचन प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थों का सामान्य नाम निरुक्त था। निर्वचन की परम्परा भारत में वैदिक काल से प्रचलित रही है। अनेक वैदिक मन्त्रों में निर्वचन प्राप्त भी होते हैं। किन्तु वेदाङ्गभूत निरुक्त का प्रमुख उद्देश्य ही निर्वचन रहा है। निर्वचन के द्वारा किसी शब्द के मूल अर्थ तक पहुंचने का प्रयास किया जाता है। वस्तुतः निर्वचन किसी शब्द की पूर्णतः ऐतिहासिक यात्रा प्रदर्शित करने के उद्देश्य से ही नहीं किया जाता, यद्यपि इसमें इसकी सम्भावना निहित हो सकती है, अपितु वह उस शब्द के साथ किसी अर्थ की संगति बैठाने का एक प्रयत्नमात्र होता है। इसलिए निर्वचन या निरुक्ति का अनुवाद आधुनिक भाषाविज्ञान के एटमालाजी से नहीं किया जा सकता है।

यास्क ने निरुक्त को व्याकरण का पूरक कहा है। निरुक्त का कार्य किसी शब्द की प्रकृति प्रत्यय की कल्पना एवं उसके संश्लेषण की पूर्ण विधि प्रदर्शित करना भी नहीं है। यद्यपि निरुक्त में अनेक स्थलों में सम्पूर्ण व्युपत्ति के भी निदर्शन होते हैं। व्याकरण एवं निरुक्त में एक प्रमुख अन्तर यह है कि व्याकरण जहां किसी शब्द के प्रकृति एवं प्रत्यय तथा उनके अर्थ पर विचार करते हुए उनके संश्लेषण की विधि की सम्पूर्ण प्रक्रिया का निदर्शन करता है, वहीं निरुक्त किसी शब्द के मूलभूत अर्थ की ओर इंगित करता है, जिससे उस शब्द के अर्थ के अनुसन्धान में दृष्टि प्राप्त हो सके। निरुक्त वस्तुतः अर्थानुसन्धान का मूलभूत वेदाङ्ग है, जो व्याकरण का सहयोगी होते हुए भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है।

प्राचीन काल में अनेक निघण्टु उनके व्याख्यानभूत अनेक निरुक्त ग्रन्थ विद्यमान थे। यास्क ने अपने पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों का उल्लेख किया है जिससे उक्त तथ्य की पुष्टि होती है। वर्तमान में एक ही निघण्टु एवं एक ही निरुक्त प्राप्त है। प्राप्त निघण्टु के रचनाकार के विषय में मतभेद है। इस निघण्टु के व्याख्याकार यास्क हैं इस विषय में कोई विवाद नहीं है। सम्प्रति यास्ककृत निरुक्त ही निरुक्त के नाम से प्रसिद्ध है।

यास्क ने शब्दों के चतुर्विध विभाग जो पूर्वतः ऋक् प्रातिशाख्य के समय भी प्रसिद्ध थे - नाम, आख्यात, उपसर्ग एवं निपात उन्हें ही शब्दविभाग के रूप में

[30] निघण्टवः कस्मान्निगमा इमे भवन्ति। (निरु., 1.1.1)

स्वीकार किया है[31]।

यास्क ने 'भावप्रधानमाख्यातम्' 'सत्त्वप्रधानानि नामानि'[32] इन दो परिभाषाओं द्वारा आख्यात एवं नाम को परिभाषित किया है। यास्क के द्वारा परिभाषित सत्त्व एवं भाव पदार्थ परवर्ती व्याकरण दर्शन की पृष्ठभूमि का कार्य करता है। यास्क द्वारा षड् भावविकार[33] का निदर्शन भी व्याकरण दर्शन की भूमिका तैयार करता है।

नाम - सत्त्वप्रधानानि नामानि यह नाम का लक्षण निरुक्तकार ने दिया है। जहाँ पर सत्त्व की प्रधानता होती है उसे नाम कहते हैं। सत्त्व का अर्थ जहाँ पर लिङ्ग और संख्या का अन्वय होता हो। उदाहरण- गौः अश्वः पुरुष हस्ती[34]। नाम शब्द का प्रयोग प्रातिपदिक के पर्याय के रूप में होता है। इस नाम के पाँच अर्थ होते है जो कि जाति, व्यक्ति लिङ्ग, सङ्ख्या, कारक हैं। जैसे गो में रहने वाला गोत्वधर्म जातिरूप है, तदाश्रय गोव्यक्ति है, स्त्रीत्व अर्थ के वाचक गो इस नाम में स्त्रीत्वधर्म हैं तथा बलीवर्द के वाचक गो इस नाम में पुंस्त्व धर्म है। गौः कहने पर एकत्व संख्या का, गावौ कहने पर द्वित्व संख्या का गावः कहने पर बहुत्व संख्या का बोध होता है एवं गवा चर्यते में कर्तृकारक का गामानयति में कर्मकारक का, इस प्रकार उन उन कारकों का भी बोध होता है[35]।

आख्यात - भावप्रधानमाख्यातम् यह आख्यात का लक्षण निरुक्तकार ने दिया है। जहाँ पर भाव की प्रधानता होती है उसे आख्यात कहते है। जैसे पचति यहाँ पर पचति इस आख्यात से वर्तमानकालिक पाकक्रिया का बोध होता है। आरम्भ से लेकर समाप्ति पर्यन्त जितने भी भाव (व्यापार) हैं वे सभी आख्यात पद से कहे जातें हैं[36]। पचति यहाँ पर डुपचष् पाके धातु है एवं तिङ्प्रत्यय। धातु के द्वारा भाव का एवं तिङ्प्रत्यय के द्वारा कर्ता, संख्या, काल इन अर्थो की उपस्थिति होती है फिर भी धात्वर्थ भाव का ही प्राधान्य होता है। इसी प्रकार देवदत्तः पचति इत्यादि स्थल में जहाँ नाम एवं आख्यात दोनों होते हैं वहाँ भी आख्यात वाच्य भाव

---

31 तद्यान्येतानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च तानीमानि भवन्ति। (निरु., 1.1.8)

32 तत्रैतन्नामाख्यातयोर्लक्षणं प्रदिशन्ति भावप्रधानमाख्यातम्, सत्त्वप्रधानानि नामानि। (निरु., 1.1.9)

33 षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिर्जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्द्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति। (निरु., 1.2.8)

34 अद इति सत्त्वानामुपदेशो गौरश्वः पुरुषो हस्तीति। (निरु., 1.1.13,14)

35 एकं द्विकं त्रिकं चेति चतुष्कं पञ्चकं तथा।
नामार्थ इति सर्वेऽमी पक्षाः शास्त्रे निरूपिताः। (वै. भू., नामार्थनिर्णयः 25)

36 पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे व्रजति पचतीत्युपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तं। मूर्त्तं सत्त्वभूतं सत्वनामभिर्व्रज्या पक्तिरिति। (निरु., 1.1.11,12)

की ही प्रधानता होती है[37]।

उपसर्ग - आचार्य शाकटायन का मत है कि उपसर्ग वाक्य में स्वतन्त्र रूप से अर्थ के बोधक नहीं होते अपितु ये नाम एवम् आख्यात के साथ संयुक्त होकर विशेष अर्थ के द्योतक होते है[38]। अतः इनका स्वतन्त्र रूप से प्रयोग नहीं होता उदारण के लिए आगच्छति, निर्गच्छति इत्यादि स्थलों में आख्यात के साथ संयुक्त आङ् एवं निर् उपसर्ग स्वतन्त्र रूप से अर्थ के बोधक न होकर गच्छति इस आख्यात से साथ संयुक्तरूप से विशेष अर्थ का द्योतन करते हैं[39]) वह द्योतित अर्थ वस्तुतः आख्यात का ही है। जबकी आचार्य गार्ग्य कहते हैं कि जैसे नाम एवम् आख्यात पद होने के कारण अर्थ के वाचक है उसी प्रकार उपसर्ग भी पद होने के कारण अर्थ का वाचक ही है अतः उपसर्गों का अर्थ अवश्य होता है[40]। जैसे - आ यह अर्वाग् अर्थ में[41]। प्र परा ये प्रातिलोम्य अर्थ में[42]। अभि यह आभिमुख्य अर्थ में[43]। प्रति यह प्रातिलोम्य अर्थ में[44]। अति सु ये अभिपूजित अर्थ में[45]। निर् दुर् यह प्रातिलोम्य अर्थ में[46]। इस प्रकार अन्य उपसर्ग भी उन उन अर्थों के वाचक होते हैं।

निपात - निपतन्ति इस विग्रह में नि उपसर्गपूर्वक पत् धातु से ज्वलिति-कसन्तेभ्यो णः इति सूत्र से ण प्रत्यय होने पर सिद्ध होता है। जो अनेक अर्थ में निपतित होते हैं उन्हें निपात करतें हैं[47] ये उपमानार्थक होते है कुछ अर्थोपसंग्रहार्थक (संयोगकार्थक) होते है कुछ पादपूरणार्थक[48]। इन निपातों में इव, न, चित्, नु ये उपमानार्थक होतें है[49]। इनके अलावा अन्य अर्थों में भी होते हैं। च यह समुच्चयार्थक होता है[50]। इस प्रकार अन्य निपातों को भी जानना चाहिए। निरुक्तकार ने विस्तार से इन विषयों पर विचेचन किया है।

---

37 तद्यत्रोभे भावप्रधाने भवतः। (निरु., 1.1.10)

38 न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरिति शाकटायनः। (निरु., 1.3.3)

39 नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्ति। (निरु., 1.3.4

40 उच्चावचाः पदार्था भवन्तीति गार्ग्यः। (निरु., 1.3.5)

41 आ इत्यर्वागर्थे। (निरु., 1.3.7)

42 प्रपरेत्येतस्य प्रातिलोम्यम्। (निरु., 1.3.8)

43 अभीत्याभिमुख्यम्। (निरु., 1.3.9)

44 प्रतीत्येतस्य प्रातिलोम्यम्। (निरु., 1.3.10)

45 अति सु इत्यभिपूजितार्थे। (निरु., 1.3.11)

46 निर्दुरित्येतयोः प्रातिलोम्यम्। (निरु., 1.3.12)

47 उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति। (निरु., 1.4.2)

48 अप्युपमार्थेऽपि कर्मोपसंग्रहार्थेऽपि पदपूरणाः। (निरु., 1.4.3)

49 तेषामेते चत्वार उपमार्थे भवन्ति। (निरु., 1.4.4)

50 चेति समुच्चयार्थ उभाभ्यां संप्रयुज्यते। अहं च त्वं च वृत्रहन्निति। (निरु., 1.4.19)

यास्क का निर्वचन सिद्धान्त

यास्क का निर्वचन का एक सामान्य सिद्धान्त प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि जिस शब्द का निर्वचन करना है, उसके लिए ऐसी प्रकृति तथा ऐसा प्रत्यय खोजें जिससे इस शब्द के अर्थ के साथ उसका साम्य बैठाया जा सके। इसके साथ ही प्रकृति की ध्वनियों में वह स्वर एवं विकार स्वाभाविक रूप से अनुकूल हो। किन्तु बहुत अन्वेषण के बाद भी यदि ऐसा न हो तो अर्थ सादृश्य एवं ध्वनि सादृश्य में अर्थसादृश्य को महत्त्व दें और यदि अर्थ सादृश्य भी न हो रहा हो तो ध्वनि सादृश्य से ही कोई न कोई निर्वचन अवश्य कर दें। इस सम्बन्ध में व्याकरण नियमों को बहुत आदर देना आवश्यक नहीं है। इस प्रकार यह सिद्धान्त सभी शब्दों के निर्वचन करने को महत्त्व प्रदान करता है।

यास्क शाकटायन के अनुयायी हैं जिनके अनुसार प्रत्येक नाम शब्द के मूल में किसी न किसी धातु की स्थिति है। यदि सामान्य रूप से इस बात को स्वीकृति प्रदान की जाए कि बहुत से नाम शब्द अव्युत्पन्न हैं तो निरुक्ति का कार्य शिथिल हो सकता है, क्योंकि जिन शब्दों में स्फुट रूप से कोई धातु या क्रिया साक्षात् सम्बन्ध नहीं दिखायी देगा उसे अव्युत्पन्न मान लेनी की प्रवृत्ति बढेगी। जिससे निर्वचन कार्य भी प्रभावित होगा तथा निर्वचन विद्या भी। अतः स्वयं ही कोई शास्त्र अपने विकास को क्यों अवरुद्ध करना चाहेगा। इसी मूल भावना के साथ यास्क शाकटायन के इस सिद्धान्त का अनुगमन करते हैं कि सभी नाम शब्दों का मूल धातु है।

यास्क ने यद्यपि प्रमुख रूप से निर्वचन को ही उद्देश्य बनाया था जो अर्थसंरचना का भाग है, तथापि यास्क निर्वचन करने में जिन उपायों का उपयोग कर रहे थे वे व्याकरणोपयोगी शब्दसंरचना एवं पदसंरचना के भी के उपयोगी नियम थे। किन्तु निरुक्त में प्रकृति, प्रत्यय, विकार, तथा वृत्ति जिनमें कृत् तद्धित तथा समास का उन्होंने उपयोग होते हुए भी इनकी प्रधानता नहीं है। इस प्रकार विशुद्ध रूप से निर्वचन के ही आचार्य है। ध्यातव्य है कि यास्क के निर्वचन को एटिमालाजी की दृष्टि से समीक्षित नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि यास्क का उद्देश्य किसी शब्द की ऐतिहासिक यात्रा का सप्रमाण चित्र उपस्थापित करना नहीं था। यह सम्भव है कि बहुत से उदाहरणों में ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक दृष्टि प्राप्त होती है। अतः जिन आधुनिक भाषाविज्ञानविद् आचार्यों ने यास्क को एटिमालाजी की दृष्टि से परखते हुए उनकी आलोचना की है वे वस्तुतः यास्क के निरुक्त का सही मूल्यांकन निर्वचन की दृष्टि से नहीं कर सके हैं, क्योंकि यास्क का निरुक्त निर्वचन शास्त्र है, प्रधानतया एटिमालाजी पर विचार करने वाला शास्त्र नहीं। अतः यास्क के निरुक्त को निर्वचन की दृष्टि से मूल्यांकित किया जाना चाहिए तथा इसमें एटिमालाजी की

भी जो दृष्टि वहां यत्र तत्र प्राप्त है वह प्रशंसनीय हो जाती है। निर्वचन का ऐसा शास्त्र इतने प्राचीन काल में भारत में था। अपने आप में सुखद आश्चर्य का विषय हो जाता है।

भाषा संरचना एवं पाणिनीय अष्टाध्यायी

महर्षि पाणिनि का नाम सम्पूर्ण विश्व में एक ऐसे आचार्य के रूप में लिया जाता है जिन्होंने आज की अनेक आधुनिक विद्याओं की मूल अवधारणाओं की स्थापना हजारों वर्ष पहले कर दी थी। उनका व्याकरण आज भी विश्व का अप्रतिम व्याकरण है। पाणिनीय व्याकरण जहां एक ओर वैदिक एवं लौकिक संस्कृत का अप्रतिम व्याकरण है वहीं वह आधुनिक भाषाविज्ञान, सूचनाविज्ञान, भाषादर्शन, विभिन्न भाषाओं के व्याकरण के निर्माण करने का व्याकरण तथा संगणकीय भाषा विज्ञान को नव दृष्टि प्रदान करने वाले शास्त्र के रूप में भी सुप्रतिष्ठित है। भाषा संरचना एवं अष्टाध्यायी इस शीर्षक पर संक्षेप में लिखे जाने वाले आलेख की एवं लेखक की भी अपनी सीमा है। अतः इस शीर्षक पर अथाह पयस्विनी के दो चार बूंद ही का ही आस्वाद करा सकेंगे। तथापि इस प्रकार के प्रयत्न प्रयत्नकर्ता के लिए इन ग्रन्थों के अवगाहन का मार्ग अवश्य प्रशस्त करते हैं।

पाणिनि की अष्टाध्यायी वैदिक एवं लौकिक संस्कृत का व्याकरणग्रन्थ है। पाणिनि के व्याकरण को पदशास्त्र कहा जाता है। यह पदशास्त्र दो अर्थों में है। एक तो प्रकृति एवं प्रत्यय की कल्पना के द्वारा सामान्य एवं विशेष नियमों से अनन्तानन्त शब्दों की सुव्यवस्थित व्युत्पत्ति प्रदान करते हुए वाक्य में प्रयोगार्ह पद की सिद्धि करता है तथा दूसरा यह पदों के परस्पर सम्बन्धों के द्वारा वाक्य संरचना तथा वाक्यार्थ के विश्लेषण का मार्ग भी प्रशस्त करता है। इस प्रकार पाणिनि के व्याकरण का पदशास्त्र उसे पद का शास्त्र तथा पदों का शास्त्र दोनों ही बनाता है। हां यह सत्य है कि यह अनेक वाक्यों एवं उनकी संगति के साथ अनेक वाक्यार्थों के विषय में विचार करने वाला शास्त्र नहीं है। किन्तु पदों के शास्त्र के रूप में यह वाक्यनिर्माण शास्त्र भी है।

पाणिनीय शास्त्र को शब्दशास्त्र भी कहा जाता है। क्योंकि व्याकरण के अनुसार 'शब्द' शब्द का अर्थ वर्ण, प्रकृति, प्रत्यय, प्रकृति प्रत्यय का समुदाय, सुबन्तात्मक एवं तिङन्तात्मक पद तथा वाक्य है। पाणिनि ने इन सभी को अ-ष्टाध्यायी में स्थान दिया है। इसीलिए महर्षि पतञ्जलि ने पाणिनि के व्याकरण को 'अथ शब्दानुशासनम्'[51] कहते हुए शब्दानुशासन कहा है।

[51] म. भा., पस्पशा.

अष्टाध्यायी में शब्दसिद्धि, पदसिद्धि की तथा वाक्यसंरचना की सूम्पर्ण व्यवस्था देखने को मिलती है। अर्थविचार प्रत्येक स्तर पर विद्यमान है। चाहे वह प्रकृत्यर्थ का विचार हो या प्रत्ययार्थ का विवेचन हो, सुबर्थ का निरूपण हो या तिङर्थ का। इस प्रकार पाणिनि का व्याकरण भाषा संरचना का समग्र व्याकरण है। पाणिनि के व्याकरण में आधुनिक भाषाविज्ञान के विभिन्न शाखाओं का निदर्शन तो प्राप्त हो ही जाएगा, किन्तु जो अवधारणाएं आधुनिक भाषाविज्ञान में भी प्राप्त नहीं हैं उन अवधारणाओं को भी सहजता से देखा जा सकता है। अष्टाध्यायी संस्कृत भाषा का व्याकरण है, इसमें भाषा सामान्य के विश्लेषण के सिद्धान्त तो उपलब्ध हैं ही, किन्तु जो संस्कृत की अपनी विशेषता है उसके लिए प्रयुक्त सिद्धान्त उसके अपने अतिरिक्त वैशिष्ट्य हैं।

जैसा कि पूर्व में कहा गया कि शिक्षा एवं प्रातिशाख्य ग्रन्थ ध्वनिशास्त्र हैं। ध्वनिशास्त्र एवं निर्वचन शास्त्र व्याकरण शास्त्र के पूरक भी हैं। पाणिनीय व्याकरण में भी ध्वनिशास्त्र एवं निर्वचन शास्त्र के सिद्धान्त उपलब्ध हैं। अष्टाध्यायी में ध्वनिशास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्तों की संक्षिप्त रूपरेखा देख सकते हैं। अष्टाध्यायी में चतुर्दश सूत्रों में वर्णमाला का वैज्ञानिक एवं प्रत्याहारोपयोगी संयोजन करते हुए संस्कृत वर्णमाला का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। वर्णमाला में जातिपक्ष का आश्रयण कर उस जाति के अन्य स्वरों का परिगणन प्रत्याहारों में नहीं किया है। किन्तु ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत[52] संज्ञाओं के विधान तथा उदात्त[53], अनुदात्त[54] तथा स्वरित[55] संज्ञाओं के द्वारा स्वरों के सभी भेदों का भी प्रदर्शन कर दिया गया है। व्यंजनों को भी एक अनुक्रमविशेष में रखने के पीछे अनेक दृष्टि रही है। इनमें प्रत्याहारों में क्रमविशेष में वर्णविशेष का संयोजन प्रमुख है। हकार के दो बार परिगणन[56] के पीछे भी प्रयोजनविशेष है, जैसा कि ग्रन्थों में कहा गया है कि अट्, अश्, हश्, इण्, अण्[57] प्रत्याहारों में हकार के समावेश के लिए प्रथम हकार का तथा वल्, रल्, झल्, शल्[58] प्रत्याहारों मे हकार के समावेश के लिए द्वितीय हल् इस

52 ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः, (अष्टा., 1.2.27)

53 उच्चैरुदात्तः, (अष्टा., 1.2.29)

54 नीचैरनुदात्तः, (अष्टा., 1.2.30)

55 समाहारः स्वरितः, (अष्टा., 1.2.31)

56 हयवरट्, माहेश्वरसूत्र 5 तथा हल् माहेश्वरसूत्र 14

57 हयवरट् (माहेश्वरसूत्रम्)। हकारोपदेशः अट्-अश्-हश्-इण्ग्रहणेषु हकारग्रहणार्थः। अर्हेण अड्व्यवायेऽपि इति णत्वम्। देवा हसन्ति भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि इति योर्यत्वम्। देवो हसति हशि च इत्युत्वम्। लिलिहिढ्वे, लिलिहिध्वे विभाषेटः इति वा ढः। (प्रौढ. म., संज्ञाप्रकरणम्, पृ०सं० 4-5)

58 हल् इदं सूत्र वल्-रल्-झल्-शल्षु हकारग्रहणार्थम्। रूदिहि, स्वपिहि रुदादिभ्यः सार्वधातुके इति वलादिलक्षण इट्। स्निहित्वा, स्नेहित्वा रलो व्युपधाद् इति वा कित्वम्। अदाग्धाम् झलो झलि इति सकारलोपः। अलिक्षत् शल इगुपधात् इति क्सः। (प्रौढ. म., संज्ञाप्रकरणम्, पृ०सं० 7)

सूत्र का माहेश्वर सूत्र में समावेश किया है। वस्तुतः चतुर्दश माहेश्वर सूत्र अत्यधिक गभीर गणितीय अनुसन्धान का विषय है। इस पर अनेक विद्वानों ने महत्त्वपूर्ण कार्य किए हैं। यहां शुद्ध गणितीय दृष्टि से किया गया बेव के पीटर्सन का शोधकार्य विशेषरूप से उल्लेखनीय है। चतुर्दश सूत्रों में अनुबन्ध के रूप में णकार के दो बार ग्रहण में यह प्रदर्शित किया गया है कि किसी सन्देह के निराकरण का क्रमिक एवं तार्किक मार्ग का अन्वेषण किस प्रकार किया जाए। इसका निदर्शन लण् सूत्र के भाष्य में अच्छी प्रकार से कराया गया है। सन्देह की स्थिति में विशेष निश्चय किस प्रकार के व्याख्यान से सम्भव है यह इस भाष्य में प्रदर्शित है[59]। इस दृष्टि से व्याकरण शास्त्र पदे पदे हमें विचार करने की कला भी सिखाता है।

इस प्रकार पाणिनि की अष्टाध्यायी में यद्यपि ध्वनिशास्त्र का सर्वाङ्ग विवेचन नहीं किया गया है, क्योंकि यह इसके प्रधान प्रतिपाद्यों में नहीं था, इसके लिए शिक्षा एवं प्रातिशाख्य स्वतन्त्र शाखाएं थीं, किन्तु व्याकरण के लिए आवश्यक ध्वनिशास्त्र भी अष्टाध्यायी में वर्णित है, इसका संक्षिप्त निदर्शन पूर्व में किया गया है जिसमें अष्टाध्यायी में सन्धि एवं उदात्तादि स्वरों के विधान भी विशेषरूप से समावेशनीय हैं।

अष्टाध्यायी में निर्वचन की एवं शब्दसिद्धि की सम्पूर्ण प्रक्रिया का पर्याप्त वर्णन है। अष्टाध्यायी में निर्वचन अपनी सम्पूर्णता में विद्यमान है। शाकटायन की परम्परा का अनुसरण करते हुए यास्क ने सभी नाम शब्दों को धातु से व्युत्पन्न माना था। पाणिनि ने इस दृष्टि से धातु के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी अव्युत्पन्न प्रातिपदिकों की भी स्थिति स्वीकार की जो धातु से व्युत्पन्न नहीं होते। इस प्रकार पाणिनि शब्दों के मूल के रूप में जिस प्रकार धातु को महत्त्व देते हैं उसी प्रकार वे प्रातिपदिकों को भी शब्द का मूल स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार अधिसंख्य नामपदों का मूल धातु हो सकता है, किन्तु ऐसे भी नाम पद हो सकते हैं जो जिनका मूल धातु न हो। अर्थात् अव्युत्पन्न प्रातिपदिक जो स्वयं शब्द के मूल के रूप में विद्यमान हो। इसी दृष्टि से उनकी 'प्रातिपदिक' संज्ञा भी सार्थक है जिसका तात्पर्य पदं पदं (सुबन्तात्मकं) प्रति प्रतिपदं प्रतिपदम् अर्हति प्रातिपदिकम्। जो प्रत्येक सुबन्त पद में विद्यमान है वह प्रातिपदिक है।

पाणिनि शब्दसंरचना की दृष्टि से दो प्रकार के पदों में ही वाक्य में प्रयोगार्ह सभी प्रकार के पदो का समावेश कर देते हैं। यद्यपि अपने सूत्रों द्वारा वे संज्ञा,

[59] लण्। अयं णकारो द्विरनुबन्ध्यते- पूर्वश्चैव परश्च। तत्राऽण्ग्रहणेषु इण्ग्रहणेषु च सन्देहो भवति- पूर्वेण वा स्युः, परेण वेति। अनन्तरं समाधानाय उक्तम्- व्याख्यानाच्च द्विरुक्तितः।। एतज्ज्ञापयत्याचार्यो- भवत्येषा परिभाषा- व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणमिति। अणुदित्सवर्णस्येत्येतत्परिहाय पूर्वेणाऽण्ग्रहणम्, परेणेण्ग्रहणिति व्याख्यास्यामः।। (म. भा., 1.1.8)

सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, क्रियाविशेषण आदि विभाग को भी दिखलाते हैं।

अब पाणिनि की भाषा संरचना सम्बन्धी पद्धति का क्रमिक एवं संक्षिप्त निदर्शन अपेक्षित है। इस क्रम में हम सर्वप्रथम पदत्वनिष्पादक तिङ्[60] प्रत्ययों की प्रकृति धातु[61] एवं सुप्[62] प्रत्ययों की प्रकृति प्रातिपदिक पर विचार करते हैं। पाणिनि ने मूल शब्द के रूप में एक ओर शुद्ध धातुओं के विशाल भण्डार और उसकी नूतन सम्भावनाओं का मार्ग खुला रखा है वहीं उन्होंने धातु के समान ही मूल प्रातिपदिकों की सत्ता भी स्वीकार की है, जो अव्युत्पन्न हैं। इस प्रकार जहां एक ओर उन्होंने मूल प्रातिपदिक एवं मूल धातुओं की सत्ता का प्रतिपादन किया वहीं व्युत्पन्न प्रातिदिकों एवं व्युत्पन्न धातुओं के निष्पादन का एक ऐसा चक्र विकसित किया है जिससे अनन्त प्रातिपदिकों एवं अनन्त धातुओं के निष्पादन का यान्त्रिक मार्ग भी प्रशस्त हो जाता है, जो संस्कृत भाषा के अनन्त विकास का मार्ग भी प्रशस्त करता है। धातुओं से सनादि[63] प्रत्यय के द्वारा व्युत्पन्न धातुओं के निर्माण तथा नामपदों से भी धातुनिर्माण[64] की प्रक्रिया के द्वारा अनन्त धातुओं के निर्माण से अनन्त क्रियापदों के प्रयोग का मार्ग उद्घाटित होता है। इसी प्रकार मूलधातुओं तथा व्युत्पन्न अनन्त धातुओं से कृत्[65] प्रत्ययों के योग से अनन्त कृदन्त प्रातिपदिकों का तथा विभिन्न सुबन्त पदों से तद्धित[66] प्रत्ययों के योग से पुनः अनन्त तद्धितान्त पदों के निष्पादन का भी राजमार्ग उद्घाटित हो जाता है। इसके साथ ही एकाधिक सुबन्त पदों के योग से समस्त प्रातिपदिकों के प्रयोग से अनन्त समस्तपदों के कुशल प्रयोग का भी राज मार्ग उद्घाटित होता है। इस प्रकार पाणिनि का व्याकरण

60 तिप्तस्झिसिप्थस्थमिब्वस्मस्तातांझथासाथांध्वमिड्वहिमहिङ्। (अष्टा., 3.4.78)

61 भूवादयो धातवः। (अष्टा., 1.3.1)

62 स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्याम्भ्यस्ङसिभ्याम्भ्यस्ङसोसाङ्ङ्योस्सुप्। (अष्टा., 4.1.2)

63 सनाद्यन्ताः धातवः ।।3.1.22, सन्क्यच्काम्यचक्यङ्क्यषोऽथाचारक्विण्जिज्यङौ तथा। यगाय ईयङ् णिङ् चेति द्वादशाऽमी सनादयः। उदाहरणानि सन्- गुप्तिज्किद्भ्यः सन् 3.1.5 जुगुप्सते, मान्बधदान्शाभ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य3.1.6 मीमांसती, बाभत्सते,दीदांसते शीशांसते, धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा 3.1.7।। क्यच्- सुप आत्मनः क्यच् 3.1.8 पुत्रीयति, काम्यच्- काम्यच्च 3.1.9 पुत्रकाम्यति। क्यङ्- कर्तुः क्यङ् सलोपश्च 3.1.11 कृष्णायते। ओजायते। अप्सरायते। यशायते। विद्वायते। क्यष्- लोहितादिडाभ्यः क्यष् 3.1.13 लोहितायति, लोहितायते। णिङ्- पुच्छभाण्डचीवराण्णिङ् 3.1.20 उत्पुच्छयते। विपुच्छयते। परिपुच्छयते। णिच्- मुण्डमिश्रश्लक्ष्णलवलवणव्रतवस्त्रहलकलकृततूस्तेभ्यो णिच् 3.1.21 मुण्डयति। मिश्रयति। श्लक्ष्णयति। लवणयति। व्रतयति, संवस्त्रयति। हलयति। कलयति। कृतयति। वितूस्तयति। यङ्- धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ् 3.1.22 बोभूयते, यक्- कण्ड्वादिभ्यो यक् 3.1.27 कण्ड्यते, कण्ड्यते। आय्- गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आयः 3.1.28 गोपायति। धूपायति। विच्छायति। पणायति। पनायति, ईयङ्- ऋतेरीयङ् 3.1.29 ऋतीयते। क्विप्- क्विप् च 3.2.76 उखास्रत्। पर्णध्वत्। वाहभ्रट्।

64 सुप आत्मनः क्यच् 3.1.8 पुत्रीयति, काम्यच्च 3.1.9 पुत्रकाम्यति

65 कृदतिङ्, (अष्टा., 3.1.93)

66 तद्धिताः (अष्टा., 4.1.76)

जहां सुबन्त की प्रकृति के रूप में अव्युत्पन्न प्रातिपदिकों की सत्ता स्वीकार करता है वहीं नए प्रातिपदिकों के व्युत्पादन प्रक्रिया द्वारा अनन्त व्युत्पन्न प्रातिपदिकों के प्रयोग की सम्भावना तथा अनन्त व्युत्पन्न धातुओं के द्वारा संस्कृत भाषा के असीम विकास का मार्ग प्रशस्त करता है। अतः ध्यातव्य है कि पाणिनि ने संस्कृत भाषा के असीम विकास का मार्ग उद्घाटित किया है, अवरुद्ध नहीं।

वस्तुतः पाणिनि ने शब्द बनाने का राजमार्ग उद्घाटित किया[67] है अतः हमें महाभाष्य में आए 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे'[68] को महर्षि पतंजलि के इस व्याख्यान के आलोक में देखना चाहिए कि शब्दों के प्रयुक्त होने न होने का निर्णय करना किसी भी व्यक्ति के लिए सरल नहीं है। अतः जहां स्फुट रूप में व्याकरणशास्त्र अनभिधान का उल्लेख करता है उससे अतिरिक्त पाणिनीय प्रक्रिया से साधित सभी सम्भव शब्दों को प्रयुक्त मानकर अपेक्षानुसार विवेकपूर्वक प्रयोग में लाया जा सकता है। वस्तुतः पाणिनि के व्याकरण का उपयोग अनन्त विचारों एवं भावों को समुचित अभिव्यक्ति देने का राजमार्ग प्रशस्त करता है। अतः महाभाष्य में वैयाकरण एवं कुम्भकार की समानता के निषेध का उदाहरण भी अन्य रूप से व्याख्येय लगता है। नूतन नूतन शब्दों के प्रयोग के इच्छुक व्यक्ति को स्वयं व्याकरण अध्ययन कर नवप्रयोग करने की सामर्थ्य लानी चाहिए, न कि घट उपयोगार्थी की तरह कुम्भकार से प्राप्त कर। अर्थात् किसी अन्य (वैयाकरण) से लेकर। इसे इस रूप में समझना चाहिए कि नव नव शब्दप्रयोग के इच्छुक व्यक्ति को स्वयं ही शब्दनिर्माण की क्षमता विकसित करनी चाहिए, जिससे व्याकरणाध्ययन आवश्यक हो जाता है। शब्दप्रयोग क्रय करके या मांग कर नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार पाणिनि ने अनन्त प्रातिपदिकों एवं अनन्त धातुओं के निष्पादन का मार्ग प्रदर्शित करते हुए पदनिर्माण की जो प्रक्रिया प्रदर्शित की है वह भी बहुत ही विलक्षण है। संस्कृत एक संश्लिष्ट भाषा है। इसमें प्रत्यय के योग से पदों के प्रयोग में अनेक वैलक्षण्य देखने को मिलते हैं। यदि हम सुबन्त पदों में प्रथमा एकववचन के प्रयोग को ही देखें तो तो राम का रामः, सखि का सखा, पितृ का पिता राजन् का राजा, विद्वस् का विद्वान् चन्द्रमस् का चन्द्रमाः प्रयोग होते हैं। इसी प्रकार सातों विभक्तियों के तीनों वचनों में विभिन्न प्रकार के प्रातिपदिकों के रूपों में अन्तर दिखाई देता है। इस स्थिति में प्रकृति एवं प्रत्यय पर विचार करने के लिए इन पदों में अलग अलग प्रकृतियों के लिए अलग अलग प्रत्ययों की कल्पना

---

67 इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम्।
इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः ।। (वा. प., ब्रह्म. 16)

68 म. भा., पस्पशा.।

करनी पड़ सकती है। पाणिनि ने यहां ऐसा न करके मूलभूत २१ सुप्[69] प्रत्ययों की कल्पना की जिनसे वे प्रातिपदिकों के अन्त्य वर्ण तथा लिङ्ग के आधार पर उनके अलग अलग रूपों तक पहुंचने का मार्ग दिखाते हैं। पाणिनि सुबन्त पद की संरचना को इस प्रकार नियमबद्ध करते हैं कि किसी भी सुबन्त पद के प्रयोग में सन्देह का अवसर न रहे। इसी प्रकार से पाणिनि ने क्रिया पदों की संरचना को भी नियमबद्ध किया है, जो और भी अधिक रोचक है। क्रियापदों के रूप में तो और भी अधिक विचित्रता है। इनके श्रूयमाण रूपों के आधार पर यदि इनके प्रत्ययों की अवधारणा को विकसित किया जाए तो बहुत बडी संख्या में क्रिया पदों के प्रत्ययों की कल्पना करनी पडेगी। जो हजारों हजार में हो जाएगी। पाणिनि ने यहां भी बहुत सुगम मार्ग अपनाया है। उन्होंने १८ तिङ्[70] प्रत्ययों की कल्पना की जिनसे श्रूयमाण क्रियापदों के हजारों श्रूयमाण प्रत्ययों तक पहुचा जा सकता है। इन प्रत्ययों के द्वारा बोधित काल, आज्ञा, प्रेरणा, सम्भावनादि अर्थों के ग्रहण के लिए इन प्रत्ययों के स्थानी के रूप में १० लकारों[71] की कल्पना की। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण कल्पना है कि एक ति प्रत्यय किस लकार के स्थान पर आया है। वह जिस लकार के स्थान पर आया है उस लकार के अपने अर्थ को धारण करेगा। भाषा प्रयोगों के आधार पर लकारों के यथासम्भव अर्थ का भी विवेचन उन्होंने किया है। इस प्रकार महर्षि पाणिनि ने अष्टाध्यायी में पदसंरचना सम्बन्धी जिन प्रक्रियाओं को प्रदर्शित किया हैं उनसे अधिक नियमबद्ध और संक्षिप्त कोई मार्ग आज तक संस्कृत के किसी व्याकरण ने आविष्कृत नहीं किया। प्रसंगतः यह भी ध्यातव्य है कि इन नियमों के लगने या नियमों में परस्पर विरोध होने पर कौन सा नियम प्रभावशाली होगा इसकी व्यवस्था भी उस नियम के अष्टाध्यायी में उसकी अवस्थिति के आधार निर्धारित कर दी गयी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि महर्षि पाणिनि की अष्टाध्यायी भाषा संरचना के प्रत्येक स्तर को इस प्रकार नियमबद्ध रूप में प्रस्तुत करती है जिससे अनन्त पदों के प्रकृति प्रत्यय का ज्ञान उनके अर्थ का ज्ञान कुछ नियमों से ही सम्भव हो जाता है।

अष्टाध्यायी में वाक्यसंरचना सम्बन्धी व्यवस्थाओं का भी सम्पूर्णता में निरूपण है। अष्टाध्यायी में वाक्यसंरचना सम्बन्धी नियम व्युत्पन्न प्रातिपदिक संरचना, व्युत्पन्न धातुसंरचना तथा सुबन्त एवं तिङन्त पदसंरचना के साथ सम्बद्ध हैं[72]।

---

69 स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्याम्भ्यस्ङसिभ्याम्भ्यस्ङसोसाङ्ङ्योस्सुप्। (अष्टा., 4.1.2)

70 तिप्तस्झिसिप्थस्थमिब्वस्मस्तातांझथासाथांध्वमिड्वहिमहिङ्। (अष्टा., 3.4.78)

71 वर्तमाने लट्, परोक्षे लिट्, अनद्यतने लुट् 3.3.15, लृट् लृट् शेषे च 3.3.13, लिङर्थे लेट् 3.4.7, लोट् च 3.3.162, आशिषि लिङ्लोटौ 3.3.173, अनद्यतने लङ् 3.2.111, विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषु लिङ् 3.3.161, लुङ् 3.2.110, लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ 3.3.133

72 सुप्तिङन्तं पदम् (अष्टा., 1.4.14)

सर्वप्रथम सुबन्त एवं तिङन्त पदसंरचना के साथ वाक्यसंरचना की व्यवस्था का उदाहरण प्रस्तुत है। वाक्य में प्रयुक्त होने वाले पदों की संरचना करते समय वाक्य में उनके प्रयोग की भूमिका का निश्चय आवश्यक हो जाता है। इसे ही वैयाकरण वाक्यसंस्कार पक्ष कहते हैं। जिसका तात्पर्य वाक्यार्थ को बुद्धिगत करते हुए वाक्यनिर्माणहेतु पदों की संरचना करना। इस दृष्टि से विचार करने पर अष्टाध्यायी में पदसंरचना सम्बन्धी जो सुबन्त एवं तिङन्त व्यवस्थाएं हैं वे दोनों ही वाक्य में उनकी भूमिका के निश्चय के साथ सुप् एवं तिङ् प्रत्ययों का ग्रहण करती हैं। अतः पदसंरचना के अन्तर्गत वाक्यसंरचना के नियम भी कार्य करते हैं। इस दृष्टि से जब हम किसी सुप् प्रत्यय को किसी प्रातिपदिक से योजित कर उसका संस्कार करते हैं तो वह सुप् प्रत्यय अपने अर्थ की अपेक्षा करता है। सुप् प्रत्यय का अर्थ क्रियाकारक सम्बन्ध या तद्भिन्न सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध वाक्यार्थगत किसी अन्य अर्थ के साथ होता है। अतः वाक्यसंस्कार पक्ष की दृष्टि से सुबन्त पद के संस्कार के समय सम्पूर्ण वाक्यार्थ वक्ता के बुद्धि में स्थित होता है तथा सुबन्त प्रक्रिया से साध्य पद के अर्थ का वाक्यार्थघटक अन्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध को भी बुद्धिगत करते हुए उस पद का संस्कार सम्पन्न किया जाता है। इसी प्रकार तिङन्त पदों के संस्कार की भी व्यवस्था है। वाक्यसंस्कार पक्ष में विशेषणविशेष्यभाव क्रियाकारक सम्बन्ध कारकेतर सम्बन्ध आदि का ध्यान रखना आवश्यक होता है। अतः वाक्यसंस्कार पक्ष में तो पदसंरचना सम्पूर्णतः वाक्यसंरचनाश्रित होती है। जबकि पदसंस्कार पक्ष में तत्तत् पदों का संस्कार स्वतन्त्र रूप से जानने के बाद उन उन पदों का वाक्य में यथापेक्ष प्रयोग किया जाता है। पदसंस्कारपक्ष में भी पद की आन्तरिक संरचना को स्वतन्त्र रूप से सिद्ध किया जा सकता है किन्तु उसका प्रयोग तो क्रियाकारक व्यवस्था या कारकेतरसम्बन्धव्यवस्था, विशेषणविशेष्यव्यवस्था के अनुरूप ही करना होता है जिसके नियम दोनों ही पक्षों को ध्यान में रखकर महर्षि पाणिनि ने दिए हैं। सम्पूर्ण कारकव्यवस्था, तिङन्त की सुबन्त के साथ सामानाधिकरण्य व्यवस्था, विशेषण एवं विशेष्य के लिङ्ग एवं वचन की व्यवस्था वाक्यसंरचना सम्बन्धी व्यवस्थाएं ही हैं।

अब हम कृत् तद्धित समास एकशेष सनाद्यन्त धातुरूप पंच वृत्तियों के सम्बन्ध में अष्टाध्यायी के वाक्यंसरचना सम्बन्धी सिद्धान्तों की संक्षिप्त चर्चा करेंगे। संस्कृत भाषा में एक व्युत्पन्न प्रातिपदिक या एक व्युत्पन्न धातु से बना पद भी वाक्य के रूप में कार्यवाहक होते हैं। व्युत्पन्न प्रातिपदिकों में बहुत से कृदन्त, तद्धितान्त तथा समस्त प्रातिपदिकों से बने पद वाक्य के उदाहरण हो सकते हैं। महर्षि पाणिनि ने इस प्रकार के उदाहरणों की प्रक्रिया प्रदर्शित करते हुए एक पद के अन्तर्गत वाक्यसंरचना के सिद्धान्त निरूपित किए हैं। इस प्रकार के कृदन्तों

के उदाहरण किसी पद विशेष के सन्निधान में धातु से कृत् प्रत्यय करने पर बनते हैं। अष्टाध्यायी में कर्मण्यण् ३.२.१ से अन्येष्वपि दृश्यते ३.२.१०१ तक, ईषद्दुःसुषु कृच्छाकृच्छार्थेषु खल् ३.३.१२६ से अन्येभ्योऽपि दृश्यते ३.३.१३० तक एवं विभाषाऽग्रेप्रथमपूर्वेषु ३.४.२४ से अन्वच्यानुलोम्ये ३.४.६४ तक के सूत्रों द्वारा विहित प्रत्यय पदान्तरसन्निधान में ही होते हैं। इसी प्रकार धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः ३.४.१ से समुच्चये सामान्यवचनस्य ३.४.५ तक के सूत्र भी पद में वाक्य की स्थिति को प्रदर्शित करते हैं।

इसी प्रकार बहुत से तद्धितान्त प्रातिपदिकों से बने पद भी वाक्य का ही रूप हैं। इसके प्रमुख उदाहरणों के लिए अष्टाध्यायी सूत्रों को देखते है। जैसे- पौषी पौर्णमासी अस्मिन्- पौषो मासः- यहाँ पर सास्मिन् पौर्णमासीति संज्ञायाम् (4.2.21) इस सूत्र से अण् प्रत्यय हुआ, इन्दो देवता अस्य इति ऐन्द्रं हविः- सास्य देवता (4.2.24) से अण् प्रत्यय हुआ, पङ्क्तिरादिरस्येति पाङ्क्तः प्रगाथः- सोऽस्यादिरितिच्छन्दसः प्रगाथेषु (4.2.55) सूत्र से अण् प्रत्यय, दण्डः प्रहरणमस्यां दाण्डातदस्यां प्रहरणमिति क्रीडायां णः (4.2.57) से ण प्रत्यय, श्येनपातोऽस्यां वर्तते श्यैनंपाता मृगया- घञः सास्यां क्रियेति ञः (4.2.58) से ञ प्रत्यय। इस प्रकार अन्य उदारण भी द्रष्टव्य हैं। समास तो स्पष्टतः अनेक पदों के उदाहरण हैं ही।

अब हम अत्यन्त संक्षेप में आर्थी संरचना के सम्बन्ध में चर्चा करेंगे। आर्थी संरचना पर विचार करते समय सर्वप्रथम यह प्रतिपादनीय हो जाता है कि भाषा, वाक् एवं चित् की अवधारणा जो वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध है उसका बाद की व्याकरणदर्शन परम्परा ने अनुगमन किया है। जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि व्याकरण दर्शन की परम्परा शब्द को अर्थ के साथ सम्पृक्त मानती है। इस स्थिति में यह अवश्य उल्लेखनीय हो जाता है कि यह सम्पृक्त शब्दार्थ की सत्ता चेतना में है जिसे वैयाकरण बुद्धिस्थ शब्दार्थ कहते हैं। जिसे हम बुद्धिस्थ शब्द कहते हैं वह अनिवार्यतः अर्थ सम्पृक्त है। यदि कोई अन्य अर्थ प्रतीति में नहीं आता तो उस शब्द का स्वरूप भी उस शब्द का अपना अर्थ हो जाता है। इस प्रकार व्याकरण दर्शन के अनुसार अर्थ एवं शब्द बुद्धिगत हैं। वाक्य वाक्यार्थ भी बुद्धिगत ही है। इसे ही वैयाकरणों ने स्फोट कहा है। अष्टाध्यायी में अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् सूत्र में प्रयुक्त अर्थवत् शब्द ही शब्द और अर्थ के सम्पृक्ति को प्रतिपादित करता है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में अर्थविषयक विचार प्रमुखतः कारकसम्बन्धी विमर्श में उपलब्ध हैं। महर्षि पतंजलि ने अष्टाध्यायी सूत्रों की व्याख्या करते समय अष्टाध्यायी सूत्रों में बीजरूप में विद्यमान अर्थविषयक विचारों को पल्लवित किया है, जिसका विस्तृत विवेचन करते समय भर्तृहरि ने इन्हें पुष्पित

किया है। महाभाष्यकार ने शब्दार्थ और वस्त्वर्थ में भेद किया है। उन्होंने तो यह भी कहा कि हम वैयाकरणों के लिए शब्दार्थ का अधिक महत्त्व है। भाषाविश्लेषण के प्रसंग में वस्त्वर्थ से हमारा अधिक प्रयोजन नहीं है। किन्तु उन्होंने वस्त्वर्थ की सत्ता का निषेध नहीं किया है। महर्षि पतंजलि ने युक्तिपूर्वक वस्त्वर्थ व्यतिरिक्त शब्दार्थ जिसे बौद्धार्थ या बुद्धिस्थ अर्थ भी कहा जाता है, की सिद्धि की है। इसी आधार पर व्याकरण दर्शन की अपनी दार्शनिक विमर्श की पृष्ठभूमि तैयार होती है, जिसके आधार पर वाक्यपदीय, वैयाकरणभूषण, वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा तथा शब्दार्थतर्कामृतम् जैसे ग्रन्थों में व्याकरण दर्शन के प्रमाण एवं प्रमेय के विषय में एक स्वतन्त्र सिद्धान्त की धारा विकसित होती हुई दिखायी देती है। प्रकृत में हम केवल अर्थविचार तक ही अपने विवेचन को सीमित करेंगे।

अर्थविचार करते समय वैयाकरणों की स्फोट विषयक धारणा का उल्लेख अनिवार्य हो जाता है। यद्यपि स्फोट शब्द का प्रयोग महाभाष्य में किस अर्थ में आया है यह विवाद का विषय हो सकता है किन्तु बुद्धिस्थ शब्द एवं बुद्धिस्थ अर्थ को महाभाष्यकार ने सयुक्ति प्रतिपादित किया है, भर्तृहरि तथा परवर्ती वैयाकरण दार्शनिकों ने इसी के लिए स्फोट शब्द का प्रयोग किया है, यही निर्विवाद है। अतः हम यहां स्फोट शब्द के महाभाष्यस्थ प्रयोग के विवाद में गए विना इस विषय की चर्चा को आगे ले जाते हैं। भर्तृहरि ने वस्तुतः वाक्य एवं वाक्यार्थ दोंनो को ही अखण्ड माना है तथा अखण्ड वाक्य वाक्यार्थ से पद पदार्थ की तथा पदार्थ से प्रकृति प्रकृत्यर्थ एवं प्रत्यय तथा प्रत्ययार्थ को काल्पनिक कहा है[73]। व्याकरण दर्शन के अनुसार वर्णस्फोट बुद्धिस्थ रूप में सबसे छोटी सार्थक इकाई है। इसके अन्तर्गत प्रकृत्यर्थ तथा प्रत्ययार्थ समाहित होते हैं। यहां इसी प्रकार पदस्फोट भी वाक्यस्फोट का काल्पनिक विभाग है। वस्तुतः अखण्ड वाक्यस्फोट ही वास्तविक है। अर्थात् वाक्य से पद तथा पद में प्रकृति प्रत्ययविभाग काल्पनिक हैं और इनके अर्थ भी काल्पनिक हैं। यहां काल्पनिक का तात्पर्य शशशृंग की तरह काल्पनिक नहीं मानना चाहिए अपितु ये वाक्यस्फोट तक अबाध गति के सोपान हैं इतना ही समझना चाहिए।

लोक में शब्द के द्वारा ध्वनि रूप वैखरी वाक् को गृहीत किया जाता है और व्यवहार भी इसी का देखा जाता है अतः इसका ध्वन्यात्मक शब्द के रूप में भाष्यकार ने कथन किया है[74]। किन्तु इस ध्वन्यात्मक शब्द के स्थायी न होने के कारण यह अर्थ के साथ सम्बन्ध को नहीं प्राप्त कर सकता क्योंकि उच्चरित

[73] पदे न वर्णाः विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको क कश्चरन।। (वा. प., ब्रह्म. 73)

[74] प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः। म. भा, पस्पशा.

ध्वन्यात्मक शब्द की सत्ता क्षणात्मिका होती है इस कारण ध्वनिसमुदाय का कभी भी एककालावच्छेदेन श्रवण सम्भव ही नहीं हो पाता। उदाहरण के रूप में यदि 'घटः' इसके उच्चारण क्रम को देखे तो पातें है कि क्रमशः प्रतिवर्ण का उच्चारण करते हैं किन्तु मध्य के काल के अतिन्यून व्यवधान के कारण हमें वह वर्ण समुदाय के रूप में एकसाथ उच्चरित सा प्रतीत होता है किन्तु वहाँ पर क्रमिकता अवश्य विद्यमान रहती है इस कारण हम क्रमशः घकार का उच्चारण अन्तर अकार का अनन्तर टकार का अनन्तर अकार अनन्तर विसर्ग का उच्चारण करते हैं। किन्तु प्रतिध्वनि के क्षणमात्र स्थायि होने के कारण घकार के उच्चारण रूप प्रथम क्षण उत्पत्ति क्षण होता है द्वितीय स्थिति क्षण इसी द्वितीय क्षण में अकार की उत्पत्ति हुई एवं तृतीय क्षण जब प्रथम वर्ण घकार का नाश होता है उसी क्षण में तृतीय वर्ण की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार पूर्व पूर्व वर्ण की नाश एवं उत्तरोत्तर वर्ण की उत्पत्ति के कारण वर्ण समुदाय का ही अभाव हो जायेगा तब वर्णसमुदायरूप शब्द के अभाव के कारण तद्वाचक अर्थ के साथ उसका सम्बन्ध ही असम्भव होगा। इस कारण हमें स्फोटात्मक शब्द को स्वीकार करना पड़ता है और इसी स्फोटात्मक शब्द के साथ अर्थ का वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध स्थिर होता है और यह अर्थ भी बुद्धिस्थ ही होता है जैसा की पूर्व में विवेचन किया गया है। इसी स्फोटात्मक शब्द का अभिव्यञ्जक होने से ध्वन्यात्मक शब्द में भी वाचकता का व्यवहार होता है। इसी कारण उपादान शब्द के द्वारा दोनों प्रकार के शब्द का ग्रहण होता है। अब यहाँ पर यह जानने योग्य है कि यदि स्फोटात्मक शब्द ही अर्थ का वाचक है तो फिर हम ध्वन्यात्मक शब्द में वाचकता का व्यवहार क्यों करते हैं तो इसका समाधान यह है कि जो ध्वन्यात्मक वैखरी वाक् है वह स्फोटात्मक शब्द की अभिव्यक्ति का निमित्त है और उससे अभिव्यक्त होकर ही स्फोटात्मक शब्द अर्थ का बोध करता है। इस प्रकार ध्वन्यात्मक शब्द अभिव्यञ्जक है और स्फोटात्मक शब्द अभिव्यङ्ग्य है किन्तु यह स्थिति वक्ता और श्रोता को उद्देश्य करके बतलाई गई है इसका यह आशय है कि जब वक्ता अर्थबोधनेच्छया शब्द को उच्चरित करता है तब शब्दगत प्रतिवर्ण उच्चरित होते हुए श्रोतृनिष्ठ स्फोट को क्रमशः अभिव्यञ्जित करते हैं एवम् अन्तिमवर्णसहकृत अभिव्यञ्जित श्रोतृनिष्ठ स्फोटात्मक शब्द अर्थ का बोध कराता है यही प्रक्रिया निरन्तर प्रवर्तमान रहती है[75]। यही स्फोटात्मक शब्द वर्ण पद वाक्यात्मक अर्थप्रकरण श्रुतियों का कारण बनता है यह ठीक वैसी ही प्रक्रिया है जैसे जैसे अरणि में स्थित ज्योतिः दिखाई नहीं देती फिर भी घर्षण के अनन्तर

[75] द्वावुपादानशब्देषु शब्दौ शब्दविदो विदुः।
एको निमित्तं शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते।। (वा. प., ब्रह्म. 44)

बहिर्देश में विद्यमान होने वाले प्रकाश की कारण होती है[76]। (यह शब्दोच्चारण की प्रक्रिया एक विशेष क्रम को प्राप्त कर होती इसमें सर्वप्रथम वक्ता के बोलने की इच्छा होती है अन्तर वह बुद्धि द्वारा चिन्तन करता है और जिस अर्थ की अभिव्यक्ति कराना चाहता है पूर्व से बुद्धि में विद्यमान अनेक ज्ञान शब्द और अर्थ में से उस अर्थ के वाचक का निर्धारण करता है इस अर्थ का वाचक यही शब्द है इस प्रकार के निश्चय के अनन्तर वह अविकृत स्फोटात्मक शब्दतत्त्व स्थानकरणादि के अभिघात से उपचित होकर ध्वनि के द्वारा अभिव्यक्त होता है। स्फोटात्मक शब्द यद्यपि पूर्वापरीभूत अवयवों से रहित अर्थात् इस स्फोट में कोई भी अवयव विद्यमान नहीं होते न हीं इसमें कोई क्रम है यह क्रम से सर्वथा रहित है क्योंकि जिसमें अवयव ही नहीं होगे उसमें क्रम कैसे सम्भव होगा क्रम तो अवयव विशिष्ट में ही होता है इस प्रकार यह स्फोट निरवयव अक्रम अखण्ड नित्य व्यापक[77] होते हुई भी नाद या ध्वनि के क्रमवान् होने से उससे अभिव्यक्त होने के कारण क्रमयुक्त तथा भिन्न भिन्न रूपों में प्रतीत होता है किन्तु यह प्रतीति वास्तविक नहीं होती[78] यह उसी प्रकार है जैसे किसी जलयुक्त पात्र में पड़े चन्द्रादि का प्रतिबिम्ब जल की चाञ्चल्यादि क्रिया के कारण चञ्चलादि का अनुसरण करता हुआ प्रतीत होता है वैसे ही स्फोट का अभिव्यञ्जक होने के कारण नादगत क्रमिकत्व वर्णत्व ह्रस्वत्व दीर्घत्वादि धर्म भी उस अखण्ड, अक्रम अभिन्न स्फोट में भासित होने लगते है[79]।

इस प्रकार नादाभिव्यञ्जित स्फोटात्मकपद से तद्वाचक बुद्धिस्थपदार्थोपस्थिति होती है एवं क्रमशः पदार्थों में अन्वय से वाक्यार्थोपस्थिति। इस प्रकार वर्णस्फोट, वर्णसमुदित पदस्फोट, पदसमुदित वाक्यस्फोट ये भेद प्रकल्पित किए जाते हैं वस्तुतः अर्थबोधजनकता वाक्य में ही है वाक्यस्फोट ही मुख्य है इसलिए अखण्डवाक्य स्फोट को अर्थबोध का कारण स्वीकार किया गया है इसके अतिरिक्त पदमात्र से भी अर्थबोध होने के कारण अखण्डपदस्फोट भी स्वीकृत है। इन के क्रमशः वाक्यों में पदों की कल्पना पदों में वर्णों की कल्पना साधुत्वज्ञान के लिए आचार्यों के द्वारा की गई है[80]। आचार्य नागेश भट्ट ने मञ्जूषा में वर्णजातिस्फोट

---

76 अरणिस्थं यथा ज्योतिः प्रकाशान्तरकारणम्।
तद्वच्छब्दोऽपि बुद्धिस्थः श्रुतीनां कारणं पृथक्।। (वा० प०, ब्रह्म० 46)

77 अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः। (वा. प., ब्रह्म. 1)

78 नादस्य क्रमजन्मत्वान्न पूर्वो न परश्च सः।
अक्रमः क्रमरूपेण भेदवानिव जायते। वा. प., ब्रह्म. 48

79 प्रतिबिम्बं यथान्यत्र स्थितं तोयक्रियावशात्।
तत्प्रवृत्तिमिवान्वेति स धर्मः स्फोटनादयोः।। (वा. प., ब्रह्म. 49)

80 पदे न वर्णाः विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च
वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन।। (वा. प., ब्रह्म. 73)

पदजातिस्फोट, वाक्यजातिस्फोट के साथ अष्टविध भेद स्वीकार किये हैं।

भर्तृहरि ने अर्थ तत्त्व पर विचार करते हुए प्रतिभा को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। इसके साथ ही उन्होंने पदार्थ प्रतिपादन के प्रसंग में द्रव्य, गुण, क्रिया, कारक, काल, लिंग, उपग्रह पर भी अर्थतत्त्व की दृष्टि से विचार किया है। प्रकृत लेख में इन सब विषयों का उल्लेखमात्र ही किया जा सकता है। उल्लेखनीय है कि इन विषयों का निरूपण पाणिनि की अष्टाध्यायी में प्रयुक्त इन शब्दों के व्याकरण शास्त्र में क्या अर्थ हैं इसी दृष्टि से किया गया है। अतः भर्तृहरि के विचार जो महाभाष्यमूलक हैं पाणिनि की अष्टाध्यायी की आर्थी संरचना की ही रूपरेखा है।

सङ्केतसूची

1. अष्टा. - अष्टाध्यायी
2. ऋक्. सायण. - ऋग्वेद सायणभाष्य
3. ऋक्. प्रा. - ऋग्वेदप्रातिशाख्य
4. तै. प्रा. - तैत्तिरीयप्रातिशाख्य
5. निरु. - निरुक्त
6. परम. म. - परमलघुमञ्जूषा
7. पस्पशा. - पस्पशाह्निक
8. पा. शि. - पाणिनीय शिक्षा
9. प्रौढ. म. - प्रौढमनोरमा
10. म. भा. - महाभाष्यम्
11. याज्ञ. शि. - याज्ञवल्क्यशिक्षा
12. वा. प. ब्रह्म. - वाक्यपदीयम्
13. वै. भू. - वैयाकरणभूषणसारः
14. शि. सं. - शिक्षासंङ्ग्रह

सन्दर्भग्रन्थसूची

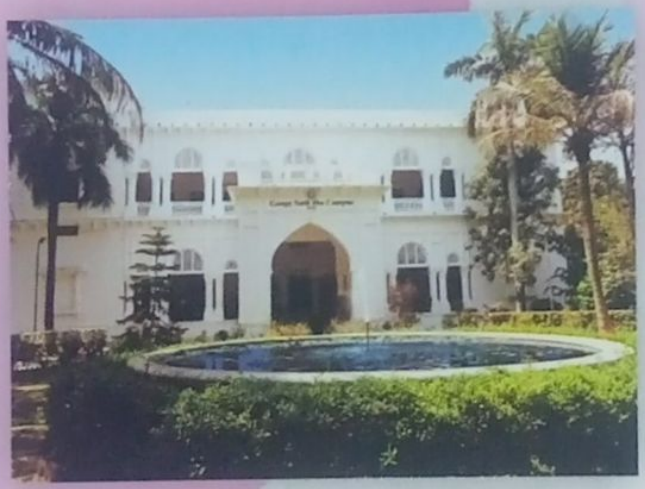
1. अष्टाध्यायी, पाणिनि, सम्पा. श्री गोपालदत्तपाण्डेय, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी 2009
2. ऋग्वेदसंहिता, सायणाचार्यभाष्य सहित, प्रथम भाग, वैदिकसंशोधन मण्डल, तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ
3. ऋग्वेद- प्रातिशाख्यम्, शौनक, उव्वटभाष्यसहित, डा० वीरेन्द्रकुमार शर्मा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली
4. तैत्तिरीयप्रातिशाख्यम्, माहिषेयकृत पदक्रमसदनाख्यभाष्यसहित सम्पा. पण्डित. वे. वेङ्कटरामशर्म्मा, मद्रास विश्वविद्यालय 1930
5. निरुक्तम्, यास्क, दुर्गाचार्यकृत ऋज्वयाख्यव्याख्या तथा शिवदत्तशर्मकृत टिप्पणी सहित, खेमराज कृष्णदास प्रकाशन, मुम्बई 1969
6. परमलघमञ्जूषा, नागेशभट्ट, प्रकाशिका बालबोधिनी टीका सहित, जयशङ्कर लाल त्रिपाठी, कृष्णदास अकादमी वाराणसी 1985
7. पाणिनीयशिक्षा, पाणिनि, त्रिनयना संस्कृत तथा चिन्तामणि हिन्दी व्याख्या सहित, सम्पा. बालकृष्ण शर्मा, आचार्यकुलप्रकाशन 1993

8. प्रौढमनोरमा, भट्टोजिदीक्षित, हरिदीक्षितकृत लघुशब्दरत्न तथा भैरवमिश्रकृत शब्दरत्नप्रकाशिका तथा सभापतिशर्मा उपाध्याय विरचित रत्नप्रभा सहित, सं. पं. श्री चन्द्र शेखर मिश्र, कन्हैया लाल ब्रजभूषणदास संस्कृत पुस्तक भण्डार, वाराणसी 1993
9. महाभाष्यम् (व्याकरणमहाभाष्यम्) पतञ्जलि, सं. नन्दकिशोरशास्त्री, वाराणसी 1938, पुनर्मुद्रण, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली 1999
10. याज्ञवल्क्य शिक्षा, याज्ञवल्क्य, हिन्दी भाष्य, स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक विद्यामार्तण्ड, श्री प्रतापसिंह ट्रष्ट, 57 एल माडल् टाऊन करनाल 1969
11. वाक्यपदीयम्, ब्रह्मकाण्डम्, भर्तृहरि, हरिवृषभकृत स्वोपज्ञवृत्ति एवं पद्मश्रीपण्डित रघुनाथशर्माकृत अम्बाकर्त्रीव्याख्या सहित, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, संस्क. प्रथम, 1988
12. वाक्यपदीयम्, वाक्यकाण्डम्, भर्तृहरि, पुण्याराजकृतटीका एवं पद्मश्रीपण्डित रघुनाथशर्माकृत अम्बाकर्त्रीव्याख्या सहित, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, संस्क. प्रथम, 1980
13. वाक्यपदीयम्, पदकाण्डम्, भर्तृहरि, जातिद्रव्यसम्बन्धसमुद्देशत्रयात्मक एवं भूयोद्रव्यगुणदिक्साधनक्रियाकालपुरुष-संख्या उपग्रहलिङ्गसमुद्देशात्मक, श्री हेलाराजविरचित प्रकाश व्याख्या एवं पद्मश्रीपण्डित रघुनाथशर्माकृत अम्बाकर्त्रीव्याख्या सहित, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, संस्क. प्रथम, 1991
14. वाक्यपदीयम्, पदकाण्डम्, भर्तृहरि, वृत्तिसमुद्देश, श्री हेलाराजविरचित प्रकाश व्याख्या एवं पद्मश्रीपण्डित रघुनाथशर्माकृत अम्बाकर्त्रीव्याख्या सहित, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, संस्क. प्रथम, 1977
15. वैयाकरणभूषणसारः, कौण्डभट्ट, प्रभा दर्पण व्याख्या सहित, श्रीबालकृष्णपञ्चोली, पुनर्मुद्रण, चौखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी 2011
16. शिक्षासंग्रहः, महर्षियाज्ञवल्क्यादिविरचित, सम्पा. आचार्यश्रीरामप्रसादत्रिपाठी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी 1989

Contributors

1. **Kishornath Jha**
   Former HoD, Dept. of Philosophy,
   Rashtriya Sanskrit Sansthan,
   Ganganatha Jha Campus, Prayagraj
2. **Sadashiv Dwivedi**
   Professor, Dept. of Sanskrit,
   Faculty of Arts, Banaras Hindu University, Varanasi
3. **Shobha Mishra**
   Associate Professor, Dept. of Sanskrit,
   VSSD College, Kanpur
4. **Bhagvat Sharan Shukla**
   Professor, Dept. of Vyakarana,
   Faculty of Sanskrit Vidya Dharma Vigyan,
   Banaras Hindu University, Varanasi
5. **Haridutt Sharma**
   Former HoD, Dept. of Sanskrit
   Allahabad University, Prayagraj
6. **Rahas Bihari Dwivedi**
   HoD, Dept. of Sanskrit
   Rani Durgavati University, Jabalpur
7. **Umakant Chaturvedi**
   Professor, Banaras Hindu University, Varanasi
8. **Prabhunath Dwivedi**
   Former Professor, Dept. of Sanskrit,
   Mahatma Gandhi Kashi Vidyapeeth, Varanasi
9. **Pashupatinath Mishra**
   Principal, Hariyana Sanskrit Vidyapeeth,
   Baghaula, Palavalam, Hariyana
10. **Sheetla Prasad Tiwari**
    Research Scholar,
    Rashtriya Sanskrit Sansthan,
    Ganganatha Jha Campus, Prayagraj
11. **Pramod Kumar Sharma**
    Associate Professor,
    Sanskrit and Prachya vidya Adhyayan Sansthan,
    Jawaharlal Nehru University, New Delhi

12. **Pankaj Kumar Sharma**
Research Scholar,
Rashtriya Sanskrit Sansthan,
Ganganatha Jha Campus, Prayagraj
13. **Lalit Kumar Tripathi**
Professor, Dept. of Vyakarana,
Rashtriya Sanskrit Sansthan,
Ganganatha Jha Campus, Prayagraj
14. **Aprajita Mishra**
Assistant Professor, Dept. of Sahitya,
Rashtriya Sanskrit Sansthan,
Ganganatha Jha Campus, Prayagraj
15. **Ravindra Yadav**
Research Scholar,
Rashtriya Sanskrit Sansthan,
Ganganatha Jha Campus, Prayagraj
16. **Rashmi Devi**
Research Scholar,
Rashtriya Sanskrit Sansthan,
Ganganatha Jha Campus, Prayagraj
17. **Monali Das**
Assistant Professor, Dept. of Sahitya,
Rashtriya Sanskrit Sansthan,
Ganganatha Jha Campus, Prayagraj



राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्

(मानितविश्वविद्यालयः)

गङ्गानाथझापरिसरः

चन्द्रशेखर-आजादोद्यानम्

प्रयागराजः 211002